सूर काव्य सौरभ

डा० श्रीभगवान शर्मा

सूर काव्य सौरभ

प्रस्तुत पंक्तियाँ हि० सा० के भ० का० की स० धा० की कृ० भ० शाखा के सर्वश्रेष्ठ सूरदास जी द्वारा विरचित उनके प्रख्यात ग्रन्थ 'सूरसागर' के 'विनय' नामक शीर्षक से उद्धृत की गयी हैं। 'सूरसागर' में मुख्य रूप से भगवान कृष्ण की बाल्यावस्था तथा युवावस्था का मनोहारी चित्रांकन किया गया है तथा उन्होंने निर्गुण भक्ति पर सगुण भक्ति की विजय की घोषणा की है। ~~बालक बाल तथा किशोर कृष्ण~~ बाल एवं युवावस्था का [illegible] विरह, [illegible] तथा [illegible] का वर्णन [illegible] सागर में [illegible] गाया है [illegible]

सूर काव्य सौरभ

[सूर के चुने हुए पद : मूल, व्याख्या एवं आलोचना सहित]

डा० श्रीभगवान शर्मा
एम० ए०, (हिन्दी, संस्कृत तथा भाषा विज्ञान) पी-एच० डी०
हिन्दी-विभाग
सेण्ट जांस कालिज, आगरा
एवं
डा० हरिनारायण यादव
एम० ए० (हिन्दी तथा संस्कृत) पी-एच० डी०
हिन्दी-विभाग
अम्बाह स्नान्तकोत्तर महाविद्यालय
अम्बाह (म० प्रदेश)

महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा—२

प्रकाशक :
महालक्ष्मी प्रकाशन
शहीद भगतसिंह मार्ग, आगरा–२

संस्करण : १९७२–७३

मूल्य : ४·५०

मुद्रक :
अजन्ता प्रिन्टर्स, आगरा
उपाध्याय प्रेस, आगरा

अपनी बात

महाकवि सूरदास हिन्दी-साहित्याकाश के ज्वाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा हिन्दी साहित्य के अक्षय भंडार को भरा है। उनकी अन्य कृतियों की तुलना में सूरसागर का सर्वोपरि महत्व रहा है। इसी ग्रन्थ के आधार पर ही उनकी अक्षय-कीर्ति पताका हिन्दी-साहित्य-संसार में फहरा रही है। प्रारम्भिक कक्षाओं से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक सूर का अध्ययन अध्यापन चलता है। इधर अनुसंधान के क्षेत्र में भी सूर पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है और भविष्य में भी बहुत कुछ लिखे जाने की संभावना है। निश्चय ही सूर के बिना हम चल नहीं सकते हैं। तभी तो किसी आलोचक ने सूर को सूर्य कहा है यथा—'सूर सूर ....।

प्रस्तुत संस्करण में महाकवि सूरदास के ११२ पद सकलित किए गए हैं। ये पद विनय एवं भक्ति, कृष्ण-शैशव, माखन चोरी, गोचारण, वंशी-वादन एवं रूपमाधुरी शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किये गए हैं। पाठ की प्रामाणिकता की दृष्टि से हमने डा० नन्ददुलारे बाजपेयी द्वारा संपादित 'सूरसागर' को ही आधार बनाया है। पाठकों की सुविधा की दृष्टि से इन पदों की सप्रसंग व्याख्या दी गई है साथ ही उनमें अन्तर्निहित काव्यगत सौन्दर्य का भी यथास्थान उद्घाटन कर दिया है जिससे इसकी उपादेयता में वृद्धि हो गयी है। व्याख्या भाग के पश्चात् उत्तरार्द्ध में हमने 'सूर' विषयक प्रश्न एवं उत्तर भी दे दिये हैं ताकि पाठकगण 'सूर' का सम्यक् रसास्वादन कर सकें।

इस पुस्तक की रचना में हमने सूर साहित्य के अनेक सुधी एवं मर्मज्ञ पंडितों की कृतियों का सहारा लिया है, अतः उनके प्रति हम श्रद्धावनत होकर अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते हैं। आशा है पाठकगण के लिए यह रचना उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

विनीत

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी — श्रीभगवान शर्मा

सम्वत् २०२९ वि० — हरिनारायण यादव

विषय-सूची

व्याख्या भाग

आलोचना भाग

मूल पाठ

(मंगलाचरण)

चरन-कमल बंदौं हरि राइ ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौं सब कछु दरसाइ ।।
बहिरौ सुनै गूँग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बंदौं तिहिं पाइ ।।१।।

शब्दार्थ—पंगु गिरि लंघै=लँगड़ा मनुष्य पर्वत को लाँघ जाता है । दरसाइ=दिखाई देता है । रंक=निर्धन । सिर छत्र धराइ=सिर पर मुकुट धारण कर अर्थात् राजा बनकर ।

प्रसंग—अवतरित पद महात्मा सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'विनय' तथा मंगलाचरण का प्रथम पद है । प्रस्तुत पद में कवि ने अपने आराध्य देव के माहात्म्य का वर्णन करते हुए उनकी वन्दना की है ।

व्याख्या—मैं श्रीहरि भगवान् के चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ, जिनकी कृपा से लँगड़ा मनुष्य पर्वत को लाँघ जाता है, अन्धे को सब कुछ दिखाई देने लगता है, बहिरा सुनने लगता है, गूँगा बोलने लगता है और महादरिद्र मनुष्य भी सिर पर मुकुट धारण कर चलने लगता है । मैं सूरदास ऐसे करुणामय स्वामी के चरणों की बार-बार वन्दना करता हूँ ।

विशेष—(क) १. 'चरन-कमल' में रूपक अलंकार है ।
२. मध्य की दो पँक्तियों में विभावना अलंकार है ।
३. बार-बार में पुनरुक्ति प्रकाश ।
(ख) भक्ति-रस है ।
(ग) पंगु, अंधे, बहिरौ, गूंग आदि शब्दों में भाषा की लक्षणा-शक्ति द्रष्टव्य है ।
(घ) प्रस्तुत पद पर संस्कृत के निम्नलिखित श्लोक की छाप है—

मूकं करोति वाचालं, पँगु लँघयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम् ।।

विनय तथा भक्ति

अविगत-गति कछु कहत न आवै ।
ज्यों गूँगै मीठे फल कौ रस अंतरगत हीं भावै ।।
परम स्वाद सब ही सु निरंतर अमित तोष उपजावै ।
मन बानी कौ अगम अगोचर, सो जानै जो पावै ।।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै ।
सब विधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै ।।२।।

शब्दार्थ—अविगत-गति=अनिर्वचनीय निर्गुण ब्रह्म की गति अथवा लक्षण। अमित तोष=असीम आनन्द। अगोचर=इन्द्रिय-ज्ञान से परे। निरालंब=बिना किसी आलम्बन अथवा सहारे के। अगम=अगम्य, जहाँ पर मन, वाणी और ज्ञानेन्द्रियाँ भी पहुँच सकती हैं।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्त-शिरोमणि सूरदास कृत 'सूरसागर' के 'विनय' के पदों में से उद्धृत है। यहाँ पर कवि ने निर्गुण-साधना की दुराराध्यता का प्रतिपादन करते हुए सगुण-भक्ति की सुकरता का मंडन किया है।

व्याख्या—निर्गुण ब्रह्म अविगत और अकथ्य है, इसलिए उसकी गति के विषय में कुछ भी कहते नहीं बनता। निर्गुण-साधना से प्राप्त होने वाला आनन्द साधक को उसी प्रकार आनन्दित करता है जिस प्रकार कि किसी गूँगे पुरुष को मीठे फल का रस। जिस प्रकार किसी गूँगे पुरुष को मीठे फल का रस अन्दर ही अन्दर तो बड़ा अच्छा लगता है पर उस रस द्वारा प्रदत्त आनन्द को वर्णन करने के लिए उसके पास शब्द नहीं होते, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानी के लिए ब्रह्मानन्द परम सुखकर है किन्तु अविगत होने के कारण अनिर्वचनीय है। यह ब्रह्मानन्द परम स्वादिष्ट है (और इसीलिए इसे परमानन्द भी कहते हैं) तथा सभी ब्रह्म-वेत्ताओं को यह परम प्रसाद उत्पन्न करता है। किन्तु वह मन और वाणी के लिए अगम्य है तथा इन्द्रियों की पहुँच से बाहर है, इसलिए उसे कोई भी साधक व्यक्त नहीं कर सकता; हाँ, जो उसे प्राप्त कर लेता है वह उसे जान अवश्य लेता है। पर यह ज्ञानमार्गी निर्गुण-साधना कृपाण की धारा पर चलने के समान हैं क्योंकि जो साध्य रूप-रेखा, गुण, जाति और युक्तियों से रहित है तो फिर आलम्बन किसका लिया जाय ? और साधना के लिए साधक को आलम्बन अवश्य ही चाहिए; और

जब सब साधक निरालम्ब अथवा आलम्बन-हीन है तो वह कहाँ भागता फिरे, किसकी और कैसे साधना करे ? इन सब बातों पर विचार करते हुए लोगों ने अविगत-गति को अगम्य बतलाया है, इसीलिए सूरदास सगुण-साधना-विषयक पदों को गाता है।

विशेष—(क) सूरदास ने निर्गुण ब्रह्म के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया है, अपितु उसकी दुराराध्यता पर ही प्रकाश डाला है। भक्त लोग निर्गुण और सगुण में कोई भेद भी नहीं मानते, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—"अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।" परन्तु दोनों की साधनाओं में अन्तर है—निर्गुण ज्ञान—दुःसाध्य है और सगुण भक्ति—सुसाध्य। ज्ञान निराधार होने के कारण दुःसाध्य है, भक्ति साधार होने के कारण सुसाध्य। इस प्रकार सगुण साधना सर्वसामान्य के लिए सुसाध्य हो सकती है, इसीलिए "बहुजनहिताय" की भावना से प्रेरित होकर ही सूरदास ने सगुण-भक्ति को महत्त्व प्रदान किया है।

(ख) अन्यत्र भी तुलसी ने निर्गुण अर्थात् ज्ञानमार्ग की दुरूहता को व्यक्त करते हुए कहा है—

ज्ञान कै पंथ कृपान कै धारा।
परत खगेश होहिं नहिं बारा॥

(ग) प्रस्तुत पद सूर की तार्किकता का परिचायक है।

(घ) १. कछु कहत, अगम अगोचर, सूर सगुन—में छेकानुप्रास।
२. ज्यों गूँगै……………में उदाहरण अलंकार।

(ङ) शान्त रस।

हरि सौं ठाकुर और न जन कौं।
जिहिं जिहिं विधि सेवक सुख पावै तिहिं विधि राखत मन कौं॥
भूख भए भोजन जु उदर कौं, तृषा तोय, पट तन कौं।
लग्यौ फिरत सुरभी ज्यौं सुत संग, औचट गुनि गृह बन कौं॥
परम उदार, चतुर चिंतामनि, कोटि कुबेर निधन कौं।
राखत है जन की परतिज्ञा, हाथ पसारत कन कौं॥
संकट परैं तुरत उठि धावत, परम सुभट निज पन कौं।
कोटिक करै एक नहिं मानै सूर महा कृतघन कौं॥३॥

शब्दार्थ—ठाकुर=समर्थ स्वामी। तृषा=प्यास। तोय=पानी। सुरभी=कामधेनु, गाय। औचट गुनि=संकट समझ कर। सुभट=रणकुशल योद्धा। पन=प्रण। कृतघन=कृतघ्न, किसी का उपकार न मानने वाला।

प्रसंग—यह भी 'सूरसागर' का 'विनय' का पद है। इसमें भक्त कवि सूर ने अपने आराध्य देव का गुण-कीर्तन किया है।

व्याख्या—सूरदासजी कहते हैं कि भक्त के लिए श्रीहरि के समान समर्थ स्वामी कोई दूसरा नहीं है। श्रीहरि की सामर्थ्य का प्रकाशन करते हुए वे कहते हैं कि जिस-जिस प्रकार सेवक सुख पाता है, उसी प्रकार वे उसके मन को रखते हैं, अर्थात् भगवान् अपने भक्त की सकल मनोवांछाओं की पूर्ति करते हैं। वे उसके क्षुधित होने पर उदर-भरणार्थ भोजन, तृषित होने पर जल तथा शरीर ढँकने के लिए वस्त्र प्रदान करते हैं। वे अपने भक्त की देख-रेख उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार कि गौ अपने बच्चे के ऊपर संकट समझ कर घर और वन दोनों ही स्थानों पर उसके साथ लगी फिरती है। भक्त की मन-चाही बात को पूरी करने वाले होने के कारण ही सूर ने उन्हें 'परम उदार' कहा है। यही नहीं, अपने निर्धन भक्त के लिए वे चार (चतुर) चिन्तामणि और करोड़ों कुबेरों के समान हैं। वे अपने भक्त की प्रतिज्ञा को पूर्ण करने वाले हैं और उसे कण (अन्न) दान करने के लिए हाथ पसारे हुए हैं। अथवा "परम उदार·······कन कौं" पंक्तियों का अर्थ यों भी हो सकता है—वह भगवान् परम उदार एवं चतुर हैं, निर्धन के लिए करोड़ों चिन्तामणियों एवं कुबेरों के समान धन देने वाले हैं, और अपने भक्त का प्रण पूर्ण करने वाले हैं, फिर भी हे मनुष्य! तू दूसरों से अन्न प्राप्त करने के लिए हाथ फैलाता है। भक्त पर संकट पड़ते ही वे तुरन्त उसकी रक्षार्थ उठ भागते हैं और अपने भक्त 'वत्सलता' नामक प्रण की रक्षा करने में वे परम सुभट हैं अर्थात् सब प्रकार से अपने प्रण की रक्षा करते हैं। जो भक्त हैं उनके लिए ही भगवान् सब कुछ नहीं करते, अपितु अभक्तों का भी परम उपकार करते हैं, इस मत की पुष्टि करते हुए कवि कहता है कि भगवान् तो इतने उदार हैं कि उन्होंने मुझ (सूरदास) जैसे कृतघ्न पुरुष के लिए भी अनेक उपकार किए हैं, यद्यपि मैंने उनका तनिक भी एहसान नहीं माना है। अथवा, उन्होंने सूर जैसे कृतघ्न के लिए भी करोड़ों उपकार किए हैं, परन्तु (वे उदार इतने हैं कि) उनमें से किसी भी उपकार को वे उपकार नहीं मानते। अभिप्राय यह है कि प्रभु

परमोपकारी हैं, वे भक्त का बड़ा ही उपकार करते हैं, पर भक्त-वत्सल इतने हैं कि भक्त पर किए गए बड़े-से-बड़े उपकार को भी कुछ नहीं मानते। भक्त के प्रति बड़े-से-बड़ा उपकार कर देने पर भी उन्हें संकोच बना ही रहता है, जैसा कि तुलसी के राम को विभीषण के प्रति संकोच ही बना रहा कि वे उसे कुछ भी नहीं दे सके—

जो सम्पति सिव रावनहिं दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ सम्पदा विभीषनहिं, सकुच दीन्हि रघुनाथ ।।

जब शिव द्वारा प्रदान की गई सम्पत्ति को भी वे अपने भक्त के लिए बहुत थोड़ी समझते हैं, तो फिर भला बताइए कि श्रीनारायण भगवान् (राम और कृष्ण उन्हीं के अवतार हैं) से बढ़ कर भक्त का हितैषी कौन हो सकता है ?

विशेष—(क) 'सूर महा कृतघन' कह कर भक्त ने अपनी हीनता और 'परम उदार' कह कर भगवान् की श्रेष्ठता का वर्णन करना भक्तों का स्वभाव है। भक्त को निरभिमान, दीन और विश्वासयुक्त होना चाहिए। वही निर-भिमानिता, दैन्य और दृढ़ विश्वास इस पद में विद्यमान है।

(ख) १. जिहिं तिहिं—में पुनरुक्ति प्रकाश।
२. तृषा तोय, चतुर चिंतामनि, कोटि कुबेर, कोटिक करै—में छेकानुप्रास।
३. भूख भए भोजन—में वृत्यानुप्रास।
४. लग्यौ फिरत सुरभी ज्यौं सुत संग—में उदाहरण।

(ग) भक्ति रस।

(घ) १. प्रथम दो चरणों का भावसाम्य विनयपत्रिका की इन पंक्तियों से द्रष्टव्य है—

ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।
निज प्रभुता विसारि जन के बस, होत सदा यह रीति ।।

२. 'परम उदार............कृतघन कौं' का भाव साम्य तुलसी के इस पद में देखिए—

जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित पावन जग, केहि अति दीन पियारे ।।

कौने देव बराइ बिरद हित, हठि हठि अधम उधारे।
खग-मृग, व्याध, पषान, विटप जड़, जवन कवन सुर तारे ॥

बड़ी है राम-नाम की ओट।
सरन गऐं प्रभु काढ़ि देत नहिं, करत कृपा के कोट ॥
बैठत सबै सभा हरिजू की, कौन बड़ौ को छोट ?
सूरदास पारस के परसैं मिटति लोह की खोट ॥४॥

शब्दार्थ—कृपा के कोट=कृपा के ढेर। पारस=एक पत्थर जिसके स्पर्श से लोहा सोने में बदल जाता है।

प्रसंग—यह पद 'सूरसागर' के 'विनय' का पद है। इसमें सूरदासजी ने भगवान् के नाम माहात्म्य का प्रकाशन किया है।

व्याख्या—राम-नाम की ओट बहुत बड़ी है, अर्थात् भगवान् के नाम के भरोसे पर रहने से बड़े-से-बड़ा अभीष्ट फल प्राप्त हो सकता है। भगवान् कृपालु हैं, इसलिए वे शरणागत का तिरस्कार नहीं करते अपितु उसके ऊपर असीम कृपा की वृष्टि करते हैं। श्रीहरिजी की सभा में सभी लोग बैठते हैं, वहाँ न कोई बड़ा है, न छोटा। सूरदास कहते हैं कि जिस प्रकार पारस-पत्थर के स्पर्श कर लेने से लोहे का लौहत्व दोष मिट जाता है उसी प्रकार श्री नारायण की कृपा दृष्टि हो जाने से जीव का संसार-दोष छूट जाता है।

विशेष—(क) भक्ति-मार्ग में 'सामीप्य' नामक मोक्ष की अभिलाषा की जाती है। भक्त अपने आराध्य का सामीप्य प्राप्त कर उनका चरण-सेवन करना चाहता है, बूंद और समुद्र की तरह एक रूप नहीं होना चाहता। उनके मतानुसार,

"जैहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की।
बूंदता बिलैहै बूंद बिबस बिचारी की ॥" (उद्धव शतक)

भगवान् का साक्षात्कार होते ही जीव अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है, जैसाकि तुलसी के राम ने घोषित किया है—

"सनमुख होहिं जीव मोहिं जब हीं।
कोटि जनम-अघ नासहुँ तब हीं ॥"

इस प्रकार श्रीहरि-सभा में छोटे-बड़े का कोई प्रश्न ही नहीं रहता, सभी चतुर्भुजाकार होकर समरूप हो जाते हैं; गृद्ध जटायु के चतुर्भुज रूप धारण करने का उल्लेख 'रामचरित मानस' में ही है।

(ख) १. 'सूरदास..........खोट' में अर्थान्तरन्यास अलंकार है।
२. करत कृपा के कोट—वृत्यानुप्रास।
(ग) भक्ति रस है।

सरन गए को को न उबार्‌यौ।
जब जब भीर परी संतनि कौं चक्र सुदरसन तहाँ सँभार्‌यौ॥
भयौ प्रसाद जु अंबरीष कौं, दुरवासा कौ क्रोध निवार्‌यौ।
ग्वालनि हेत धर्‌यौ गोबर्धन, प्रगट इंद्र कौ गर्ब प्रहार्‌यौ॥
कृपा करी प्रहलाद भगत पर, खंभ फारि हिरनाकुश मार्‌यौ।
नरहरि रूप धर्‌यौं करुनाकर, छिनक माँहि उर नखनि बिदार्‌यौ॥
ग्राह ग्रसत गज कौं जल बूढ़त, नाम लेत वाकौ दुख टार्‌यौ।
सूर स्याम बिन और करै को, रंग-भूमि में कंस पछार्‌यौ॥५॥

शब्दार्थ—प्रसाद=प्रसन्नता। प्रहार्‌यौ=संहार किया, दूर किया। नरहरि=नृसिंह भगवान्। नखनि बिदार्‌यौ=नाखूनों से फाड़ डाला। ग्राह ग्रसत=ग्राह (मगर) द्वारा ग्रसे जाने पर।

प्रसंग—यह पद भी सूर के 'सूरसागर' का 'विनय' का पद है। इस पद में कवि की शरणागत-वत्सलता का उल्लेख किया गया है।

व्याख्या—भगवान् की शरण में जाने पर उन्होंने किस-किस की रक्षा नहीं की ? अर्थात् सब की रक्षा की। उनके भक्तों पर जब कभी और जहाँ कहीं भी संकट पड़ा, उसी समय उन्होंने अपने चक्र-सुदर्शन को संभाला है। उदाहरण के रूप में सूरदास ने कुछ शरणागतों की गणना भी की है। भगवान् ने दुर्वासा ऋषि के क्रोध का निवारण किया जिससे कि राजा अम्बरीष को अत्यन्त प्रसन्नता हुई (उनके संकट का निवारण हो गया)। ब्रज के गोपालों की रक्षा के लिए उन्होंने गोवर्धन-गिरि धारण किया और इन्द्र के गर्व को स्पष्ट रूप से चकनाचूर कर दिया। भक्त प्रह्लाद पर जब कृपा की तो उन्होंने खंभे को फाड़ कर हिरण्यकशिपु का वध किया। उन करुणानिधान ने (खंभे को फाड़कर) नृसिंह रूप धारण किया और एक क्षण में ही उसके पेट को अपने नखों से विदीर्ण कर डाला। ग्राह द्वारा ग्रसित होने पर गज जल में डूब रहा था, लेकिन जैसे ही उसने भगवान् का नाम लिया वैसे ही भगवान् ने उसका दुःख दूर कर दिया। सूरदासजी कहते हैं कि रंग-भूमि (युद्ध-स्थल) में कंस को जो पछाड़ा था, उस काम को भी मेरे श्याम के बिना और कौन कर सकता है ?

विशेष—(क) इस पद में अनेक पौराणिक कथाओं की ओर संकेत है, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. **अम्बरीष और दुर्वासा**—भगवान् के परम भक्त राजा अम्बरीष ने एक बार एकादशी व्रत की पारणा करने के लिए दुर्वासा ऋषि को भोजनार्थ निमन्त्रण दिया। पारणा द्वादशी के दिन होनी थी और उस दिन द्वादशी बहुत थोड़ी थी। इधर दुर्वासा ऋषि स्नान करने चले गए। उन्हें आने में इतनी देर हो गई कि द्वादशी के अन्त होने का समय निकट आ गया। राजा अम्बरीष ने ब्राह्मणों की आज्ञा से तुलसी-दल ग्रहण कर लिया। इतने में दुर्वासा भी आ गए और राजा की इस धृष्ठता से क्रोधित होकर उन्हें मारने के लिए एक कृत्या नामक राक्षसी को पैदा किया, जो पैदा होते ही राजा को खाने के लिए दौड़ी। भक्त की इस दुर्दशा को देख कर भगवान् विष्णु ने अपने चक्र सुदर्शन को प्रेरित किया जिसने शीघ्र ही कृत्या का वध कर दुर्वासा का पीछा किया। चक्र के भय से दुर्वासा ऋषि तीनों लोकों में भागते फिरे, किन्तु उन्हें कहीं भी त्राण नहीं मिला। अन्त में उन्होंने आकर राजा अम्बरीष के पैर पकड़ लिये। परम दयालु राजा अम्बरीष ने चक्र का स्तवन कर उसे शान्त किया।

२. **गोवर्धन-धारण**—व्रजवासी गोप प्रति वर्ष इन्द्र की पूजा किया करते थे। श्रीकृष्ण ने इन्द्र-पूजा का निषेध कर गोवर्धन-पूजा का विधान कराया। इस पर इन्द्र ने क्रोधित होकर व्रज के ऊपर सात दिन तक भयंकर वर्षा की, किन्तु कृष्ण ने अपने हाथ की कनिष्ठका पर गोवर्धन पर्वत को धारण कर समस्त गोप-गोपिकाओं को उसके नीचे बुला लिया जिससे उनकी रक्षा हो गयी। अन्त में निराश एवं लज्जित होकर इन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में आया और उनसे अपनी मूर्खता एवं धृष्ठता के लिए क्षमा याचना की।

३. **प्रह्लाद की रक्षा**—भक्त प्रह्लाद हिरण्यकशिपु नामक दैत्य का पुत्र था, जो भगवान् विष्णु का घोर विरोधी था। उसने अपने पुत्र की वैष्णव-भक्ति से अप्रसन्न होकर उसे घोर यातनाएँ दीं और अन्त में उसे एक गर्म खंभे से चिपका कर कहा कि हे दुष्ट! अब बता कि तेरा भगवान् कहाँ है? देखूँ वह तेरी रक्षा कैसे करता है? प्रह्लाद ने शान्त एवं अविचलित भाव से कहा कि हे तात, मेरा भगवान् सर्वत्र विद्यमान है, वह इस खंभे में भी है। प्रह्लाद के इतना कहने भर की देर थी कि खम्भे को फाड़कर उसमें से

भगवान् नृसिंह रूप धारण कर प्रकट हुए। उन्होंने हिरण्यकशिपु को अपनी जंघाओं पर रख कर अपने तीक्ष्ण नखों से उसका पेट फाड़कर अपने प्रिय भक्त प्रह्लाद की रक्षा की।

४. **गजेन्द्र-मोक्ष**—एक बार एक तालाब में एक बड़ा भारी मतवाला हाथी हथिनियों के साथ जल-विहार कर रहा था। इतने में एक ग्राह ने आकर उसका पैर पकड़ लिया। पैर को छुड़ाने के लिए हाथी ने पूरी शक्ति लगा दी, परन्तु वह असफल रहा। दूसरी ओर ग्राह उसे खींचते-खींचते बहुत गहरे जल में ले पहुँचा। तब हाथी ने निराश होकर परम आर्तभाव से 'हरि' शब्द का उच्चारण किया। गज की करुण-पुकार को सुनकर भक्त-भयहारी प्रभु वहाँ शीघ्र ही उपस्थित हुए और अपने चक्र सुदर्शन से ग्राह का शिरच्छेद कर गज का दुःख निवारण किया।

५. **कंस-वध**—कंस मथुरा के राजा उग्रसेन का पुत्र तथा कृष्ण का मामा था। उसे नारद मुनि ने एक बार बतलाया था कि देवकी के गर्भ से उत्पन्न होने वाला आठवाँ पुत्र उसका वध करेगा। इस पर कंस ने वसुदेव और देवकी को बन्दीगृह में डाल दिया और देवकी के गर्भ से उत्पन्न छः सन्तानों का उसने क्रमशः वध कर दिया। सातवें गर्भ में बलरामजी आए जिन्होंने अपने योग-बल से रोहिणी नामक वसुदेव की उपपत्नी के गर्भ में संक्रमण किया। आठवें गर्भ से श्रीकृष्ण का अवतार हुआ। उस दिन अँधेरी रात थी और वर्षा-काल था। वसुदेव ने रातों-रात नवजात शिशु को गोकुल में नन्दगोप के घर पहुँचा कर और उनकी उसी समय पैदा हुई कन्या को लेकर बन्दीगृह में पुनः प्रवेश किया। कंस ने सवेरा होते ही उस कन्या का भी वध किया, किन्तु आकाशवाणी द्वारा उसे ज्ञात हो गया कि उसका शत्रु गोकुल में नन्दगोप के यहाँ सुरक्षित है। उसने कृष्ण और बलराम को मरवाने के लिए अनेक षड्यंत्र किए, किन्तु वह किसी भी षड्यंत्र में सफल न हो सका। अन्त में श्वाफल्क-सुत अक्रूर के बुलावे पर मथुरा जाकर श्रीकृष्ण ने अपने परम शत्रु कंस को केश पकड़कर पछाड़ दिया जिससे उसका प्राणान्त हो गया।

(ख) १. जब जब—में पुनरुक्ति प्रकाश।
२. ग्राह ग्रसत गज—में वृत्यानुप्रास।
३. स्याम बिन—में विनोक्ति।

(ग) भक्ति रस ।

(घ) भगवान् की भक्त-वात्सलता का परिचय विभिन्न पौराणिक कथाओं के संदर्भ में कवि ने दिया है ।

माधौजू, यह मेरी इक गाय ।
अब आज तें आप-आगैं दई, लै आइयै चराइ ।।
यह अति हरहाई, हटकत हूँ बहुत अमारग जाति ।
फिरति बेद-बन-ऊख-उखारति, सब दिन अरु सब राति ।।
हित करि मिलै लेहु गोकुलपति, अपने गोधन माहँ ।
सुख सोऊँ सुनि बचन तुम्हारे, देहु कृपा करि बाहँ ।।
निधरक रहौं सूर के स्वामी, जनम न पाऊँ फेरि ।
मन-ममता रुचि सौं रखवारी, पहिलैं लेउँ निबेरि ।।६।।

शब्दार्थ—गाइ=गाय, माया । हरहाई=हार-हार में दौड़ने वाली, हारैंठ अर्थात् अत्यन्त चंचल । हटकतहूँ=रोकने पर भी । वेद-बन-ऊख=वेद रूपी वन की ईख, अर्थात् वेद के गूढ़ एवं हितकारी वचन । बाहँ देहु= अभयदान दीजिए । निधरक=संशय-रहित, निर्भय । निवेरि=छोड़ना, वसूल करना ।

प्रसंग—यह पद सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'विनय' के पदों में से लिया गया है । यहाँ पर कवि ने माया को गाय का रूपक प्रदान किया है । माया ही साधना-मार्ग में सबसे बड़ी बाधक है, इसलिए भक्त कवि सूरदास ने इस माया रूपिणी गौ से मुक्त होने के लिए ही मायापति गोपाल से विनय की है ।

व्याख्या—सूरदासजी कहते हैं कि हे माधवजी ! यह मेरी एक माया-रूपिणी गाय है । इसे आज से मैंने आपके आगे कर दिया है, अब आप ही इसे चराकर ले आइए । कहने का आशय यह है कि हे भगवान् ! आप गोपाल हैं, इसलिए आप गायों को चराना जानते हैं, इसीलिए मैं भी आपको अपनी गाय दे रहा हूँ । मैं तो इसे चराने में सर्वथा असमर्थ रहा हूँ, क्योंकि यह गाय बड़ी हारैंठ किंवा चंचल है, और बहुत रोकने पर भी कुमार्ग पर चलती है । अभिप्राय यह है कि माया त्रिगुणात्मक होने के कारण सदा चंचल है और वही जीव को सांसारिकता के विषम जाल में बाँधे हुए है । अमार्ग जाने से अभिप्राय माया द्वारा विविध प्रपंचों की सृष्टि करना ही है । कुमार्ग

पर चलती हुई यह वेद-रूपी वन की ईख को उखाड़ती फिरती है, अर्थात् वेद-विहित मर्यादाओं का उल्लंघन कर स्वैर गति से विचरण करती फिरती है और इसका यह क्रम दिन और रात अर्थात् प्रत्येक क्षण का है। किसी भी क्षण यह स्थायी नहीं है। हे गोकुलपति ! यदि आप इसे अपने गोधन में मिला लेंगे, तो यह उनसे प्रेमपूर्वक मिल जाएगी; इसलिए आप इसे अपने गोधन में प्रेमपूर्वक मिला लीजिए और जब आप मुझे इस गाय को चराने का वचन दे देंगे, तो मैं सुख से सो जाऊँगा, अर्थात् परम सौख्य का अनुभव करने लगूँगा, इसलिए मुझे कृपा करके अभयदान दीजिए, जिससे हे सूर (अन्धे) के स्वामी ! मैं संशय एवं भय रहित हो जाऊँ और फिर कभी जन्म न प्राप्त करु सकूँ। प्रश्न यह है कि गाय तो भगवान् चरा देंगे, पर उसकी चराई में तुम क्या दोगे ? इसके उत्तर में सूरदासजी कहते हैं कि आप मेरे मन और ममता को रखवाली अथवा चराई के रूप में पहले ही बड़े प्रेम से वसूल कर लीजिए, अर्थात् मैं अपना मन और ममता भी आपको समर्पण किए देता हूँ।

विशेष—(क) "मेरी गाइ" से अभिप्राय जीवगत अज्ञान अथवा माया के व्यष्टिगत रूप से है जो जीव के बन्धन का कारण है। जीव ईश्वर का अंश है और माया की व्यष्टि उसकी समष्टि का ही अंग है। ईश्वर समष्टि का अध्यक्ष होने के कारण ही गोपाल है। जीवगत व्यष्टि जब समष्टि में मिल जाती है तो जीव स्वतंत्र हो जाता है और वह जन्म-मरण-भय से सर्वथा विमुक्त हो जाता है। पर ऐसा होता है ईश्वर की कृपा, पुष्टि अथवा अनुग्रह से ही, इसीलिए सूर ने ईश्वर की कृपा की कामना की है जो पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है।

(ख) १. "गाइ" में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।
   २. "बेद-बन" में रूपक है।
   ३. अनुप्रास की छटा।

(ग) भक्ति रस है।

(घ) आगे देना, बाँह देना—आदि मुहावरों का काव्यात्मक प्रयोग।

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं॥
या देही कौ गरब न करियै, स्यार-काग-गिधि खैहैं।
तीननि मैं तन कृमि, कै बिष्टा, कै ह्वै खाक उड़ैहैं॥

कहँ वह नीर, कहाँ वह सोभा, कहँ रँग-रूप दिखैहैं।
जिन लोगनिसौं नेह करत है, तेई देखि घिनैहैं॥
घर के कहत सबारे काढ़ौ, भूत होइ धरि खैहैं।
जिन पुत्रनिहिं बहुत प्रतिपाल्यौ, देवी-देव मनैहैं॥
तेई लै खोपरी बाँस दै सीस फोरि बिखरैहैं।
अजहूँ मूढ़ करौ सतसंगति संतनि मैं कछु पैहैं॥
नर-बपु धारि नाहिं जन हरि कौं, जम की मार सो खैहैं।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु, बृथा सुजनम गवैंहै॥७॥

शब्दार्थ—मन पंछी=मन रूपी पक्षी। तन-तरुवर=शरीर रूपी श्रेष्ठ वृक्ष। क्रमि=कीट। घिनैहैं=घिन करने लगते हैं। सवारे=जल्दी। नर-बपु=मनुष्य का शरीर। जन=भक्त।

प्रसंग—प्रस्तुत पद महाकवि सूरदास के 'सूरसागर' के 'विनय' नामक शीर्षक से अवतरित है। इस पद में कवि ने हरि-भजन की अपरिहार्यता और मानव-जीवन की क्षण-भंगुरता का विवेचन किया है।

व्याख्या—संसारी जीवों को प्रबोध करते हुए महात्मा सूरदासजी कहते हैं कि जिस दिन यह मन-रूपी पक्षी उड़ जाएगा उस दिन तुम्हारे शरीर-रूपी वृक्ष के सभी पत्ते झड़ जाएँगे, अर्थात् उस दिन तेरा शरीर निष्प्राण हो जाने के कारण निष्प्रभ हो जाएगा। इस शरीर का गर्व मत करो, इसे तो एक दिन स्यार, कौए और गिद्ध खाएँगे। अरे प्राणियों! तुम्हारे शरीर क्रमि, विष्ठा या खाक इन तीनों में से या तो क्रमि (कीट) हो जाएँगे अर्थात् सड़ जाएँगे और उनमें कीड़े पड़ जाएँगे, या विष्ठा बन जाएँगे अर्थात् सिंह आदि हिंस्र पशुओं द्वारा खा लिए जाने पर उनकी वीट के रूप में बदल जाएँगे, अथवा दाह-संस्कार कर दिए जाने पर भस्म होकर उड़ जाएँगे। कहने का अभिप्राय यह है कि इस शरीर का विनाश अवश्यम्भावी है, इसलिए उसके ऊपर गर्व नहीं करना चाहिए। मन-रूपी पक्षी के उड़ जाने के बाद फिर वह नीर अथवा चेहरे की रौनक कहाँ, वह शोभा कहाँ, और कहाँ दिखाई देने लगे वे रूप-रंग (जो जवानी में थे)? अरे प्राणी! जिन लोगों से तू स्नेह करता रहा है, वे ही लोग तेरे शरीर को देखकर घृणा करेंगे। तब तो घर के लोग ही यह कहने लगते हैं कि इस लाश को जल्दी निकालो, अन्यथा यह भूत होकर पकड़कर खा जाएगा। जिन पुत्रों का बड़े लाड़-प्यार से लालन-पालन किया

और जिनके लिए अनेक देवी-देवताओं की मनौतियाँ की थीं, वे ही पुत्र (कपाल क्रिया से नाम पर) खोपड़ी में बाँस देकर सिर फोड़कर बिखरा देते हैं। इसलिए हे मूढ़ ! अभी सत्संगति करो, सन्तों की संगति करने पर ही कुछ प्राप्त कर सकोगे। जो लोग मानव-शरीर धारण कर भी भगवान् के भक्त नहीं हैं अर्थात् भगवद्भक्ति नहीं करते हैं वही यम की मार खाते हैं अर्थात् यम-यातनाएँ सहन करते हैं। सूरदासजी कहते हैं कि ऐसे लोग तो भगवान् का भजन किए बिना व्यर्थ ही जन्म गँवा देते हैं।

विशेष—(क) इस पद में सांसारिक सम्बन्धों को असत्य बतलाकर मानव शरीर की नश्वरता का बोध कराते हुए महात्मा सूरदास ने संसार से विरक्त होकर सत्संगति और हरि-भजन करने का उपदेश दिया है।

(ख) १. 'मन-पंछी' और 'तन-तरुवर' में रूपक अलंकार है।
२. चतुर्थ पंक्ति में संदेह।
३. अनुप्रास की छटा।

(ग) शान्तरस है।

(घ) भावसाम्य के लिए विनय पत्रिका का यह पद उद्धृत किया जा सकता है—

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु, करम वचन अरु ही ते।
सहसबाहु, दसवदन आदि नृप बचे न काल बली ते।
हम-हम करि धन धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते।
सुत वनितारि जानि स्वारथरत न करु नेह सबही ते।
अंतहु तोहि तजेंगे पामर ! तू न तजै अबही ते।
अब नाथहिं अनुराग, जागु जड़ त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, विषय भोग बहु घी ते।।

हृदय की कबहुँ न जरनि घटी।
बिनु गोपाल बिथा या तन की कैसै जाति कटी।
अपनी रुचि जित ही जित ऐंचति इंद्रिय-कर्म-गटी।
हौं तितहीं उठि चलत कपट लगि, बाँधे नैन-पटी।

झूठौं मन, झूठी सब काया, झूठी आरभटी।
अरु झूठनि के बदन निहारत मारत फिरत लटी।
दिन दिन हीन छीन भइ काया दुख-जंजाल-जटी।
चिन्ता कीन्हें भूख भुलानी, नींद फिरति उचटी।
मगन भयौ माया-रस लंपट, समुझत नाहिं हटी।
ताकैं मूँड़ चढ़ी नाचति है मीचऽति नीच नटी।
किंचित स्वाद स्वान-वानर ज्यौं, घातक रीति ठटी।
सूर सुजल सींचियै कृपानिधि, निज जन चरन तटी ॥८॥

शब्दार्थ—बिथा=व्यथा, दुःख। इंद्रिय-कर्म-गटी=इन्द्रिय और कर्मों का समूह। नैन-पटी=नेत्रों पर पट्टी। आरभटी=कर्म-संचय। हीन छीन= निकृष्ट और दुर्बल। दुख-जंजाल-जटी=दुःख के प्रपंचों से युक्त। उचटी= अस्थिर, अनियमित। हटी=हठी, जिद्दी। मीचऽति नीच नटी=मृत्यु रूपी अत्यन्त नीच नटी। किंचित=थोड़ा-सा। घातक=मारने वाला। चरन-तटी =चरण-तल।

प्रसंग—अवतरित पद्यांश महाकवि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'विनय' नामक शीर्षक से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में भक्त कवि ने संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हुए अपने हृदयवर्ती त्रिविध-संतापों के शमनार्थ कृपानिधान भगवान् श्रीकृष्ण के कृपा-वारि की आकांक्षा व्यक्त की है।

व्याख्या—हृदय की जलन का कभी अन्त नहीं हुआ। बिना श्रीगोपाल के इस शरीर की व्यथा कैसे दूर हो सकती है? आशय यह है कि सांसारिकता के बन्धन में रहते समय प्राणी का चित्त सर्वदा त्रिविध तापों—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—से आक्रान्त बना रहता है। ये त्रिविध ताप ही महा दुःख हैं, और इस महादुःख के अत्यन्ताभाव को ही परमपद-प्राप्ति की संज्ञा दी जाती है। पर यह परमपद-प्राप्ति ईश्वर की कृपा के अभाव में कदापि संभव नहीं है, इसीलिए सूरदास ने यह स्वीकार किया है कि शरीर का दुःख बिना गोपाल की आराधना किए कभी नहीं कट सकता। ये इन्द्रियाँ और कर्मों के समूह मुझे अपनी रुचि के अनुसार जिस-जिस ओर खींचते हैं, मैं उधर ही आँखों पर पट्टी बाँधकर (अन्धा होकर) कपट-पूर्ण व्यवहार करने के लिए उठ चलता हूँ। कहने का अभिप्राय यह है कि जीव को जाति (जन्म),

आयु, भोग प्रदान करने में हेतु उसके कर्मों का समूह ही है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँच विषय हैं जिनका भोग इन्द्रियों के माध्यम से होता है। इन्द्रियाँ प्रमथनशील एवं चंचल हैं; वे सदा विचरणशील रहती हैं। इन विचरणशील इन्द्रियों में से जिस किसी भी इन्द्रिय का मन के द्वारा अनुकरण किया जाता है, तो वे मनुष्य की बुद्धि को अपनी ओर उसी प्रकार आकृष्ट कर लेते हैं, जिस प्रकार कि समुद्र के अन्दर वायु नौका को अपनी ओर खींचता है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नाविमिवाम्भसि ।। (गीता० २।६७)

वस्तुस्थिति यह है कि यह संसार माया का प्रपंच होने के कारण मिथ्या है, इसलिए मन असत्य है, शरीर एकदम असत्य है, सांसारिक कर्म-भोग असत्य हैं और स्त्री-पुत्र आदि असत्य पदार्थों का मुख देखता हुआ मनुष्य मारा-मारा फिर कर लट जाता है अर्थात् पुरुषार्थ से वंचित हो जाता है। इन मिथ्या प्रपंचों का अनुकरण करते-करते काया दिन प्रतिदिन क्षीण होती चली गई और दुःख-जंजालों में फँसती चली गई। सांसारिक पदार्थों की चिन्ता करने पर भूख-प्यास लुप्त हो गई और नींद हराम हो गई। हे लम्पट! तू तो माया के मिथ्या आनन्द में मग्न हो गया है और हठी इतना है कि अब भी यथार्थ को नहीं समझता। इस माया-रस में लीन होने के दुष्परिणाम-स्वरूप ही तो मृत्यु रूपी नीच नटी सिर पर चढ़ी हुई नृत्य करती है। अभिप्राय यह है कि जब तक प्राणी सांसारिक भोगों में आसक्त रहता है, तब तक उसे मृत्यु का भय सदा संत्रस्त किए रहता है। ये सांसारिक भोगों के स्वाद अत्यन्त तुच्छ होने के कारण हमारा विनाश करने वाले हैं। जिस प्रकार कुत्ते और वानर अपनी उदर-पूर्ति के लिए जगह-जगह पर अपमानित होते रहते हैं। उसी प्रकार इन सांसारिक भोगों का आस्वादन करने वाला अपने परम पुरुषार्थ से च्युत होता रहता है। इसलिए सूर की प्रार्थना है कि हे कृपानिधे! अपने चरणों के कृपा-जल से इस भक्त के हृदय को सींचिये जिससे कि उसकी जलन शान्त हो जाय।

विशेष—(क) पुष्टिमार्गियों का यह दृढ़ विश्वास है कि सांसारिक प्रपंचों से मुक्त हो कर परम-सिद्धि प्राप्त करने के लिए ईश्वर की कृपापूर्ण करुणा की परमावश्यकता है, इसीलिए सूर ने उनकी कृपा की अपेक्षा की है।

(ख) १. 'बिनु गोपाल……कटी' में विनोक्ति अलंकार।
२. 'दिन दिन' में पुनरुक्ति प्रकाश।
३. 'किंचित स्वाद स्वान-वानर ज्यौं' में उपमाअलंकार।

(ग) शान्तरस है।

(घ) प्रथम दो चरणों का भावसाम्य मिलाइए—
माधव असि तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि भरिय, तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया

अबकैं नाथ, मोहिं उधारि।
मगन हौं भव—अंबुनिधि मैं, कृपासिंधु मुरारि।
नीर अति गंभीर माया, लोभ-लहरि तरंग॥
लिए जात अगाध जल कौं, गहे ग्राह अनंग।
मीन इंद्री तनहिं काटत, मोट अघसिर भार॥
पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह सिवार।
क्रोध-दम्भ-गुमान-तृष्ना पवन अति झकझोर॥
नाहिं चितवन देत सुत-तिय, नाम-नौका-ओर।
थक्यौ बीच बिहाल, बिह्वल, सुनौ करुना-मूल॥
स्याम, भुज गहि काढ़ि लीजै, सूर ब्रज कैं कूल॥६॥

शब्दार्थ—उधारि=उद्धार करो। मगन हौं=डूबा हुआ हूँ। भव-अम्बुनिधि मैं=संसार रूपी समुद्र में। अनंग=कामदेव। मोट=वस्त्र, भारी रस्सी। अघ=पाप। मोह सिवार=मोह रूपी शैवाल। दम्भ=पाखण्ड। गुमान=गर्व। तृष्णा, सांसारिक भोगों की उत्कट अभिलाषा। बिहवल=बेचैन। कूल=किनारा।

प्रसंग—प्रस्तुत पद महाकवि सूरदास-विरचित 'सूरसागर' के 'विनय' नामक प्रसंग से लिया गया है। इस पद में कवि ने अपनी दीनता एवं असमर्थता व्यक्त करते हुए सर्व समर्थ भगवान् से अपने उद्धार के लिए प्रार्थना की है।

व्याख्या—भक्त की प्रार्थना है कि हे नाथ ! अबकी बार मेरा उद्धार कर दीजिए। 'अबकैं' अर्थात् अबकी बार शब्द का अभिप्राय यह है कि ८४ लाख योनियों में भ्रमण करने के अनन्तर अबकी बार मुझे मानव-शरीर प्राप्त हुआ है जिसको तुलसीदास ने "साधन-धाम बिबुध-दुर्लभ-तनु" कहा है। मानव-

शरीर प्राप्त कर लेने के अनन्तर यदि जीव का उद्धार नहीं हो सका, तो उसे पुनः चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, इसीलिए सूरदास ने अपना परम दैन्यभाव प्रदर्शित करते हुए अपने उद्धार के लिए प्रार्थना की है। हे कृपासागर मुरारे ! मैं संसार रूपी समुद्र में मग्न हूँ। जिसमें मायारूपी अत्यन्त गहरा जल तथा लोभ की लहरें ही तरंगें हैं। इस संसार-रूपी समुद्र में कामदेव रूपी ग्राह पकड़ कर मुझे अगाधजल में लिए जाता है। इन्द्रियरूपी मछलियाँ शरीर को काटती हैं (विषय-विकार से दूषित करती हैं), मेरे सिर पर पापरूपी मोट (चरस) का भार है, जिसके कारण मैं मोहरूपी शैवाल में उलझ कर इधर-उधर पैर नहीं रखने पाता, अर्थात् कल्याण-मार्ग की ओर प्रवृत्त नहीं होने पाता। यही नहीं, इस भव-सागर में क्रोध, दम्भ, गर्व और तृष्णा रूपी पवन अत्यन्त झकझोरता है। ऐसी विषम परिस्थितियों में तो श्रीमन्नारायण का नाम ही नौका है, पर उस नाम रूपी नौका की ओर पुत्र-दारादिक दृष्टिपात नहीं करने देते। कहने का आशय यह है कि जीवन भर पुत्र-वनितादिकों के भरण-पोषण में ही ममत्व दिखाते रहने से राम-नाम लेने की कभी फुर्सत ही नहीं हो पाती है। इसलिए हे करुणा-कारण श्याम ! मैं मंझधार में थक कर बेचैन एवं विह्वल हो गया हूँ। अब तो इस सूरदास को बाँह पकड़ कर अपने ब्रज के किनारे पर निकाल लीजिए।

विशेष—(क) संसार को 'भवसागर' कहा जाता है। उसी भव-सागर का रूपक द्वारा सूरदास ने चित्रण किया है, अतः यहाँ पर सांगरूपक अलंकार है।

(ख) संसार-समुद्र की कल्पना सन्तों को अत्यन्त प्रिय है, तुलसी के संसार-सागर में—

"विषय-वारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
तातैं सहौं विपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक॥"

सूर की तरह तुलसी द्वारा प्रतिपादित ग्राह (मकर) भी बड़ा भयंकर है—

"रबिकर-नीर बसै अति दारुन मकर-रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं॥"

इस प्रकार संसार की भयानकता का प्रतिपादन करने के माध्यम से इन भक्त कवियों ने संसार से विरक्ति एवं हरिनाम-कीर्तन में प्रवृत्ति के लिए उपदेश दिया है।

(ग) भक्ति का दैन्यभाव प्रदर्शित किया गया है।

माधौजू, मन हठ कठिन पर्यौ ।
जद्यपि विद्यमान सब निरखत, दुःख शरीर भर्यौ ॥
बार-बार निस-दिन अति आतुर, फिरत दसौं दिसि धाए।
ज्यौं सुक सेमर-फूल बिलोकत, जात नहीं बिनु खाए ॥
जुग-जुग जनम मरन अरु बिछुरन, सब समुझत मत-भेव ।
ज्यों दिनकरहिं उलूक न मानत, परि आई यह टेव ॥
हौं कुचालि मति-हीन सकलविधि, तुम कृपालु जगजान ।
सूर मधुप निसि कमल-कोष-बस, करौ कृपा-दिन-भान ॥१०॥

शब्दार्थ—विद्यमान=दृश्यमान प्रपंच । सुक=तोता । भेव=भेद । दिनकरहिं=सूर्य को । उलूक=उल्लू । टेव=आदत । कुचालि=दुराचारी । कृपा-दिन-भान=कृपा रूपी दिन का प्रकाश ।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास-प्रणीत 'सूरसागर' के 'विनय' नामक शीर्षक से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में कवि ने अपनी दीन-हीन दशा का वर्णन करते हुए ईश्वर की कृपा-दृष्टि की आकांक्षा व्यक्त की है।

व्याख्या—हे माधवजी ! मेरा मन कठिन हठ में पड़ गया है, अर्थात् सांसारिक भोगों के दुष्परिणामों को समझते हुए भी बलात् उनकी ओर आकृष्ट होता रहता है। यद्यपि यह इस दृश्यमान प्रपंच के विषय में सब जानता है (कि यह दुःख का मूल कारण है), फिर भी वह शरीर को दुःख-संकुल किए रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि मन यह समझता है कि यह सकल स्थूल-सूक्ष्म प्रपंच मायाकृत होने के कारण परमार्थ नहीं है, तथापि वह उसकी ओर आकृष्ट होता ही रहता है। जिस प्रकार तोता सेंमर के फूल को देख (समझ) लेता है अर्थात् उसके वस्तु-तत्त्व को जान लेता है फिर भी वह उसे खाए बिना नहीं जाता, उसी प्रकार यह मन भी दिन-रात अति आतुर होकर सभी विषयों की ओर बार-बार दौड़ता फिरता है। युग-युगान्तर में होने वाले जन्म, मरण और परमात्मा से आत्मा के बिछोह इन सबके विषय में वह अच्छी तरह जानता है, फिर भी मतभेद युक्त है; अर्थात् उपर्युक्त सभी बातों को जानता हुआ भी मानता नहीं है, सदा संशयालु रहता है। उसकी आदत तो उल्लू की सी बन गई है कि जिस प्रकार उल्लू सूर्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता अर्थात् दिन को ही रात समझकर गिरि-कोटर में छिपा

रहता है, उसी प्रकार यह मन भी परम-प्रकाशमय परम ब्रह्म के अस्तित्व के विषय में संशय-सहित है। हे प्रभो ! मैं दुराचारी और सब प्रकार से क्षुद्र-बुद्धि हूँ, किन्तु आपको संसार 'कृपालु' के नाम से जानता है। इसलिए हे कृपालो ! यह सूर रूपी भौंरा अज्ञान की निशा में कमल-कोष के वशीभूत हो गया है, उसके ऊपर अपने कृपा रूपी दिन का प्रकाश कर दीजिए।

विशेष—(क) १. 'सेंमर-फूल' का उदाहरण संसार के मिथ्यात्व-वर्णन में ही दिया जाता है। सेंमर का फूल लाल रंग का बड़ा ही सुन्दर फूल होता है। उसे तोता भ्रमवश खाद्य पदार्थ समझकर उसकी ओर आकृष्ट होता है और ज्यों ही उसमें चोंच मारता है, त्यों ही उसमें से रुई निकल पड़ती है जिसे देखकर वह दुःखी हो जाता है। ठीक यही बात सांसारिक विषय-भोगों के ऊपर लागू होती है। कबीर के शब्दों में—

"ऐसा यहु संसार है जैसा सेंमरि फूल।
दिन दस के ब्यौहार में झूठे रंग न भूलि ॥"

२. 'मधुप निसि कमल-कोष' में 'मधुप' शब्द जीव का, 'निसि' अज्ञान का और 'कमल-कोष' अन्नमयादि पंचकोषों का प्रतीक है। आदि अविद्या के अन्धकार से आवृत होने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप के विषय में मोह-युक्त हो जाता है तथा अज्ञान के पञ्च कोषों—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—से आच्छादित होने के कारण वह सांसारिकता में बँध जाता है। ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान का निवारण हो जाने पर जीव को सूर्य के प्रकाश की तरह सब कुछ प्रत्यक्ष हो जाता है, जैसा कि श्रीमद्भागवद्गीता का वचन है—

"ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ (गीता ५।१६)

(ख) १ 'बार-बार' और 'जुग-जुग' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।
२. 'ज्यों सुक..........बिनु खाए तथा 'ज्यों दिनकरहि........
........टेव' में उदाहरण अलंकार है।
३. 'हौं कुचालि.......जग जान' में अन्योन्य अलंकार है।
४. 'सूर मधुप' तथा 'कृपा-दिन-भान' में रूपक है।
५. 'निसि' तथा' कमल-कोष में रूपकातिशयोक्ति है।

(ग) शान्त रस है।

कीजै प्रभु अपने बिरद की लाज।
महापतित, कबहूँ नहिं आयौ, नैकु तिहारैं काज।
माया सबल धाम-धन-बनिता बाँध्यौ हौं इहिं साज।
देखत-सुनत सबै जानत हौं, तऊ न आयौ बाज।
कहियत पतित बहुत तुम तारे, स्रवननि सुनि अवाज।
दई न जाति खेवट उतरारि, चाहत चढ्यौ जहाज।
लीजै पार उतारि सूर कौं महाराज ब्रजराज।
नई न करन कहत प्रभु, तुम हौ सदा गरीब-निवाज ॥१॥

शब्दार्थ—बिरद=बड़प्पन। महापतित=अत्यन्त नीच। तऊ न आयौ बाज=फिर भी नहीं माना। कहियत=कहते हैं, कहा जाता है। खेवट=कैवर्त, मल्लाह। गरीब-निवाज=दीनदयालु।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'विनय' के पदों में से लिया गया है। इस पद में कवि ने अपनी दीन-हीनता प्रकट करते हुए भगवान् से अपने उद्धारार्थ विनय की है।

व्याख्या—हे प्रभो! अपने बिरद की लाज रखिए। भगवान् का बिरद है पतित-पावन, इसी बिरद की लाज रखने के लिए निवेदन करता हुआ भक्त कहता है कि मैं पतित ही नहीं, महापतित हूँ और आपके काम तो मैं बिल्कुल भी नहीं आया अर्थात् जीवन में आपका भजन करने का मैंने कोई भी समय नहीं निकाला। मुझे तो अत्यन्त बलवती माया ने धाम, धन और स्त्री के माध्यम से बन्धन में डाल दिया है। यद्यपि अपनी आँखों से देखने तथा शास्त्र एवं पंडितों के वचनों का श्रवण करने से मैं इन धामादि सबको जानता हूँ (कि ये मिथ्या हैं, धोखे की टट्टियाँ हैं), फिर भी मैं बाज नहीं आता, उन्हीं में लिप्त रहता हूँ। कहते हैं कि आपने बहुत-से पतितों का उद्धार किया है, ऐसी आवाज को मैंने अपने कानों से सुन लिया है (इसलिए मुझे यह विश्वास हो गया है कि आप मेरा भी उद्धार करेंगे)। मुझसे नाविक की उतराई नहीं दी जा सकती और मैं जहाज पर चढ़ना चाहता हूँ, इसलिए हे महाराज ब्रजराज! इस सूर को पार उतार लीजिए। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सिन्धु पार करने के अभिलाषी महादरिद्र के पास उतराई देने के लिए एक कौड़ी भी नहीं होती, उसी प्रकार भव-सिन्धु पार करने के अभिलाषी मुझ महापतित के पास एक भी सत्कर्म नहीं है; ऐसी स्थिति में तो पतित-

पावन महाराज श्री ब्रजराज ही मेरे ऊपर अनुग्रह करते हुए मुझे भवसागर से पार कर सकते हैं। परन्तु हे प्रभो ! मैं आपसे कोई नई बात करने के लिए नहीं कह रहा हूँ, आप तो सदा के दीन-दयालु हो। दीनों पर अनुग्रह करना आपका सनातन व्रत है और मैं परम दीन हूँ इसलिए मेरे ऊपर अनुग्रह करना आपके लिए कोई बात नहीं है।

विशेष—(क) भक्तों का विश्वास है कि भगवान् दीनदयालु एवं पतित-पावन हैं। इस प्रकार पतितपावन, दीनदयालु, गरीब-निबाज आदि भगवान के बड़े नाम हैं। तुलसी के शब्दों में—

"बिरद गरीब-निवाज राम को।
गावत वेद-पुरान, संभु-सुक, प्रगट प्रभाउ नाम को।।" इत्यादि (विनय ९९)

भगवान् इतने दयालु हैं कि वे अपने भक्तों के अघ-अवगुणों पर कभी ध्यान न देकर अपने पतित से पतित भक्त का भी उद्धार करते हैं, प्रमाण-रूप में तुलसी की ही निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धरणीय है—

"जौ जगबिदित पतितपावन, अतिबाँकुर बिरद न बहते।
तौ बहुकलप कुटिल तुलसी से, सपनेहुँ सुगति न लहते।।" (विनय ९७)

(ख) भक्त का दैन्य-भाव दर्शनीय एवं मार्मिक है।

(ग) पद की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है जिसमें बाज (बाज), आवाज (आवाज़) और गरीब-निवाज जैसे विदेशी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

(घ) 'कहियत पतित बहुत तुम तारे'—से कवि ने भगवान् के भक्त वत्सल एवं भक्तोद्धारक रूप की ओर इंगित किया है। प्राकारान्तर से गणिका गीध, अजामिल आदि पापियों के उद्धार का उल्लेख कवि ने यहाँ किया है।

(ङ) १—स्रवननि सुनी, चाहत चढ़यौ में—छेकानुप्रास।
२—सम्पूर्ण में अनुप्रास।

माधौ जू, जौ जन तैं बिगरै।
तउ कृपाल, करुनामय केसव, प्रभु नहिं जीय धरै।
जैसैं जननि जठर अंतरगत सुत अपराध करै।
तौऊ जतन करै अरु पोषै, निकसैं अंक भरै।
जद्यपि मलय-बृच्छ जड़ काटै, कर कुठार पकरै।
तऊ सुभाव न सीतल छाँड़ै, रिपु-तन-ताप हरै।

घर बिधंसि नर करत किरषि हल, बारि, बीज बिथरै।
सहि सन्मुख तउ सीत-उष्न कौं सोई सुफल करै।
रसना द्विज दलि दुखित होति बहु, तउ रिस कहा करै।
छमि सब छोभ जु छाँड़ि छवौ रस, लै समीप सँचरै।
कारन-करन दयालु दयानिधि, निज भय दीन डरै।
इहि कलिकाल-ब्याल-मुख-ग्रासित सूर सरन उबरै ॥१२॥

शब्दार्थ—जौ=यद्यपि। बिगरै=अपराध बन जाता है। तउ=तथापि। नहिं जीय धरै=ध्यान नहीं देते। जननि जठर अंतरगत=माता के पेट (गर्भ) के अन्दर। पौषै=पोषण करती है। निकसैं=(गर्भ से बाहर) निकलने पर। अंक=गोद। मलय-बृच्छ=चन्दन का वृक्ष। कुठार=फरसा, कुल्हाड़ी। रिपु-तन-ताप हरै=शत्रु (काटने वाले) के शरीर के ताप (गर्मी) को दूर करता है। धर=पृथ्वी। बिधंसि=विध्वंस करके, चीर करके। किरषि= कृषि, खेती। बिथरै=फैलाता है। सुफल करै=सुन्दर फल उत्पन्न करती है। रसना=जीभ। द्विज=दाँत। दलि=दलित होकर। छमि=क्षमा करके। छोभ=क्षोभ। छवौ रस=छः रस—कटु, अम्ल, लवण, तिक्त, कषाय, मधुर। कारन-करन=जगत् के मूल कारण। कलिकाल-ब्याल-मुख-ग्रासित=कलियुग रूपी सर्प के मुख में ग्रस्त होता हुआ।

प्रसंग—अवतरित पद भक्त शिरोमणि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'विनय' नामक शीर्षक से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में सांसारिक दृष्टान्तों द्वारा प्रभु को उनके परम कारुणिक स्वभाव का स्मरण दिलाते हुए भक्त ने उनसे अपने उद्धार के लिए प्रार्थना की है।

व्याख्या—सूरदास जी कहते हैं कि हे माधवजी ! यद्धपि भक्त से अपराध बन जाता है, तथापि हे कृपालो ! हे करुणामय केशव ! स्वामी अपने सेवक के अपराध पर ध्यान नहीं देता। कहने का आशय यह है कि सेवक-धर्म का निर्वाह अत्यन्त कठिन है। उसमें अपराध होने की अधिक संभावना रहती है। किन्तु सच्चा स्वामी अपने सेवक के अपराध पर ध्यान न देकर उससे अहैतुकी प्रीति करता है। भगवान तो परम कृपालु हैं अतः वे तो—

"ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।
निज प्रभुता बिसारि जनके बस, होत सदा यह रीति ॥"

अब लौकिक उदाहरणों पर दृष्टिपात कीजिए। जिस प्रकार पुत्र तो अपनी माता के उदर में अपराध करता रहता है, फिर भी उसकी माता उसकी वृद्धि के यत्न करती है, उसका पोषण करती है और गर्भ से बाहर आने पर उसे अपनी गोद में भर लेती है। यद्यपि लकड़हारा हाथ में कुठार लेकर चन्दन के वृक्ष को काटता है, तथापि चन्दन-वृक्ष अपनी शीतलता को नहीं छोड़ता और उस शत्रु के शरीर का ताप भी दूर कर देता है। पृथ्वी का भेदन कर मनुष्य हल से कृषि कर उसमें जल और बीज बिखेरता है और पृथ्वी प्रत्यक्ष रूप से शीता-तप को सहन करती है, फिर भी वह सुन्दर फलों की उत्पत्ति करती है। दाँतों के मध्य में दलित होकर रसना अत्यन्त दुःखित होती है, तो भी वह रिस क्या करे ? अर्थात् तनिक भी क्रोध नहीं करती। बदले में उनको क्षमा करके, सब क्रोध को शान्त करके दाँतों के पास छहों प्रकार के रसों का संचार करती है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब इन प्राकृतिक जड़-चेतन पदार्थों में अपराध क्षमा करने की इतनी बड़ी क्षमता है, तो फिर भला ईश्वर का तो कहना ही क्या; वे तो परमपिता परमेश्वर और सृष्टि के आदि कारण हैं। इसी विश्वास के बल पर भक्त निवेदन करता है कि कारण-करण अर्थात् सृष्टि के मूल कारण ! दयालो ! दयानिधे ! यह दीन अपने ही भय से डरता है। मेरी प्रार्थना है कि कलियुगरूपी सर्प के मुख में ग्रसित होता हुआ यह (अन्धा) सूरदास आपकी शरण पा जाय जिससे कि उसका उद्धार हो जाय।

विशेष—(क) "निज भय दीन डरै" का अभिप्राय यह है कि जब से जीव संसारी हो गया तब से वह विविध-ताप-पीड़ित होने लगा, कर्म-बन्धन में बँधकर वह जाति, आयु और भोग की उपाधियों से आबद्ध हो गया, और सबसे बढ़कर वह मृत्यु-भय से सदा संत्रस्त रहने लगा। यही उस दीन जीव का निज भय है, स्वामी का भय नहीं, क्योंकि स्वामी तो परम कारुणिक हैं और कारुण्य से प्रेरित होकर ही वे संसारी जीवों के विमोक्षणार्थ सृष्टि-क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। उन परम कृपालु महाप्रभु की अहेतुकी कृपा जिस जीव को प्राप्त हो जाती है, उसी का उद्धार हो जाता है।

(ख) एक वैष्णव भक्त की संस्कृत-गर्भित ब्रजभाषा का प्रयोग कितना सुन्दर बन पड़ा है।

(ग) १. उदाहरण अलंकार की भरमार है।

२. "कलिकाल-व्याल" में रूपक अलंकार है।

३. अनुप्रास का सुन्दर प्रयोग।

(घ) दैन्य भक्ति की झलक परिलक्षित होती है।

प्रभु हौं सब पतितनि कौ टीकौ।
और पतित सब दिवस चारि के, हौं तौ जनमत ही कौ।
बधिक, अजामिल, गनिका तारी और पूतना ही कौं।
मोंहि छाँड़ि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यौं जी कौ।
कोउ न समरथ अघ करिबे कौं, खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितनि मैं, मोहूँ तैं को नीकौ॥१३॥

शब्दार्थ—पतितनि कौ टीकौ=पतित-शिरोमणि। ही=हृदय, वक्षःस्थल। सूल=वेदना। अघ=पाप। खैंचि कहत हौं लीकौ=लकीर खींच कर कहता हूँ, सत्य बात कहता हूँ। नीकौ=अच्छा।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास-विरचित 'सूरसागर' के 'विनय' नामक प्रसंग से उद्धृत है। भक्तों का विश्वास है कि भगवान् 'पतितपावन' हैं, इसी विश्वास के बल पर अपने को महापतित घोषित करते हुए परम वैष्णव महात्मा सूरदास ने अपने आराध्यदेव से अपने उद्धारार्थ प्रार्थना की है।

व्याख्या—हे प्रभो! मैं तो सब पतितों का टीका अर्थात् महापतित हूँ। अपने महापतित्व का कारण बतलाते हुए सूरदासजी कहते हैं कि मुझसे अन्य सभी पतित तो चार-दिन अर्थात् बहुत कम समय से पतित हुए हैं लेकिन मैं तो जन्म-काल से ही पतित हूँ। लेकिन जो चार दिन के पतित थे, उनका भगवान् ने उद्धार कर दिया, उदाहरणार्थ—आपने वधिक (वाल्मीकि), अजामिल और पूतनी का उद्धार किया तथा पूतना के हृदय का पान कर उसे भी संसार-सागर से पार कर दिया। लेकिन दुःख इस बात का है कि मुझको छोड़कर आपने अन्य पतितों का उद्धार कर दिया, भला यह हृदय में चुभने वाला शूल कैसे दूर हो? मैं यह लकीर खींचकर कहता हूँ कि उपर्युक्त पापियों में से कोई भी मेरे बराबर पाप-कर्म करने में समर्थ नहीं है, फिर भी यह सूर पतितों के मध्य लज्जा से मरा जा रहा है। मुझसे भी बढ़कर पतित कौनसा है जिसका मुझसे भी पहले उद्धार किया जाना आवश्यक है, अर्थात् कोई नहीं।

विशेष—(क) १. प्रस्तुत पंक्तियों में भक्त-हृदय का दैन्यपूर्ण उपालम्भ कतना मार्मिक है। "मिटै सूल क्यौं जी कौ" में एक मुँह-चढ़े सेवक का-सा उपालम्भ है। भक्त कभी-कभी तो इतना आगे बढ़ जाता है कि वह अपने आराध्य देव के विरद को भी चुनौती देने लगता है।

जैसाकि सूरदास ने ही कह डाला है—

"आजु हौं एक-एक करि टरिहौं ।
कै तुम ही, कै हौं ही माधो, अपने पन निस्तरिहौं ॥"

महाकवि बिहारी ने भी इसी प्रकार की चुनौती देते हुए कह डाला—

"कौन भाँति रहिहै बिरदु, अब देखिबी मुरारि ।
बीधे मोसौं आइ करि, गीधे गीधहिं तारि ॥"

कहने का आशय यह है कि भक्त अपने को डंके की चोट पतित घोषित कर पतितपावन भगवान् से अपने उद्धार की प्रार्थना करता है। तुलसी के शब्दों में—

"मैं हरि पतितपावन सुने ।
मैं पतित, तुम पतितपावन, दोउ बानक बने ॥"

२. "और पतित सब दिवस-चारिके हौं तौ जनमत ही कौ" पंक्ति के दो अर्थ निकलते हैं—

१. और पतित तो थोड़े ही दिन से हैं अर्थात् युवावस्था आदि के मद में आकर पतित हुए हैं लेकिन मैं तो जन्म-काल से ही पतित हूँ। इससे सूर की जन्मान्धता और तज्जनित ग्लानि ध्वनित होती है।

२. और पतित तो दो-एक जन्मों में ही आकर पतित हुए लेकिन मैं तो जिस दिन से संसार में आया, उसी दिन से पाप-संचय करने के कारण पतित होता रहा हूँ, इसलिए मैं ही "सब पतितनि कौ टीकौ" हूँ।

(ख) **अन्तर्कथाएँ**

बधिक—महर्षि वाल्मीकि प्रारम्भ में एक कुख्यात दस्यु थे। उन्होंने अनेक प्राणियों का वध किया था। एक दिन सप्तर्षियों की प्रेरणा से वह 'राम-नाम' का उल्टा जाप करने लगे जो उच्चारित होते-होते सीधा-जाप हो गया। 'राम-नाम' के जाप के प्रभाव से वह एक श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि हो गए और उन्होंने ही 'रामायण' का प्रणयन किया।

अजामिल—अजामिल कान्यकुब्ज देश का एक कुकर्मी, वेश्यापति ब्राह्मण था, जिसने अपने सबसे छोटे और सबसे प्रिय पुत्र का नाम 'नारायण' रख दिया था। मृत्यु के समय वह अपने पुत्र 'नारायण' का नाम लेने से ही यम-यातना से मुक्त हो गया।

गणिका (वेश्या)—यह जीवन्ती नाम की एक वेश्या थी जो बिना समझे हुए भी तोते को 'राम-नाम' पढ़ाने के कारण मोक्ष पा गई।

पूतना—पूतना कंस की भेजी हुई एक राक्षसी थी, जो शिशु कृष्ण के प्रति वात्सल्य दिखाकर अपने विष-लिप्त स्तन का दूध पिलाकर उन्हें मार डालना चाहती थी, परन्तु उसे उलटे कृष्ण ने ही दूध पीते-पीते मार डाला और इस तरह उसका उद्धार किया।

(ग) पतितनि कौ टीकौ का कवि ने साभिप्राय प्रयोग किया है।

(घ) जी का सूल मिटना, लीक खींचकर कहना आदि मुहावरों का काव्यात्मक प्रयोग कवि ने किया है।

(ङ) भक्ति शास्त्र में भक्ति में निष्णात होने से पूर्व भक्त की सात मनो-भूमियाँ बताई गई हैं, जो इस प्रकार हैं—

दैन्यं च मानमार्षित्वं भयस्य दर्शनं तथा।
भर्त्सना श्वासन चैव मनोराज्यं विचारणा॥

यहाँ सूर ने प्रथम मनोभूमि अर्थात् दैन्य का उल्लेख किया है।

हरि हौं महापतित, अभिमानी।
परमारथ सौं, बिरत, बिषय-रत, भाव-भगति नहिं नेंकहु जानी।
निसि-दिन दुखित मनोरथ करि-करि, पावत हूँ तृष्ना न बुझानी।
सिर पर मीच, नीच नहिं चितवत, आयु घटति ज्यों अंजुलि पानी।
बिमुखनि सौं रति जोरत दिन-प्रति, साधुनि सौं न कबहुँ पहिचानी।
तिहि बिनु रहत नहीं निसि-बासर, जिहिं सब दिन रस-बिषय खानी।
माया-मोह-लोभ के लीन्हैं, जानी न बृन्दावन रजधानी।
नवल किसोर जलद-तनु सुन्दर, बिसर्‌यौ सूर सकल-सुख-दानी ॥१४॥

शब्दार्थ—परमार्थ=परमार्थ, परम-तत्त्व-चिन्तन। विरत=रहित। विषय-रत=सांसारिक भोगों में लीन। मनोरथ=मनोकामना। मीच=मृत्यु। रति=प्रेम। के लीन्हैं=के लिए, के कारण। जलद-तनु=मेघ के समान (श्याम) शरीर वाले अर्थात् श्रीकृष्ण।

प्रसंग—पूर्ववर्ती पद में तो भक्त कवि ने अपने को केवल "सब पतितनि की टीकौ" अर्थात् महापतित ही कहा था, यहाँ पर "अभिमानी" और कह डाला। अभिमान के परिणाम-स्वरूप प्राप्त होने वाली पुरुषार्थ-भ्रष्टता पर कवि को पश्चात्ताप हो रहा है जो इन पंक्तियों में दर्शनीय है।

व्याख्या—हे हरे ! मैं महापतित और अभिमानी हूँ। अभिमानी होने का परिणाम बतलाते हुए सूरदासजी कहते हैं कि मैं परमार्थ-चिन्तन से विमुख और विषयों में लीन रहता हूँ, जिससे भगवान् के प्रति भाव (प्रेम) और भक्ति को मैंने बिलकुल ही नहीं जाना। दिन-रात मनोरथ कर-करके दुःखी बना रहा, और मनोरथ-प्राप्ति हो जाने पर भी तृष्णा शान्त नहीं हुई। मैं नीच इतना हूँ कि सिर पर मृत्यु मँड़रा रही है और आयु उसी प्रकार घटती जा रही है जिस प्रकार कि अंजली में रखा हुआ जल धीरे-धीरे घटता जाता है, फिर भी नहीं देखता (होश नहीं सँभालता)। मैं प्रतिदिन उन्हीं लोगों से प्रेम सम्बन्ध स्थापित करता हूँ जो कि हरि-विमुख हैं, साधु-सन्तों से तो कभी पहचान ही नहीं करता। जो लोग दिन-भर विषय-रस (प्रेम-चर्चाओं) का वर्णन करते रहते हैं, उनके बिना मैं दिन-रात अकेला नहीं रह सकता। माया, मोह और लोभ में फँस जाने के कारण मैं श्रीकृष्ण की राजधानी वृन्दावन के मर्म को नहीं समझ सका। इसका परिणाम क्या हुआ ? सूरदास जी कहते हैं कि इसके फलस्वरूप मैंने नवलकिशोर, मेघ के समान सुन्दर शरीर वाले, सर्व सुखों के देने वाले भगवान् श्रीकृष्ण को भुला दिया।

विशेष—(क) अभिमान किंवा अहंकार से आवृत हो जाने पर ही जीव अपने वास्तविक स्वरूप और परम पुरुषार्थ के विषय में मोहित हो जाता है। यही कारण है कि सन्त लोग सदा निरभिमान होकर दैन्य-भाव से ही अपने आराध्य देव की आराधना करते हैं। सूर की निरभिमानिता उनके 'विनय' के पदों में सर्वत्र परिलक्षित होती है। प्रस्तुत पद में अभिमानी होने के दुष्परिणामों पर प्रकाश डालकर कवि यही व्यंजित करना चाहता है कि यदि "नवलकिसोर, जलद-तनुसुन्दर" और "सर्व-सुख-दानी" कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करना है तो सबसे पहले अभिमान का परित्याग करो।

(ख) माया संवेष्टित जीव को परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती, दोनों में विरोध है। एक समय पर एक ही वस्तु रह सकती है। कबीर ने भी कहा है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहँ ।
सब अँधियारा मिट गया दीपक रेखा माँह ।।

(ग) १—परमारथ सौं, विमुखनि सौं, साधुनि सौं, में सहोक्ति ।
२. 'तिहि बिनु', में विनोक्ति ।
३. आयु घटित ज्यौं अंजुलि-पानी, में उपमा ।
४. करि-करि, में पुनरुक्ति प्रकाश ।

(ग) शान्त रस ।

अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल ।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल ।
महामोह के नूपुर बाजत, निन्दा-सब्द-रसाल ।
भ्रम भोयौ मन भयौ पखावज, चलत असंगत चाल ।
तृष्ना नाद करति घट भीतर, नाना बिधि दै ताल ।
माया को कटि फेंटा बाँध्यौ, लोभ-तिलक दियौ भाल ।
कोटिक कला काछि दिखलाई, जल-थल सुधि नहिं काल ।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नँदलाल ।।१५।।

शब्दार्थ—नूपुर=घुँघरू । रसाल=रसीला । भ्रम भोयौ=भ्रम में पड़ा हुआ । असंगत=बेतुकी । नाद=शब्द । घट भीतर=शरीर के अन्दर, हृदय में । कटि=कमर । काछि=विविध प्रकार के वस्त्र धारण करके । अविद्या=अज्ञान ।

प्रसंग—अवतरित पद भक्त शिरोमणि सूरदास के 'सूरसागर' से उद्धृत है । प्रस्तुत पद में भक्त कवि का अभिप्राय यह है कि जीव अनादि अविद्या के कारण सांसारिक बन्धनों में पड़ कर अनेक योनियों में भटकता फिरता है, इसलिए उन्होंने अपने आराध्य गोपाल से अविद्या का निराकरण करने के लिए 'विनय' की है ।

व्याख्या—हे गोपाल ! अब तो मैं बहुत नाच चुका अर्थात् अनेक योनियों में भ्रमण कर चुका । जिस प्रकार रंगशाला-स्थित नट को राम, युधिष्ठिर, दुष्यन्त आदि बनने के लिए विविध वस्त्राभूषण काछने (धारण करने) पड़ते हैं उसी प्रकार संसार रूपी रंगशाला में जीव रूपी नट को कीट, पतंग, मनुष्य आदि अनेक उपाधियाँ ग्रहण करने के लिए भी विविध वस्त्राभूषण धारण करने पड़ते हैं । वे वस्त्राभूषण ये हैं—

मैंने काम और क्रोध का चोलना पहन रखा है, मेरे कण्ठ में विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) की माला है। पैरों में महामोह के नूपुर बजते हैं जिनसे निन्दा की रसीली ध्वनि मुखरित होती है। भ्रम से भरा हुआ मन ही पखावज नामक वाद्य हो गया है, जिससे मैं सदा असंगत चाल से चलता हूँ। हृदय-देश नाना प्रकार की तालें देकर तृष्णा शब्द करती है। मैंने अपनी कमर में माया रूपी फेंटा बाँध लिया है और भाल पर लोभ का तिलक लगा लिया है। इन समस्त आभरणों को धारण कर मैं अब तक करोड़ों कलाएँ दिखला चुका हूँ और मुझे जल स्थल तथा काल का कोई स्मरण नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि अविद्या के अनादि संयोग के कारण इस जीव ने असंख्य जन्म धारण किए हैं, कभी उसने जल में जन्म लिया, कभी पृथ्वी पर, किस काल में कहाँ जन्म लिया, इस बात का उसे कोई ज्ञान नहीं है। इसलिए हे नन्दलाल (कृष्ण)! इस सूरदास की अविद्या का पूर्ण-रूपेण निराकरण कर दीजिए जिससे कि वह अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर फिर इस संसार में नृत्य न करे और आपके सान्निध्य को प्राप्त कर ले।

विशेष—(क) इस पद में जीव रूपी नट का संसार रूपी नृत्य-शाला में किए जाते हुए नृत्य का सांगोपांग निरूपण किया गया है, इसलिए यहाँ पर सांगरूपक अलंकार है।

(ख) भाषा संस्कृत-गर्भित ब्रज है।

(ग) शान्तरस है।

(घ) १. कोटि कला काछि में वृत्यानुप्रास।
२. काम क्रोध महा मोह, भ्रम भोयौ—में छेकानुप्रास।

(ङ) भावसाम्य के लिए विनय पत्रिका के निम्नलिखित पद को प्रस्तुत किया जा सकता है—

नाचत ही निसि दिवस भर्‌यो।
तब ही ते न भयो हरि थिर जबतें जिव नाम धर्‌यो।
बहु वासना विविध कन्चुकि भूषन लोभादि भर्‌यो।
चर अरु अचर गगन जल थल में कौन न स्वाँग कर्‌यो।
देव-दनुज, मुनि नाग, मनुज नहिं जाँचत कोउ उबर्‌यो।
मेरो दुसह दरिद्र, दोष, दुख काहू तौ न हर्‌यो।

थके नयन, पद, पानि, सुमति, बल, संग सकल बिछुर्‌यो ।
अब रघुनाथ सरन आयो जन, भव-भय विकल डर्‌यौ ।
जेहि गुनतें बस होहु रीझि करि, सो मोहि सब बिसर्‌यो ।
तुलसिदास निज भवन द्वार प्रभु दीजै रहन पर्‌यो ।।

हमारे प्रभु, औगुन चित न धरौ ।
समदरसी है नाम तुम्हारौ, सोई पार करौ ।
इक लोहा पूजा सैं राखत इक घर बधिक परौ ।
सो दुबिधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ ।
इक नदिया इक नार कहावत मैलौ नीर भरौ ।
जब मिलि गए तब एक बरन ह्वै सुरसरि नाम परौ ।
तन माया, ज्यौ ब्रह्म कहावत, सूर सुमिलि बिगरौ ।
कै इनकौ निरधार कीजियै, कै प्रन जात टरौ ।।१६।।

शब्दार्थ—औगुन=अवगुण, दोष । समदरसी=समदर्शी, सभी प्राणियों को सम-भाव से देखने वाले । बधिक=हत्यारा । दुबिधा=द्विविधा, बुरे-भले का भेद । कंचन=सोना । नार=नाला । सुरसरि=गंगा । ज्यौ=जीव । निरधार=निर्णय ।

प्रसंग—यह पद महाकवि सूरदास-विरचित 'सूरसागर' के विनय के पदों में से लिया गया है । इसमें भक्त ने भगवान् से अपने कल्याणार्थ निवेदन किया है ।

व्याख्या—हे प्रभो । मेरे अवगुणों पर ध्यान न दीजिए । आपका नाम समदर्शी है, इसीलिए मेरा उद्धार कीजिए । कहने का अभिप्राय यह है कि भगवान् सर्व-भूतों में समत्व-भाव रखते हैं, उनका न कोई द्वेष्य है और न प्रिय; फिर भी जो कोई भी प्राणी भक्ति-भाव से उनका भजन करते हैं, वे उनके सान्निध्य को प्राप्त कर शुद्ध हो जाते हैं । जैसा कि गीता में प्रमाण है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।। (गीता ९।२९)

लौकिक उदाहरण के लिए पारस पत्थर की समदर्शिता देखी जा सकती है । एक लोहे को तो मूर्ति आदि के रूप में पूजा-स्थल में रखा जाता है और एक बधिक के घर में पड़ा रहता है, परन्तु इस द्विविधा को, अर्थात् उनमें से

कौन-सा लोहा पवित्र है और कौन सा अपवित्र, इस भेद को पारस नहीं जानता बल्कि वह दोनों को ही खरा सोना बनाता है। कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार पारस-पत्थर का सान्निध्य पाकर बुरे-से-बुरा लोहा भी सोने में परिणत हो जाता है उसी प्रकार ईश्वर का भजन करने से दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी साधु एवं धर्मात्मा होकर शाश्वत् शान्ति को प्राप्त हो जाता है। दूसरा उदाहरण लीजिए नदी (गंगा) और नाला जब तक अभेद-स्थिति में नहीं आते तब तक उनमें से एक की नदी संज्ञा बनी रहती है और दूसरा नाला कहलाता है, परन्तु जब वे दोनों मिल-मिल कर एक रूप (एकाकार) हो जाते हैं तभी उनका नाम गंगा हो जाता है। इसी प्रकार माया के व्यवधान के कारण जीव और ईश्वर में भेद प्रतिभासित होता है, किन्तु ज्यों ही माया-मल से जीव की शुद्धि हो जाती है, त्योंही वह ब्रह्म-साक्षात्कार कर ब्रह्म ही हो जाता है; जैसाकि श्रुति-प्रमाण है—"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" अर्थात् ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है। प्रश्न यह है कि माया क्या है और जीव किसे कहते हैं ? इसके उत्तर में सूरदासजी कहते हैं कि यह शरीर पाँचभौतिक होने के कारण माया है, जीव ब्रह्म कहलाता है। शंकराचार्य के शब्दों में "जीवो ब्रह्मैव नापरः" अर्थात् जीव ब्रह्म ही है, अपर (ब्रह्मेतर) नहीं। सूरदासजी कहते हैं वह शुद्ध सच्चिदानन्दाद्वय ब्रह्म ही माया से उपहित होकर विकृत हो गया है। इसलिए हे प्रभो ! या तो इन माया और जीव का निर्धारण कीजिए अर्थात् जीव को विवेक-ज्ञान कराइये, नहीं तो आपका प्रण टला जाता है।

विशेष—(क) माया-जीव के निर्धारण में ईश्वर की कृपा अपेक्षित है। ईश्वर का प्रण है जीवों पर अनुग्रह करना। इसीलिए कवि ने भगवान् को उनके प्रण का स्मरण कराया है।

(ख) ३—६ पंक्तियों में उदाहरण अलंकार है।

(ग) शान्तरस है।

जनम सिरानौ अटकैं-अटकैं।
राज-काज, सुत-बित की डोरी, बिनु बिबेक फिर्यौ भटकैं।
कठिन जो गाँठि परी माया की, तोरी जाति न भटकैं।
ना हरि-भक्ति, न साधु-समागम, रह्यौ बीचहीं लटकैं।
ज्यौं बहु कला काछि दिखरावै, लोभ न छूटत नट कैं।
सूरदास सोभा क्यौं पावै, पिय-बिहीन धनि मटकैं ॥१७॥

शब्दार्थ—अटकै-अटकैं=उलझनों में। सिरानौ=बीत गया। सुत-बित=पुत्र-धन। बिवेक=जीव-जगत्-विषयक तत्त्व-ज्ञान। साधु-समागम=सत्संगति। धनि=युवती।

प्रसंग—अवतरित पद महात्मा सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'विनय' नामक शीर्षक से उद्‌धृत है। प्रस्तुत पद में कवि ने सांसारिक जीवन की निरर्थकता का मार्मिक चित्रण किया है।

व्याख्या—सारा जन्म सांसारिक झंझटों में उलझे-उलझे ही शान्त हो गया। विवेक-ज्ञान न होने के कारण राज-काज, पुत्र, धन आदि की डोरी में ही भटकता फिरा। माया की जीव से जो कठिन गाँठ पड़ गई है, वह झटकने पर तोड़ी नहीं जा सकती। यही भाव व्यक्त करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—"जड़-चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।" इस बीच में न तो हरि-भक्ति की और न साधु-समागम किंवा सत्संग ही किया, व्यर्थ में सांसारिकता में ही लटका रहा। यह जीव नट की भाँति नाना रूप धारण कर अनेक कलाओं का प्रदर्शन करता रहता है, उसका लोभ नहीं छूटता। सूरदासजी कहते हैं कि प्रियतम से रहित युवती मटकने (इठलाने) पर शोभा को कैसे प्राप्त कर सकती है? भाव यह है कि जिस प्रकार प्रियतम के प्रवासी अथवा मृत हो जाने के अनन्तर किसी युवती का मटकना उसे दुराचारिणी सिद्ध करता है, उसी प्रकार हरि-भजन के बिना सांसारिकता में उलझे रहना भी आत्मा को दुराचारी बना देता है, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अपने जन्म की सफलता के लिए वह सकल प्रपंचों का परित्याग कर हरि-भजन एवं सन्त-समागम करता रहे।

विशेष—(क) कबीर की तरह सूरदास ने भी आत्मा को स्त्री और परमात्मा को पति के रूप में स्वीकार किया है।

(ख) १. "सूरदास·······मटकैं" में दृष्टान्त अलंकार है।

२. अटकैं-अटकैं—में पुनरुक्ति प्रकाश।

(ग) शान्त रस है।

धोखैं ही धोखैं डहकायौ।

समुझि न परी, विषय-रस गीध्यौ, हरि-हीरा घर माँझ गँवायौ।
ज्यौं कुरँग जल देखि अवनि कौ, प्यास न गई चहूँदिसि धायौ।
जनम-जनम बहु करम किए हैं, तिनमैं आपुन आप बँधायौं।

ज्यौं सुक सेमर सेव आस लगि, निसि-बासर हठि चित लगायौ।
रीतौ पर्‌यौ जबै फल चाख्यौ, उड़ि गयौ तूल, ताँवरो आयौ।
ज्यौं कपि डोरि बाँधि बाजीगर, कन-कन कौं चौहटैं नचायौ।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु, काल-ब्याल पै आपु बंधायौ ॥१८॥

शब्दार्थ—डहकायौ=धोखा खाया। गीध्यौ=अभिलाषा करता रहा। कुरंग=मृग। अवनि=पृथ्वी। आस लगि=आशा से। हठि=हठात्, जबर्दस्ती। तूल=रूई। ताँवरौ आयौ=होश उड़ गए। चौहटैं=चौराहे पर। काल-ब्याल=कालरूपी सर्प।

प्रसंग—अवतरित पद भक्त कवि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'विनय' के पदों में से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में कवि ने यह बतलाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार माया के प्रपंच में भ्रमित होकर जीव पुरुषार्थ-च्युत हो गया।

व्याख्या—अब तक मैं धोखे ही धोखे में बना रहा, अर्थात् असत् रूप सकल चराचर प्रपंच को सत्य समझकर उसी में लिप्त बना रहा। मैं इस धोखे को समझ नहीं सका, इसलिए विषय-वासनाओं की बार-बार अभिलाषा करता रहा, परिणामतः मैंने अपने घर में ही हरि रूपी हीरा को गँवा दिया। प्रश्न उठता है कि क्या संसार सचमुच ही धोखा है? यदि हाँ तो कैसे? इस शंका के समाधानार्थ विभिन्न उदाहरणों द्वारा समझाता हुआ कवि कहता है कि जिस प्रकार मृग पृथ्वी का जल देखकर अर्थात् मरुस्थल की दूर से चमकने वाली बालू को ही जल समझकर चारों ओर भागता रहता है, फिर भी उसकी प्यास नहीं बुझती, इसी प्रकार इस जीव ने भी जन्म-जन्मान्तर में अनेक कर्मों का सृजन किया जिनके बन्धन में वह अपने आप ही बँध गया। जिस प्रकार तोता सेमर के फूल को सेव की आशा से दिन-रात ध्यान किए रहता है, किन्तु ज्यों ही उसने भ्रमवश उस फल को चखा तो हाथ कुछ नहीं लगा, उसकी रुई उड़ गई और तोता गश खा गया। कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार मृग-तृष्णा या मरु-मरीचिका का जल तथा सेमर का फूल भ्रम में पड़े हुए मृग तथा तोते को अत्यन्त सन्तप्त करते हैं उसी प्रकार शब्दादि विषयों का भोग अज्ञानी जीवों के लिए दुःख का कारण बनता है। विषयों का भोग करने में ही पाप-पुण्य नामक कर्मों का सृजन होता रहता है जो उसे जनम-मरण के चक्कर में डालकर परवश-सा बना देते हैं। जीव की परवशता

का उदाहरण यह है कि जिस प्रकार मदारी किसी बन्दर को रस्सी में बाँधकर दाने-दाने के लिए चौराहों पर नचाता फिरता है, सूरदासजी कहते हैं कि उसी प्रकार भगवान् के भजन के बिना यह जीव काल रूपी सर्प के द्वारा स्वयं ही बाँध लिया जाता है।

विशेष—(क) यहाँ पर कवि का अभिप्राय यह है कि जीव का बन्धन स्वयं ही होता है। परम कृपालु ईश्वर ने उसको बन्धन में नहीं डाला है। अनादि अविद्या के आवरण से मोहित होकर यह जीव "सर्वभूतों के हृद्देश" में विद्यमान परमेश्वर को छोड़कर माया के मिथ्या प्रपंचों में उलझ कर अनेक प्रकार पाप-पुण्य करता रहता है जिनके परिणाम स्वरूप वह नाना योनियों में विचरण करता रहता है। जन्म-जन्मान्तर में किए जाने वाले कर्म ही उसके बन्धन के कारण हैं, ईश्वर नहीं। इसी बात को प्रतिपादित करते हुए तुलसीदासजी ने कहा है—

"कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥"

ईश्वर के अनुग्रह से ही कर्म-बन्धन शिथिल होता है और ईश्वर का अनुग्रह तभी प्राप्त हो सकता है जबकि प्राणी उसका भजन करे। हरि के भजन बिना तो संसार में दुःख ही दुःख है।

(ख) १. "हरि हीरा" और "काल-ब्याल" में रूपक अलंकार है।

२. ३, ५, ७ पंक्तियों में उदाहरण अलंकार है।

३. जनम-जनम, कन-कन में पुनरुक्ति प्रकाश।

(ग) संसार के प्रति उदासीनता एवं निर्वेद का दर्शन होने से यहाँ पर शान्तरस है।

तजौ मन हरि-बिमुखनि कौ संग।
जिनकैं संग कुबुधि उपजति है, परत भजन में भंग।
कहा होत पय पान कराएँ, विष नहिं तजत भुजंग।
कागहिं कहा कपूर चुगाएँ, स्वान न्हावाएँ गंग।
खर कौं कहा अरगजा लेपन, मरकट भूषन अंग।
गज कौं कहा सरित अन्हवाएँ, बहुरि धरै वह ढंग।
पाहन पतित बान नहिं बेधत, रीतौ करत निषंग।
सूरदास कारी कामरि पै, चढ़त न दूजौ रंग॥१९॥

शब्दार्थ—हरि-विमुखनि कौ संग=भगवान् से विमुख रहने वाले लोगों का साथ। कुबुधि-कुमति=दुर्बुद्धि। भंग=खलल, अड़चन। पय=दूध। भुजंग=सर्प। स्वान=कुत्ता। खर=गधा। अरगजा-लेपन=चन्दन और केसर का लेप। मरकट=बन्दर। निषंग=तरकस।

प्रसंग—प्रस्तुत पद महात्मा सूरदास-विरचित 'सूरसागर' के 'विनय' नामक शीर्षक से उद्धृत है। यहाँ पर सन्त कवि ने असन्तों से बचे रहने के लिए अपने मन को प्रबोध कराया है।

व्याख्या—हे मन ! हरि से विमुख रहने वाले (दुर्जनों) का साथ छोड़ दो, जिनके कि साथ में रहने से कुबुद्धि उत्पन्न होती है और भजन में व्यवधान पड़ता है। सर्प को दुग्ध-पान कराने से क्या लाभ ? वह अपने विष को तो नहीं त्याग देता। अभिप्राय यह है कि हरि-विमुख लोग सर्प के समान होते हैं। जिस प्रकार दूध पिलाने पर सर्प का विष घटता नहीं, बढ़ता ही है, उसी प्रकार हरि-विमुखों को हरि-चर्चा सुनाने पर उनके हृदय में सज्जनता के स्थान पर दुर्जनता ही बढ़ती है। इस स्थल पर संस्कृत का निम्नलिखित सुभाषित उद्धरणीय है—

"दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालंकृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ?"

अर्थात् विद्या-विभूषित दुर्जन भी उसी प्रकार परित्याज्य है जिस प्रकार कि मणिधारी सर्प। इसी प्रकार, कौए को कपूर चुगाने से, कुत्ते को गंगा-स्नान कराने से, गधे को अरगजा-लेपन करने से और मर्कट को आभूषण पहनाने से क्या लाभ ? उनमें कोई परिवर्तन नहीं आ सकता। कपूर चुगने वाला कौआ फिर भी विष्ठा का सेवन करेगा, गंगा में स्नान कर चुकने वाला कुत्ता पुनः कीचड़ में सनेगा, अरगजा से लिप्त गधा फिर से धूल में लोट-पोट करेगा और आभूषणधारी मर्कट समस्त आभूषणों को तोड़कर फेंक देगा। हाथी को नदी में स्नान कराने से क्या लाभ ? वह तो फिर भी उसी ढंग को अपनाएगा अर्थात् शरीर पर धूल डालेगा। जिस प्रकार पत्थर में वाण नहीं चुभ सकता, चाहे सारा तरकश खाली भले हो जाए, उसी प्रकार नीच पुरुषों के हृदय में सद्गुरु के सदुपदेशों का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। तुलसी के शब्दों में—

"फूलहि फरहि न बेत, जदपि सुधा बरसहिं जलद।
मूरख-हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं बिरंचि सम॥"

इसी प्रकार सूरदासजी कहते हैं कि काले कम्बल पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। भाव यह है कि दुष्ट लोगों का हृदय काले कम्बल की तरह मलिन होता है। जिस प्रकार काले कम्बल के काले रंग पर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता, उसी प्रकार मलिन-हृदय दुर्जनों के हृदय पर हरि-विमुखता के अतिरिक्त और किसी बात का प्रभाव नहीं जम सकता।

विशेष—(क) पूरे पद का अभिप्राय यह है कि यदि मनुष्य कल्याण चाहता है तो वह साधु-समागम करे, कुसंग में न पड़े, अन्यथा उसका कुशल नहीं है। रहीम के शब्दों में—

"बसि कुसंग चाहत कुसल, रहिमन यहि अफसोस।
महिमा घटी समुद्र की रावन बसें परोस।"

(ख) पूरे पद में दृष्टान्त एवं अर्थान्तरन्यास अलंकार है।
(ग) शान्त रस है।

जौ लौं सत सरूप नहिं सूझत।
तौ लौं मृगमद नाभि बिसारे, फिरत सकल बन बूझत॥
अपनौ मुख मसि-मलिन मंदमति, देखत दर्पन माहीं।
ता कालिमा मेटिबे कारन, पचत पखारत छाहीं॥
तेल-तूल-पावक-पुट भरि धरि, बनै न बिना प्रकासत।
कहत बनाइ दीप की बतियाँ, कैसें धौं तम नासत॥
सूरदास यह मति आए बिन, सब दिन गए अलेखे।
कहा जानै दिनकर की महिमा, अंध नैन बिन देखै॥२०॥

शब्दार्थ—सत=सत्पदार्थ अर्थात् वास्तविकता। मृगमद=कस्तूरी। मसि=स्याही, कलंक। दर्पन=दर्पण, मुकुर। पचत=परिश्रम कर परेशान होता है। पखारत=धोते हुए। तूल=रुई। पावक=अग्नि। बिना प्रकासत=प्रकाशित हुए बिना। तम=अन्धकार। अलेखे=अनजाने, गफलत में। दिनकर=सूर्य।

प्रसंग—अवतरित पद महात्मा सूरदास द्वारा प्रणीत 'सूरसागर' के 'विनय' के पदों में से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में कवि ने संसारी जीवों के परम कल्याण का मार्ग निर्दिष्ट किया है।

व्याख्या—कवि कहता है कि जब तक सत्-स्वरूप का दर्शन अर्थात् आत्म-साक्षात्कार नहीं होता तब तक यह जीव नाभि-वर्ती मृगमद को भूल कर उसे सभी वनों में ढूँढ़ता फिरता है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर सभी प्राणियों के हृदयाकाश में विद्यमान है, परन्तु कस्तूरी के हिरन की तरह मनुष्य उसे "पुरानन कानन बेद-रिचा सुनी चौगुने चायन" के माध्यम से ढूंढ़ना चाहते हैं। कबीरदास के शब्दों में—

"कस्तूरी कुंडल बसै, मृग ढूंढ़ै बन माहिं।
ऐसेइ घट-घट राम हैं, दुनियाँ देखै नाहिं।।"

यह स्थिति तभी तक रहती है जब तक कि जीवगत अज्ञान के निरास-पूर्वक ब्रह्म ज्ञान नहीं होता। सत्-स्वरूप अथवा ब्रह्म-साक्षात्कार की युक्ति का सतर्क विवेचन करते हुए सूरदास जी कहते हैं कि हे मंद बुद्धि ! कालिमा से मलिन अपने मुख को तू दर्पण में देखता है, और उस कालिमा को मेटने के लिए अपनी छाया अथवा प्रतिबिम्ब को पखारते-पखारते परिश्रम कर परेशान होता रहता है। दीपक में तेल, रुई और अग्नि का पुट भर कर रखने पर वह बिना जले नहीं रह सकता, लेकिन कोरी दीपक की बातें बना-बना कर कहने से किस प्रकार अँधेरा नष्ट हो जाएगा ? भाव यह है कि अज्ञान के अन्धकार का विनाश करने के लिए ज्ञान के प्रकाश की आवश्यकता है, किन्तु ज्ञान-प्राप्ति की युक्तियों का पालन न कर कोरे शास्त्र-ज्ञान से अज्ञान का निराकरण थोड़े ही हो सकता है। सूरदासजी कहते हैं जब तक इस प्रकार की बुद्धि अर्थात् व्यवसायात्मिकता बुद्धि उत्पन्न नहीं होती तब तक समझिए कि अपने जीवन के सभी दिन अज्ञान में अर्थात् व्यर्थ ही चले गए। भला अन्धा व्यक्ति आँखों से देखे बिना सूर्य की महिमा को कैसे जान सकता है ? तात्पर्य यह है कि अज्ञानी पुरुष अन्धे के समान है जो सूर्यवत् स्वतः प्रकाश परम ब्रह्म परमेश्वर की महिमा को तब तक नहीं जान सकता जब तक कि उसका अज्ञानान्धत्व निराकृत नहीं हो जाता।

विशेष—(क) अज्ञानोत्पन्न मोह के कारण प्राणी अपने सत्-स्वरूप को नहीं समझ पाता, इसीलिए वह अपने मुख की कालिमा का निराकरण करने के लिए अपनी परछाईं को धोता रहता है। अथवा, जैसाकि तुलसीदास का दृष्टान्त है—

"घृतपूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिंब दिखावै।
इंधन अनल लगाय कलप सत औटत नास न पावै।।"

यह है भ्रम की अधिकता ! और इसका निराकरण होना है विमल विवेक से। जब तक विवेक नहीं तब तक "संसार-घोर-निधि" का पार पाना ही दुष्कर है।

(ख) सम्पूर्ण पद दृष्टान्तों से ही परिपूर्ण है। भाषा एक दार्शनिक एवं भक्त कवि की है जिसका संस्कृत-गर्भित होना नितान्त स्वाभाविक है।

(ग) दार्शनिक चिन्तन का स्थायीभाव 'निर्वेद' होता है, अतः यहाँ पर शान्त रस है।

चकई री, चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम बियोग।
जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ, सोइ सायर सुख जोग।
जहाँ सनक-सिव हंस, मीन मुनि, नख रवि-प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि डर, गुंजत निगम सुबास।
जिहिं सर सुभग मुक्ति-मुक्ताफल, सुकृत-अमृत-रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम, इहँ कहा रहि कीजै।
लछमी-सहित होति नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास।
अब न सुहात विषय-रस-छीलर, वा समुद्र की आस ॥२१॥

शब्दार्थ—चरन-सरोवर=भगवान् के चरण रूपी सरोवर। सायर=सागर। जोग=योग्य। प्रफुलित=खिले हुए। निमिष=पल। निगम सुबास=सुगन्धि का निर्गम अथवा निकलना। सुभग=सुन्दर। मुक्ति-मुक्ताफल=मुक्ति रूपी मोती। सुकृत=पुण्य। छीलर=तलैया।

प्रसंग—अवतरित पद भक्तशिरोमणि सूरदास के 'सूरसागर' के 'विनय' नामक शीर्षक से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में कवि ने भगवान् के श्री चरणों की शरण में जाने के मधुमय परिणाम का विवेचन चकवा-चकवी-संवाद के माध्यम से किया है।

व्याख्या—कवि कहता है कि अरी आत्मा-रूपी चकवी ! तू उस चरण-रूपी सरोवर में चल, जहाँ न प्रेम है और न वियोग। यह कवि-परम्परा-सिद्ध है कि चक्रवाक-युगल दिन में प्रेम और रात्रि में वियोग से ग्रस्त रहता है, इसी प्रकार काल-पाश-बद्ध सकल प्राणियों को कभी प्रेम (हर्ष) और कभी वियोग (शोक) होता रहता है, किन्तु भगवच्चरणों की शरण में चले जाने पर फिर न हर्ष और न शोक ही रहता है। इसीलिए भगवान् के चरणों को एक अलौकिक किंवा अपूर्व सागर का रूपक प्रदान करता हुआ कवि कहता है कि

यह चरण-सरोवर वही सुख-योग्य अथवा आनन्दमय सागर है जहाँ पर भ्रम-रूपी रात्रि कभी नहीं होती, जहाँ पर शिव-सनकादि परमहंस रूपी हंस, नारदादि मुनि रूपी मीन विचरण करते हैं, जहाँ नख रूपी सूर्य की आभा से प्रकाशित होकर कमल खिले रहते हैं जिन्हें एक पल के लिए भी चन्द्रमा का डर नहीं है और जो अपनी सुगन्धि के निकलने के कारण अनेक मधुपों से गुंजित हैं, जिस सरोवर में सुन्दर मुक्ति रूपी मुक्ताफल की प्राप्ति होती है जिसका पवित्र अमृतमय रस पान किया जाता है, ऐसे सरोवर को छोड़कर अरे दुर्बुद्धि पक्षी ! यहाँ अर्थात् इस सांसारिक प्रपंच में रह कर क्या करता है ? सूरदास जी कहते हैं कि यह सरोवर ही क्षीर-सागर है जहाँ पर लक्ष्मीजी के सहित श्रीनारायण भगवान् की नित्य क्रीड़ा होती रहती है। इस प्रकार से शोभित होने वाले उस समुद्र की आशा में अब विषय-रस रूपी तलैया अच्छी नहीं लगती अर्थात् चरण-सरोवर के परमानन्द के समक्ष विषय-सुख अत्यन्त तुच्छ एवं हेय है।

विशेष—(क) यहाँ पर 'चकई' शब्द जीवात्मा का प्रतीक है जिसे संसार में रहकर सुख-दुःख, हर्ष-शोक, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वों को सहन करना पड़ता है। परमेश्वर सदा हर्ष-शोक से परे एवं स्वतंत्र है, अतः उस परम पिता की शरण में जाने पर जीव भी निर्द्वन्द्व हो जाता है और जो निर्द्वन्द्व हो जाता है, वह आसानी से बन्धन-मुक्त होकर परम-रस का आस्वादन करने लगता है। उपनिषदों में ब्रह्मानन्द को रस कहा है जिसे प्राप्त कर जीव भी आनन्द मग्न हो जाता है—"रसो वे सः। रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी-भवति।" यह रस अव्यक्त एवं अनिर्वचनीय होता है। इसके सामने विषय रस एक दम हेय ठहरता है।

(ख) १. 'चकई' 'सायर' तथा 'बिहंगम' में रूपकातिशयोक्ति।

२. 'चरन-सरोवर' 'भ्रम-निसा' 'सनक-सिब हंस' आदि में रूपक।

३. एक ही उपमेय 'चरन-सरोवर' का विभिन्न रूपों में उल्लेख होने के कारण उल्लेख अलंकार है।

(ग) निर्वेद स्थायीभाव होने के कारण शान्त रस है।

(घ) काव्य रूढ़ि के अनुसार चकवा और चकवी दिन में तो नदी या सरोवर के किनारे साथ ही साथ रहते हैं परन्तु रात्रि के समय उन दोनों का वियोग हो जाता है। इस प्रकार रात्रि उनके लिए कष्टदायक होती है।

(ङ) **सनक**—ब्रह्मा जी के चार मानस पुत्रों में से एक का नाम सनक है। अन्य तीनों के नाम हैं—सनंदन, सनातन और सनत्कुमार। कहा जाता है कि ये विष्णु के परम भक्त थे। इन चारों पुत्रों के विष्णु की भक्ति में निरत हो जाने पर ब्रह्माजी को अन्य पुत्रों की उत्पत्ति करनी पड़ी। ये विष्णु के सभासद भी कहे जाते हैं। इन चारों को सनकादि कहकर पुकारा जाता है।

(च) यह पद कबीर की पद शैली पर विरचित है।

(छ) भावसाम्य के लिए मिलाइए—

"हंसा प्यारे सरवर तजि कहँ जाय।" —कबीर।

चलि सखि, तिहिं सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल-कमला, रवि बिना बिकसाहिं।
हंस उज्जल पंख निर्मल, अंग मलि-मलि न्हाहिं।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुनि-चुनि खाहिं।
अतिहिं मगन महा मधुर रस, रसन मध्य समाहिं।
पदुम-बास सुगंध - सीतल, लेत पाप नसाहिं।
सदा प्रफुलित रहैं, जल बिनु निमिष नहिं कुम्हिलाहिं।
सघन गुंजत बैठि उन पर भौंरहू बिरमाहिं।
देखि नीरजु छिलछिलौ जग, समुझि कछु मन माहिं।
सूर क्यौं नहिं चलै उड़ि तहँ, बहुरि उड़िबौ नाहिं॥२२॥

शब्दार्थ—कमल-कमला=कमलों की लक्ष्मी, कमलों का वैभव। मलि-मलि=रगड़-रगड़ कर। रसन मध्य=जिह्वा के मध्य में। सघन=घने, बहुत-से। बिरमाहिं=विराम करते हैं, आनन्द लेते हैं।

प्रसंग—यह पद भी पूर्ववर्ती पद की भाँति श्री चरण-सरोवर-महात्म्य का उद्घोष करने वाला है। कथावस्तु लगभग समान है।

व्याख्या—चित् रूपी चकवा बुद्धि रूपी चकवी से कहता है कि हे सखी! चल, उसी सरोवर पर चलें जिसमें कि कमल-सम्पदा बिना सूर्य के ही विकसित होती रहती है। वहाँ पर निर्मल पंख वाले उज्ज्वल हंस हैं जो उस सरोवर में अपने अंगों को मल-मल कर धोकर स्नान करते हैं। हंसों से अभिप्राय ब्रह्मानन्द-लीन शिव-सनकादि परमहंसों से है। वहाँ पर अगणित

मुक्ति रूपी मुक्ताफल हैं जिन्हें वे चुन-चुन कर खाते हैं, जिससे वे उस महामधुर रस में अत्यन्त ही निमग्न होकर अपनी रसना के मध्य में ही समाए हुए हैं। अभिप्राय यह है कि वह रस रसना के मध्य ही समाने वाला अर्थात् अनिर्वचनीय है। सूर के ही शब्दों में—

"ज्यों गूँगैं मीठे फल कौ रस, अन्तरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौ अगम अगोचर सो जानै जो पावै।।"

उस सरोवर में कमलों का निवास है जिनकी शीतल सुगन्ध को ग्रहण करते ही पापों का नाश हो जाता है। वे कमल सदा प्रफुल्लित रहने वाले हैं जो जल के बिना कभी नहीं सूखते। यहाँ पर कमल हरि-भक्तों के प्रतीक हैं जो विषय-रूपी जल से विमुख रहकर सदा प्रसन्न रहते हैं। उन कमलों के ऊपर असंख्य भौंरे गुंजार करते हुए विश्राम करते हैं। इस संसार रूपी जल को छिछला (गन्दा) देखकर अब भी मन में कुछ सोच-समझ ले। सूरदासजी कहते हैं कि तू वहाँ पर क्यों नहीं उड़ चलती? फिर उड़ना नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि मनुष्य-शरीर प्राप्त कर यदि तुम परमपद-प्राप्ति के अधिकारी नहीं हो सके तो फिर यह अवसर मिलने वाला नहीं।

विशेष—(क) भारतीय दार्शनिकों ने परमपद अथवा ब्रह्मलोक को स्वतः प्रकाश कहा है, उसे न कोई सूर्य प्रकाशित करता है और न चन्द्र, उसको प्राप्त कर लेने पर जीव आवागमन के चक्कर से छूट जाता है; जैसाकि श्रीमद्भागवद्गीता में स्वयं भगवान् कृष्ण ने कहा है—

"न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम।।" (गीता ८।१२)

(ख) सरोवर, कमल, रवि, हंस, भ्रमर, नीर आदि प्रतीकात्मक शब्द हैं, अतः कहा जा सकता है कि यहाँ पर प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग हुआ है।

(ग) सम्पूर्ण पद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

(घ) शान्त रस है।

अपुनपौ आपुन ही बिसर्‌यौ।
जैसें स्वान काँच-मंदिर मैं, भ्रमि-भ्रमि भूकि पर्‌यौ।
ज्यौं सौरभ मृग-नाभि बसत है, द्रुम-तृन सूँघि फिर्‌यौ।
ज्यौं सपने मैं रंक भूप भयौ, तसकर अरि पकर्‌यौ।

ज्यौं केहरि प्रतिबिंब देखि कै, आपुन कूप पर्‌यौ।
जैसैं गज लखि फटिकसिला मैं, दसननि जाइ अर्‌यौ।
मर्कट मूंठ छाँड़ि नहिं दीन्ही, घर-घर-द्वार फिर्‌यौ।
सूरदास नलिनी कौ सुवटा, कहि कौनें पकर्‌यौ ॥२३॥

शब्दार्थ—अपुनपौ=अपनापन, आत्म-ज्ञान। बिसर्‌यौ=विस्मृत हो गया। भ्रमि-भ्रमि=घूम-घूमकर। सौरभ=कस्तूरी का गन्ध। द्रुम-तृन=वृक्ष और घास। रंक=निर्धन, दरिद्र। तसकर=चोर। केहरि=सिंह। दसननि =दाँतों से। नलिनी कौ सुवटा=नलकी के ऊपर बैठा हुआ तोता।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास द्वारा प्रणीत 'सूरसागर' के आत्म-ज्ञान-विषयक 'विनय' के पदों में से लिया गया है। प्रस्तुत पद में कवि ने सांसारिक मिथ्या प्रपंचों में आत्मा का अपने आप बन्धन किस प्रकार हुआ, इस बात को युक्तियों द्वारा समझाया है।

व्याख्या—संसार-बद्ध जीव को आत्म-ज्ञान अपने-आप ही विस्मृत हो गया। इस तथ्य की यथार्थता सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित उदाहरण दिए गए हैं—जिस प्रकार काँच के मन्दिर में कुत्ता अपने प्रतिबिम्ब को दूसरा कुत्ता समझकर चारों ओर घूम-घूमकर भौंकता फिरता है। जिस प्रकार नाभिदेश में विद्यमान कस्तूरी की सुगन्ध से अनभिज्ञ मृग वन के वृक्षों और तिनकों को सूंघता फिरता है। जिस प्रकार स्वप्न में कोई दरिद्र पुरुष राजा हो गया हो, अथवा किसी चोर को शत्रु (पुलिस आदि) ने पकड़ लिया हो। जिस प्रकार सिंह कुँए में अपनी परछाईं को ही सिंह समझकर भ्रमवश कुंए में कूद पड़ता है। जिस प्रकार स्फटिक मणियों की शिला में हाथी अपना प्रतिबिम्ब देख कर अपने दाँतों से अड़ जाता है। मदारी के बन्दर ने भी भ्रम-वश मदारी की लकड़ी की मूंठ को नहीं छोड़ा तभी तो वह घर-घर के द्वार पर घूमता फिरा। सूरदास जी कहते हैं कि नलकी के ऊपर बैठने वाले तोते को, कहिए, किसने पकड़ा? अर्थात् अपने-आप बन्धन में पड़ा।

विशेष—(क) श्वान आदि सभी प्राणी असत्य को ही सत्य समझ कर दुःख के पात्र बने। सच पूछिए तो मायादि सकल जड़-समूह मिथ्या है, स्वप्न है। तुलसी के शब्दों में—

"सपनें होइ भिखारि नृप, रंक नाक-पति होइ।
जागें हानि न-लाभ कछु, तिमि प्रपंच-गति जोइ॥"

इस असत्य प्रपंच को सत्य समझकर उसी की ओर आकृष्ट हो जाने से ही आत्मा सांसारिकता-बद्ध हो गई और उसने आत्म-ज्ञान को बिलकुल ही भुला दिया। इसलिए मनुष्य का जन्म प्राप्त कर लेने पर हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम तत्त्व-ज्ञान के द्वारा अयथार्थ प्रपंचों का परित्याग कर शुद्ध-सच्चिदानन्द एवं परम सत्य-स्वरूप महाप्रभु श्री नारायण का भजन कर अपना उद्धार करें।

(ख) १. उदाहरण और दृष्टान्त अलंकार हैं।
२. अनुप्रास की छटा दर्शनीय है।
३. भ्रमि-भ्रमि, घर-घर में पुनरुक्ति प्रकाश।

(ग) **नलकी**—तोते को पकड़ने के लिए एक पोली लकड़ी के भीतर लोहे या लकड़ी का छड़ डालकर उसके आगे खाने का पदार्थ लगा देते हैं। जब तोता उस पदार्थ को खाने के लालच में आकर उस पर बैठता है तभी वह नलिका घूम जाती है। तोता अपने पंजों से उस नलिका को मजबूती से पकड़े रहता है लेकिन उसे भ्रम यह होता है कि उसे किसी दूसरे ने पकड़ लिया है। इसी भ्रम के कारण वह पकड़ा जाता है।

(घ) शान्त रस।

कृष्ण का शैशव

आनंदै आनंद बढ़यौ अति।
देवनि दिवि दुंदुभी बजाई, सुनि मथुरा प्रगटे जादवपति।
विद्याधर-किन्नर कलोल मन उपजावत मिलि कंठ अमित गति।
गावत गुन गंधर्व पुलकि तन, नाचति सब सुर-नारि रसिक अति।
बरषत सुमन सुदेस सूर-सुर जय-जयकार करत मानत रति।
सिव-बिरंञ्चि-इन्द्रादि अमर मुनि, फूले सुख न समात मुदित मति ॥२४॥

शब्दार्थ—दिवि=स्वर्ग लोक में। सुदेस=सिर। रति=प्रेम। बिरञ्चि =ब्रह्माजी।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'गोकुल लीला' नामक प्रकरण से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में श्रीकृष्ण का मथुरा में अवतार होने के समय देव-लोक में होने वाले आनन्दोल्लास का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—सर्वत्र आनन्द ही आनन्द बढ़ गया। देवताओं ने यह सुनकर कि मथुरा में यादवपति श्रीकृष्ण प्रकट हुए हैं, स्वर्गलोग में दुन्दुभी बजा दी। विद्याधर और किन्नर अत्यन्त प्रमुदित मन से कंठ से कंठ मिलाकर सुन्दर गीत गाते हैं। गन्धर्व लोग पुलकित शरीर से गुण-गान करते हैं और अत्यन्त रसिक देवांगनाएँ नृत्य करती हैं। सूरदासजी कहते हैं कि भगवान् के ऊपर सुमन-वृष्टि होती है और देवतालोग बड़े प्रेम के साथ जय-जयकार करते हैं। शिव, ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता और मुनि अत्यन्त प्रसन्न होकर सुख के कारण फूले नहीं समाते।

विशेष—(क) देवताओं के आनन्दित होने का कारण यही है कि भगवान् सुर-रंजन और भव-भंजन हैं। वे साधु-पुरुषों के परित्राण, दुष्टों के विनाश और धर्म की स्थापना के लिए ही युग-युगान्तर में अवतरित होते हैं—

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ गीता।४।८॥

कृष्ण के अवतार होने पर सबको विश्वास हो गया कि अब कंस, शिशुपाल आदि क्रूर-कर्मा दानवों का विनाश होना निश्चित है, इसीलिए देवलोक में अति आनन्द की वृद्धि हुई।

(ख) **अलंकार**—देवनि दिवि दुन्दुभी, गावत गुन गन्धर्व, सुमर सुदेस सूर सुर—में वृत्यानुप्रास।

(ग) फूले फिरना, सुख में न समाना—आदि मुहावरों का काव्यात्मक प्रयोग किया गया है।

सोभा-सिंधु न अंत रही री।
नन्द-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बही री।
देखी जाइ आजु गोकुल मैं, घर घर बेंचति फिरति दही री।
कहँ लगि कहौं बनाइ बहुत बिधि, कहत न मुख सहसहुँ निबही री।
जसुमति - उदर - अगाध - उदधि तैं, उपजी ऐसी सबनि कही री।
सूरस्याम प्रभु इन्द्र-नीलमनि, ब्रज-बनिता उर लाइ गही री॥२५॥

शब्दार्थ—सोभा-सिन्धु=शोभा रूपी नदी। बीथिनि=गलियों में। निबही=बनती। जसुमति-उदर-अगाध-उदधि तें=यशोदा जी के उदर रूपी गहरे समुद्र से। ब्रज-बनिता=गोपी, ब्रजांगना।

प्रसंग—अवतरित पद सूरदासजी के 'सूरसागर' के 'कृष्ण का शैशव' नामक प्रसंग से उद्धृत है। गोकुल में दही बेचने के लिए आई हुई गोपी ने कृष्ण के जन्म से उत्पन्न जिस अप्रतिम शोभा का दर्शन किया उसी का उसने अपनी सखियों के प्रति वर्णन किया है।

व्याख्या—अरी सखी ! गोकुल में शोभा की सरिता का कोई अन्त (ओर-छोर) नहीं दिखाई देता। वह नन्द-भवन से भरपूर उमँग कर चलकर ब्रज की गलियों में बही फिरती है। मैंने वह आज ही गोकुल में जाकर देखी है जबकि मैं घर-घर दही बेचती फिरती थी। मैं उस शोभा-सिन्धु का वर्णन अनेक युक्तियाँ बनाकर कहाँ तक कहूँ ? वह तो सहस्रों मुखों से भी कहते नहीं बनती। इस सरिता के विषय में सबने ऐसा कहा है कि वह यशोदाजी के उदर रूपी गम्भीर सागर से उत्पन्न हुई है। सूरदासजी कहते हैं कि ब्रज-वनिता ने प्रभु रूपी इन्द्रनीलमणि को हृदय में लाकर ग्रहण कर लिया, अर्थात् भगवान् की वह अप्रतिम शोभा उसके हृदय में समा गई।

विशेष—(क) भगवान् के तीन रूपों—शक्ति, शील और सौन्दर्य में से यहाँ पर परम सौन्दर्य का विवेचन है। सौन्दर्य के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है, इसीलिए ब्रजांगनाओं ने उस परम शोभामयी मूर्ति को अपने हृदय में धारण कर लिया।

(ख) 'सोभा-सिन्धु', 'जसुमति-उदर-अगाध-जलधि' तथा 'प्रभु इंदु नील-मनि' में रूपक अलंकार है।

(ग) शृंगार के 'हर्ष' नामक संचारी-भाव का वर्णन है।

जसोदा हरि पालनें झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोई कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं न आनि सुवावै।
तू काहैं नहिं बेगिहिं आवै, तोकौं कान्ह बुलावै।
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवति जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावै।
इहिं अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावै।
जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ, सो नंद-भामिनि पावै ॥२६॥

शब्दार्थ—हलरावै=इधर-उधर हिलाती-डुलाती है। मल्हावै=चुमकारती है। अधर=होंठ। सैन=संकेत, इशारा। इहिं अन्तर=इसी बीच। नन्द-भामिनि=नन्द-पत्नी, यशोदा।

प्रसंग—प्रस्तुत पद महाकवि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'कृष्ण का शैशव' चरित से लिया गया है। शिशुरूपधारी कृष्ण अपने शैशव-चरितों से माता यशोदा को किस प्रकार आनन्द विभोर करते रहते हैं, उसकी एक झलक यहाँ पर दर्शनीय है।

व्याख्या—यशोदा श्रीकृष्ण को पालने में झुलाती है। वह इधर-उधर हिलाती-डुलाती है, दुलार कर चुमकारती है और जो कुछ ध्यान में आता है उसी को गाने लगती है। वह अपने लाल को पालने में झुलाती हुई कहती है कि अरी नींदरिया (निद्रा)! तू मेरे लाल को आ। क्यों नहीं आकर उसे सुलाती? तू जल्दी क्यों नहीं आती? तुझे कन्हैया बुला रहा है। यशोदा के इन क्रियाकलापों का परिणाम यह होता है कि कभी तो कृष्ण पलकों को मूँद लेते हैं और कभी अधर फड़काने लगते हैं। उन्हें सोता हुआ जानकर मौन होकर, संकेतों के द्वारा बात बतलाती है। इसी बीच श्रीकृष्ण अकुलाकर उठ बैठे, यशोदा फिर मधुर स्वर से गाने लगती है। सूरदासजी कहते हैं जो लीला-सुख देवताओं और मुनियों के लिए दुर्लभ है, उस सुख को नन्दरानी प्राप्त करती है।

विशेष—(क) भगवान् की लीलाएँ भी भक्तों के आनन्द का कारण होती हैं। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ही वे लोक-लीलाएँ करते हैं। इस लीला-सुख का आस्वादन करने के अधिकारी वे ही हैं जो अपना सर्वस्व अर्थात् मन, बुद्धि आदि महाप्रभु श्रीकृष्ण को अर्पण कर चुके हैं। इस लीला-सुख का अधिकारी प्रत्येक प्राणी है, चाहे वह स्त्री, वैश्य, शूद्र हो, चाहे कीट-पतंग हो, चाहे सदाचारी हो, चाहे दुराचारी। गीता में भी यही कहा गया है—

मां हि पार्थ व्यापाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परी गतिम् ॥९।३२॥

(ख) माता की ममता और अबोध शिशु के क्रिया-कलापों का कैसा जीवन्त एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है।

(ग) वात्सल्य रस है।

नेंकु गोपालहिं मोकौं दै री।
देखौं वदन कमल नीकैं करि, ता पाछैं तू कनियाँ लै री।
अति कोमल कर चरन सरोरुह, अधर-दसन-नासा सोहै री।
लटकन सीस, कंठ मनि भ्राजत, मनमथ कोटि बारनैं गै री।
बासर-निसा बिचारति हौं सखि, यह सुख कबहुँ न पायौ मैं री।
निगमनि-धन सनकादिक-सरबस बड़े भाग्य पायौ है तैं री।
जाकौ रूप जगत के लोचन, कोटि चन्द्र-रवि लाजत भै री।
सूरदास बलि जाइ जसोदा, गोपिनि-प्रान, पूतना-बैरी ॥२७॥

शब्दार्थ—वदन=मुख । कनियाँ=गोद । सरोरुह=कमल । दसन=दांत । नासा=नाक । भ्राजत=प्रकाशित है, शोभित है । मनमथ कोटि=करोड़ों कामदेव । नारनैं गै री=वारने में चले गये, निछावर हो गए । निगम=वेद ।

प्रसंग—अवतरित पद कृष्ण की बाल-लीलाओं के पूतना-वध नामक प्रसंग का है । प्रस्तुत पद में कपट-भरी पूतना का यशोदा के प्रति विनीत निवेदन और उसके द्वारा कृष्ण के अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन हुआ है ।

व्याख्या—पूतना कहती है कि अरी यशोदा मैया ! गोपाल को थोड़ी देर के लिए मुझे दे दे । मैं उसके मुख-कमल को अच्छी प्रकार से देख लूं, तत्पश्चात् तू अपनी गोद में ले लेना । उसके कर और चरण कमल के समान अति कोमल हैं, अधर, दशन और नासिका शोभा पा रहे हैं । सिर पर लटकन और कण्ठ में मणि प्रकाशित है, उस पर करोड़ों कामदेव निछावर हो रहे हैं । हे सखि ! मैं दिन-रात विचार करती हूँ, किन्तु मैंने यह सुख कभी नहीं प्राप्त किया । जो वेदों का धन अर्थात् प्रतिपाद्य विषय और सनकादि परमहंसों का सर्वस्व है, उसे तूने बड़े भाग्य से प्राप्त किया है । जिसका रूप जगत के नेत्र हैं अर्थात् जो सर्वत्र विद्यमान है, इसमें श्रुति प्रमाण भी है—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।" अथवा सारा संसार उसी के रूप से प्रकाशित है—"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।" जिसके तेज के सामने करोड़ों चन्द्रमा और सूर्य लज्जित हो जाते हैं । सूरदासजी कहते हैं कि उसी गोपियों के प्राण और पूतना के बैरी कृष्ण पर यशोदा बलिहार जाती है ।

विशेष—(क) कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन कृष्ण-भक्ति-पद्धति के अनुसार है ।

(ख) १. 'मनमथ कोटि बारनें गे री' तथा 'कोटि चंद्र-रवि लाजत भै री' में व्यतिरेक अलंकार है।

२. 'वदन कमल'; 'कर-चरन-सरोरुह' में रूपक अलंकार है।

(ग) वात्सल्य रस है।

कर पग गहि, अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले, हरषि-हरषि अपनें रंग खेलत।
सिव सोचत, बिधि बुद्धि बिचारत, बट बाढ़यौ सागर-जल- झेलत।
बिडरि चले घन प्रलय जानि कै, दिगपति दिग-दंतीनि सकेलत।
मुनि मन भीत भए, भुव कंपित, सेष सकुचि सहसो फन पेलत।
उन ब्रज-बासिनि बात न जानी, समुझे सूर सकट पग ठेलत ॥२८॥

शब्दार्थ—मेलत=डालते हैं। पौढ़े=लेटे हुए। बिधि=ब्रह्माजी। बट=बरगद, वट-वृक्ष। बिडरि चले=भागने लगे। दिगपति=इन्द्रादि दिक्पाल। दिग-दन्तीनि सकेलत=दिग्गजों अर्थात् दिशाओं के हाथियों को इकट्ठा करते हैं। पेलत=हटाते हैं। ठेलत=ठोकर मारते हैं।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास के 'सूरसागर' के 'कृष्ण का शैशव' नामक शीर्षक से उद्‌घृत है। प्रस्तुत पद में श्रीकृष्ण के पैर का अँगूठा चूसने की चेष्टाओं का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण अकेले ही पालने में लेटे हुए हाथ से पैर को पकड़ कर उसके अँगूठे को मुँह में डाले हुए अपने रंग में प्रसन्न हो-होकर खेल रहे हैं। उस समय शिव सोचने लगे और ब्रह्माजी भी बुद्धि में विचारने लगे कि समुद्र के जल के आघात को झेलता हुआ वट-वृक्ष बढ़ रहा है। प्रलय-काल जानकर मेघ भी तितर-बितर होने लगे, इन्द्रादि दिक्पाल दिग्गजों को इकट्ठा करने लगे, मुनि लोग मन में भय-भीत हो गए, पृथ्वी काँपने लगी और शेष नाग भी सकुचाकर अपने सहस्र फनों को हटाने लगे। भाव यह है कि कृष्ण के शकट में लात मारने से ब्रह्मा-शिव जैसे सर्वज्ञों को भी प्रलय का भ्रम हो गया। उनके इस विस्मयजनक कार्य को ब्रज-वासी लोग भी नहीं समझ सके, हाँ, जो सूर (भगवान के अनन्य भक्त) थे वे समझ गए कि भगवान् ने शकट में पैर से लात मारकर उसे उछाल फेंका है।

विशेष—(क) भागवत, मार्कण्डेय आदि पुराणों में यह वर्णन मिलता है कि जब सृष्टि-प्रलय होती है तब समुद्र उफन पड़ता है। समुद्र-तरंगों के

आघात को सहन करता हुआ एक महावट शेष रह जाता है जिसके विशाल दल पर शिशु-वेश-धारी भगवान विष्णु अपने दाएँ पैर का अँगूठा पीते हुए आनन्द-मग्न हो जाते हैं। कृष्ण द्वारा उसी भंगिमा को अपनाए जाने पर ब्रह्मा, शिव आदि सबको प्रलय का-सा आभास होने लगा था।

(ख) १. भ्रांतिमान।

२. हरषि-हरषि में पुनरुक्ति प्रकाश।

३. अनुप्रास की छटा।

(ग) अद्‌भुत एवं वात्सल्य रस।

(घ) सकट—छकड़ा या गाड़ी को कहते हैं परन्तु यहाँ अभिप्राय शकटासुर से है।

जसुदा मदन गुपाल सोवावै।
देखि सयन-गति त्रिभुवन कँपै, ईस बिरंचि भ्रमावै।
असित-अरुन-सित आलस लोचन उभय पलक परि आवै।
जनु रबि-गत संकुचित कमल-जुग, निसि अलि उड़न न पावै।
स्वास उदर उससित यौं, मानौ दुग्ध-सिंधु छबि पावै।
नाभि-सरोज प्रगट पदमासन उतरि नाल पछितावै।
कर सिर-तर करि स्याम मनोहर, अलक अधिक सोभावै।
सूरदास मानौं पन्नगपति, प्रभु ऊपर फन छावै ॥२६॥

शब्दार्थ—सयन-गति=सोने के ढंग। ईस=शिव। बिरंचि=ब्रह्मा। असित=काले। अरुन=लाल। सित=श्वेत। आलस लोचन=अलसाए नेत्र। रबि-गत=सूर्यास्त हो जाने पर। उससित=उच्छ्‌वसित, उच्छ्‌वास लेता हुआ। दुग्ध-सिंधु=क्षीर-सागर। पद्‌मासन=ब्रह्मा। अलक=केशों की लटें। पन्नगपति=सर्पों के राजा अर्थात् शेषनाग।

प्रसंग—अवतरित पद भक्त शिरोमणि सूरदास-विरचित 'सूरसागर' के 'कृष्ण का शैशव' नामक शीर्षक से उद्‌धृत है। प्रस्तुत पद में श्री यशोदा जी द्वारा सुलाए जाते हुए शिशु-कृष्ण की छवि का काव्यमय वर्णन किया गया है।

व्याख्या—यशोदा अपने मदन-गोपाल को सुलाती है। उनकी शयन-गति को देखकर त्रिभुवन काँपने लगता है और शिव तथा ब्रह्मा भी भ्रम में पड़ जाते हैं। भाव यह है कि ब्रह्मा और शिव भी उनके मर्म को नहीं जान पाते,

जिसका प्रमाण पूर्ववर्ती पद "कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत" में ही देखा जा सकता है। उनके 'सेत-स्याम-रतनारे' अलसाए हुए दोनों नेत्रों पर पलक आकर झुकने लगते हैं, जिन्हें देखकर ऐसा लगता है मानो सूर्यास्त हो जाने पर दो कमल संकुचित हो गए हैं जिनमें बन्द हुए दो भौंरे रात्रि के समय उड़ने नहीं पाते। श्वास से उच्छ्वसित उदर तो इस प्रकार शोभा पा रहा है मानो क्षीर-सागर हो जिसमें विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल से प्रकट होने वाले ब्रह्मा कमल-नाल से उतर कर पछता रहे हों। भाव यह है कि कमल नाल से उत्पन्न हुए ब्रह्मा के द्वारा जल में थाह लेने से जिस प्रकार उसमें चंचलता आ गई थी, इसी प्रकार कृष्ण का उदर भी श्वास-प्रश्वासों के कारण प्रकम्पित है। श्री श्याम मनोहर के हाथ सिर के नीचे कर लेने पर, सूरदास जी कहते हैं कि, अलकों की और अधिक शोभा इस प्रकार बढ़ जाती है मानो पन्नगराज शेषजी प्रभु के ऊपर अपने फणों का आच्छादन किए हुए हैं। यहाँ पर शेष नाग कर का उपमान है और अलकें फनों का।

विशेष—(क) १. सगुणोपासकों की परम्परा का अनुसरण करते हुए ही सूर ने अपने आराध्य देव के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य का वर्णन किया है।

२. भक्तों का यह विश्वास है कि भगवान अपने दासों पर अनुग्रह करने के लिए ही लोक-लीला करते हैं, जिनका ध्यान एवं सेवन करने से वे कैवल्य-पद के अधिकारी हो जाते हैं। वेदान्त का "लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" सूत्र इसका प्रमाण है। पर उनकी ये लोक-लीलाएँ ब्रह्मादिक ईश्वरों को भी भ्रमित कर देती हैं, जैसा कि सूर ने ही ऊपर कहा है—"देखि सयन-गति त्रिभुवन कंपै, ईस-बिरंचि भ्रमावै।" गोस्वामी तुलसीदास का भी यही विश्वास है, जैसा कि उन्होंने 'रामचरित-मानस' के 'अयोध्याकांड' में कहा है—

"जग-पेखन तुम देख निहारे। विधि-हरि-संभु नचावनि हारे।
ते उन जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननिहारा॥"

(ख) 'जनु' और 'मानो' का प्रयोग करने से पलक, नेत्र आदि उपमेयों में कमल, भ्रमर आदि उपमानों की संभावना की गई है, अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(ग) शिशु-कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन होने के कारण यहाँ पर वात्सल्य रस है जो भक्ति-भाव-मिश्रित है।

सुत-मुख देखि जसोदा फूली।
हरषित देखि दूध की दँतियाँ, प्रेम मगन तन की सुधि भूली।
बाहिर तैं तब नंद बुलाए, देखौ धौं सुन्दर सुखदाई।
तनक-तनक सी दूध-दँतुलियाँ, देखौं, नैन सफल करौ आई।
आनँद सहित महर तब आए मुख चितवत दोउ नैन अघाई।
सूर स्याम किलकत द्विज देख्यौ, मनौ कमल पर बिज्जु जमाई ॥३०॥

शब्दार्थ—फूली=प्रसन्न हुई। तनक-तनक सी=छोटी-छोटी। अघाई=तृप्त होकर। द्विज—दाँत। बिज्जु=विद्युत, बिजली।

प्रसंग—अबोध शिशुता को पारकर कृष्ण के दो दूध के दाँत जम आए, जिससे नन्द-यशोदा परमानन्दित हुए। उसी चरित का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—पुत्र के मुख को देखकर यशोदा अत्यन्त प्रसन्न हुई। हर्ष के साथ दूध की दँतियों को देखकर वह ऐसी प्रेम-मग्न हुई कि शरीर की सुध-बुध खो बैठी। तब उसने बाहर से नन्द को बुलाकर कहा, अरे इस सुन्दर सुखदायी बालक को तो देखो। इसके छोटी-छोटी दूध की दँतुलियाँ निकल आई हैं, देख लो, आकर, अपने नेत्रों को सुफल (कृतार्थ) कर लो। तब नन्द महर आनन्दपूर्वक आए और दोनों नेत्रों से तृप्त होकर मुख की ओर देखने लगे। सूरदासजी कहते हैं कि श्रीश्याम के किलकने पर वे छोटे-छोटे दाँत ऐसे दिखाई दिए मानो कमल पर बिजली जम आई हो।

विशेष—(क) 'सूर स्याम……………जमाई' में द्विज अर्थात् दाँत में बिज्जु और मुख में कमल की संभावना की गई है, अत: उत्प्रेक्षा अलंकार है।
(ख) वात्सल्य रस है।

ललन, हौं या छबि-ऊपर वारी।
बाल गोपाल लागौ इन नैननि, रोग-बलाइ तुम्हरी।
लट लटकनि, मोहन मसि-बिंदुका-तिलक भाल सुखकारी।
मनौ कमल-दल सावक पेखत, उड़त मधुप छबि न्यारी।
लोचन ललित, कपौलनि काजर, छबि उपजति अधिकारी।
सुख में सुख औरै रुचि बाढ़ति, हँसत देत किलकारी।
अलप दसन, कलबल करि बौलनि, बुधि नहिं परत बिचारी।
बिकसति ज्योति अधर-बिच, मानौ बिधु मैं बिज्जु उज्यारी।

सुंदरता कौ पार न पावति, रूप देखि महतारी।
सूर सिंधु की बूँद भई मिलि मति-गति-दृष्टि हमारी ॥३१॥

शब्दार्थ—वारी=निछावर हो गई। बलाइ=आपदा। मसि-बिंदुका-तिलक=काला टीका, दिठौना। सावक=बच्चा। ललित=सुन्दर। अधिकारी=अधिक। रुचि=प्रसन्नता। अलप दसन=छोटे दाँत। कलबल करि बोलनि=तोतले वचन।

प्रसंग—अवतरित पद कवि-शिरोमणि सूरदास कृत 'सूरसागर' के 'कृष्ण का शैशव' नामक प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में पुत्र के परम सौन्दर्य से परम प्रफुल्लित माता यशोदा द्वारा बाल गोपाल की अनुपम छवि का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—अरे ललन! मैं तेरी इस छवि के ऊपर निछावर हो गई। बाल-गोपाल! तुम्हारी रोग-बलाय अर्थात् सभी प्रकार के अनिष्ट मेरे इन नेत्रों में न लगें; अर्थात् मेरी ये आँखें फूट जाएँ पर तुम्हें मेरी नजर न लगे और न और ही कोई अनिष्ट हो। तुम्हारी लटों का लटकना, मोहित करने वाला माथे का दिठौना इस प्रकार सुखकारी हैं मानो छोटे-से कमल-दल को देखते ही अनुपम छवि वाले भौंरे उस पर मँडराने लगते हैं। नेत्र सुन्दर हैं, कपोलों पर काजल है (बच्चों के गालों पर काजल के निशान लगा दिए जाते हैं ताकि उन्हें नजर न लगे), जिससे बहुत अधिक छवि उत्पन्न होती है और जब किलकारी देते हुए हँसते हो तब सुख में सुख और अधिक बढ़ जाता है। छोटे दाँतों को देखकर और तोतले वचनों को सुनकर बुद्धि विचार-शून्य हो जाती है। अधरों के बीच में विकसित दशन-ज्योति अथवा अधरों की लालिमा को देखकर ऐसा लगता है मानो चन्द्रमा में बिजली का प्रकाश हो। मोहन के रूप को देखकर माता यशोदा सुन्दरता का अन्त नहीं प्राप्त कर पाती। सूरदासजी कहते हैं कि उस रूप-सौन्दर्य से मिलकर (एकाकार होकर) हमारी बुद्धि, गति (मन) और दृष्टि समुद्र की बूंद हो गई है। भाव यह है कि जिस प्रकार बूंद की व्यष्टि समुद्र की समष्टि में मिलकर तद्रूप हो जाती है, उसी तरह हमारी 'मति-गति-बुद्धि' उस अथाह एवं अपार रूप-सागर में मिलकर एकाकार हो गई है।

विशेष—(क) कृष्ण के रूप सौन्दर्य का वर्णन है जो सर्वथा भक्त-परम्परानुसारी है।

(ख) अलंकार—

१. चौथी और आठवीं पंक्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

२. अन्तिम चरण में लुप्तोपमा।

३. लट लटकनि, सूर सिंधु, लोचन ललित में छेकानुप्रास।

(ग) वात्सल्य रस है।

लाल, हों वारी तेरे मुख पर।
कुटिल अलक, मोहनि मन बिहँसनि, भृकुटी बिकट ललित नैननि पर।
दमकति दूध-दँतुलियाँ बिहँसत, मनु सीपज घर कियौ बारिज पर।
लघु-लघु लट सिर घूँघरवारी, लटकन लटकि रह्यौ माथें पर।
यह उपमा कापै कहि आवै, कछुक कहौं सकुचति हौं जिय पर।
नव-तन-चंद्र-रेख-मधि राजत, सुरगुर-सुक्र उदोत परसपर।
लोचन लोल कपोल ललित अति, नासा कौ मुकता रद छद पर।
सूर कहा न्यौछावर करिये अपने लाल ललित लरखर पर॥३२॥

शब्दार्थ—कुटिल=वक्र, टेढ़े। सीपज=मोती। नव-तन-चंद्र-रेख-मधि=नूतन (द्वितीया के) चन्द्रमा की रेखा के मध्य में। सुरगुरु=वृहस्पति। उदोत परसपर=एक साथ उदय हुए हैं। लोल=चंचल। मुकता=मोती। रद-छद=होठ। लरखर=लड़खड़ाना।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास-प्रणीत 'सूरसागर' के 'कृष्ण का शैशव' नामक प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में कवि ने यशोदा के द्वारा शिशु कृष्ण के मुख-सौन्दर्य का वर्णन कराया है।

व्याख्या—हे लाल! मैं तेरे मुख पर न्यौछावर हो गई। तेरे कुटिल अलक हैं, मन को मोहित करने वाली हँसी है और तेरे सुन्दर नेत्रों पर बाँकी भौंहें हैं। हँसते समय दूध की दँतुलियाँ इस प्रकार दमकती हैं मानो मोतियों ने कमल पर वास कर लिया हो। सिर पर छोटी-छोटी घुंघराली लटें हैं, माथे पर लटकन लटक रहा है। ऐसा लगता है मानो दूज के चन्द्र-मण्डल के मध्य एक साथ उदय हुए वृहस्पति और शुक नामक नक्षत्र प्रकाशित हों। नेत्र चंचल हैं, कपोल अति सुन्दर हैं और नाक का मोती होठों पर विद्यमान है। सूरदासजी कहते हैं कि यशोदाजी कह रही हैं कि मैं अपने लाल की सुन्दर लड़खड़ाहट पर क्या न्यौछावर कर दूँ? अर्थात् उनका लड़खड़ाना भी अत्यन्त मनोहारी है।

विशेष—(क) सगुणोपासकों की तरह ही सूरदास ने अपने आराध्य देव 'बाल-गोपाल' के नख-शिख-सौन्दर्य का वर्णन किया है।

(ख) माधुर्य गुण है।

(ग) वात्सल्य रस है।

(घ) **अलंकार**

१. तृतीय और छठे चरण में उत्प्रेक्षा।
२. लघु-लघु में पुनरुक्ति प्रकाश।
३. दमकति दूध-दंतुलियाँ, लाल ललित लरखर—में वृत्यानुप्रास।
४. अन्यत्र छेकानुप्रास।

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरनि चलत रेनु-तन-मण्डित, मुख दधि लेप किए।
चारु कपोल लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिए।
लट-लटकनि मनु मत्त मधुप गन मादक मधुहिं पिए।
कठुला-कंठ, बज्र केहरि नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख, का सत कलप जिए॥ ३३॥

शब्दार्थ—नवनीत=मक्खन। रेनु-तन-मण्डित=धूल-धूसरित शरीर। चारु=सुन्दर। गोरोचन=एक सुगन्धित पदार्थ जिसकी उत्पत्ति गाय के पित्त से मानी जाती है। मत्त=मतवाला। सत=सौ, सैकड़ों।

प्रसंग—प्रस्तुत पद सूरदास ने अपने 'सूरसागर' में 'कृष्ण का शैशव' के प्रसंग में गाया है। इस पद में कवि ने हाथ में मक्खन लिए हुए बाल-गोपाल के नख-शिख सौन्दर्य का वर्णन किया है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण हाथ में नवनीत लिए हुए शोभित हैं। घुटनों के बल चलने से उनका शरीर धूल-धूसरित है, मुख पर वे दधि का लेप किए हुए हैं। उनके कपोल सुन्दर हैं, नेत्र चंचल हैं और माथे पर गोरोचन का तिलक लगा हुआ है। उनकी लटें इस प्रकार लटकी हुई हैं मानो मादक मधु का पान किए हुए मतवाले भौंरे हों। उनके सुन्दर वक्षःस्थल पर वज्र और सिंह का नख तथा कंठ में कठुला शोभायमान है। सूरदास जी कहते हैं कि यह (इस छवि को निहारने का) सुख तो एक पल का भी श्लाघ्य है, फिर सैकड़ों कल्पों तक जीने से क्या लाभ? अर्थात् कोई लाभ नहीं।

विशेष—(क) कृष्ण के नख-शिख-सौन्दर्य एवं अंग-प्रत्यंग में धारण किए हुए आभरणों का वर्णन है जो सगुणोपासना के लिए नितान्त आवश्यक है।

(ख) **अलंकार**

१. "लट लटकनि........मधुहिं पिए" में उत्प्रेक्षा अलंकार।

२. "धन्य सूर........कलप जिए" में प्रतीप अलंकार।

३. लोल लोचन, लट-लटकनि, कठुला कण्ठ में, राजत रुचिर में छेकानुप्रास।

(ग) माधुर्य गुण है।

(घ) वात्सल्य रस है।

कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई ?
खेलत कुँवर कनक-आँगन मैं नैन निरखि छवि पाई।
कुलही लंसति सिर स्याम सुँदर कैं बहुबिधि सुरँग बनाई।
मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा-धनुष चढ़ाई।
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मन मोहन मुख बगराई।
मानो प्रगट कंज पर मंजुल अलि-अवली फिरि आई।
नील, सेत अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल लुनाई।
सनि, गुरु असुर, देवगुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई।
दूध-दंत-दुति कहि न जाति कछु अद्भुत उपमा पाई।
किलकत-हँसत दुरति प्रगटति मनु घन मैं बिज्जु छटाई।
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप-अलप जलपाई।
घुटुरुनि चलत रेनु तन मंडित सूरदास बलि जाई ॥३४॥

शब्दार्थ—कुलही=बच्चों की टोपी, कनटोप। मघवा-धनुष=इन्द्र-धनुष। अलि-अवली=भौंरों की श्रेणी। लुनाई=लावण्य। भौम=मंगल नामक नक्षत्र। समुदाय=समुदित हुए हैं।

प्रसंग—प्रस्तुत पद महाकवि सूरदास-कृत 'सूरसागर' के अन्तर्गत 'कृष्ण का शैशव' नामक प्रसंग से अवतरित है। इस स्थल पर कवि ने बाल-कृष्ण के नख-शिख-श्रृंगार का बड़ा ही कवित्वमय वर्णन किया है।

व्याख्या—कवि कहता है कि श्रीकृष्ण की सुन्दरता का मैं कहाँ तक वर्णन करूँ। सोने के आँगन में खेलते हुए कुंवर कन्हैया को देखकर नेत्र भी

छवि-युक्त हो जाते हैं। श्री श्याम-सुन्दर के सिर पर अनेक प्रकार के सुन्दर रंगों से बनाई हुई कुलही ऐसी शोभा देती है मानो नवीन जलद के ऊपर इन्द्र-धनुष चढ़ा हुआ विराजमान हो। भाल पर अति कोमल चिकुर मोहन के मुख पर बिखरे हुए इस प्रकार मन को हरण करते हैं मानो विकसित कमल के ऊपर सुन्दर भ्रमर-श्रेणी घूम-घूम कर आ गई हो। मस्तक पर नील, श्वेत, पीत और लाल मणियों के लटकन का लावण्य ऐसा लगता है मानो शनि, शुक्र, बृहस्पति और मंगल नामक ग्रह मिलकर एक साथ उदय हुए हैं। यहाँ पर नीलादि वर्ण क्रमशः शनि-आदि के उपमेय हैं। दूध की दँतुलियों की कान्ति तो कुछ भी कहते नहीं बनती, उसने तो अद्भुत उपमा प्राप्त की है। उन दँतुलियों से युक्त मुख से जब वे किलकते और हँसते हैं तब ऐसा लगता है मानो घन में प्रकट और अप्रकट होने वाली विद्युच्छटा हो। उनके रुक-रुक कर कहे गए खण्डित वचन पूर्ण सुख देने वाले हैं। उन रेणु-मण्डित शरीर से घुटनों के बल चलते हुए श्रीकृष्ण की छवि पर सूरदास बलिहारी हैं।

विशेष—(क) मधुरा-भक्ति के लिए आराध्य देव का सौन्दर्य-निरूपण अत्यन्त आवश्यक होता है। इसीलिए सूर ने उसका विशद विवेचन किया है।

(ख) माधुर्य गुण है।

(ग) भक्ति-संवलित वात्सल्य रस है।

(घ) अलंकार—

१. सिर श्याम सुन्दर, दूध दंत दुति, में वृत्यानुप्रास।

२. अलप-अलप, में पुनरुक्ति प्रकाश।

३. सम्पूर्ण पद में उत्प्रेक्षाओं की भरमार :

हरि जू की बाल छबि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव, कोटि-मनोज-सोभा-हरनि।
भुज-भुजंग, सरोज नैननि, बदन बिधु जित्यो लरनि।
रहे बिवरनि, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि।
मंजु मेचक मृदुल तनु, अनुहरत भूषन भरनि।
मनहुँ सुभग सिंगार-सिसु-तरु, फरयौ अद्भुत फरनि।
चलत पद प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवनि करनि।
जलज-संपुट सुभग-छबि भरि लेति उर जनु धरनि।

पुन्य फल अनुभवति सुतहिं बिलोकि कै नंद-घरनि।
सूर प्रभु की उर बसी किलकनि ललित लरखरनि ॥३५॥

शब्दार्थ—कोटि-मनोज-सोभा-हरनि=करोड़ों कामदेवों की शोभा को हरने वाले। बिबरनि=बिलों में। अपर=दूसरी। दुरि=छिपि गईं। मेचक=नीलवर्ण का। सिंगार-सिसु-तरु=शृंगार रूपी पौधा।

प्रसंग—अवतरित पद 'सूरसागर' नामक प्रबन्धात्मक मुक्तक काव्य से उद्धृत है जिसके प्रणेता महाकवि सूरदास हैं। प्रस्तुत पद में बालगोपाल की छवि का काव्यमयी भाषा में वर्णन किया गया है।

व्याख्या—मैं श्री हरि की बाल-छवि का वर्णन करता हूँ। वह सकल सुख की सीमा अर्थात् सुख की पराकाष्ठा और करोड़ों कामदेवों की शोभा का भी तिरस्कार करने वाली है। उनकी भुजा ने भुजंग (सर्प) को, नेत्रों ने कमल को तथा मुख ने चन्द्रमा को लड़ाई में जीत लिया है अर्थात् भुजादि उपमेय सर्पादि उपमानों से अधिक बढ़कर है। परिणामतः वे क्रमशः विवरों (बिलों), जल और आकाश में रहने लगे हैं; अन्य सारे उपमान डर के मारे छिप गए हैं। सुन्दर नीलवर्ण का कोमल शरीर आभूषणों से युक्त ऐसा लगता है मानो सुन्दर शृंगार रूपी पादप अद्भुत फलों से फला हुआ है। घुटनों के बल चलने से मणि-जटित आँगन में पैरों का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसे देखकर ऐसा लगता है मानो पृथ्वी कमल-सम्पुटों से सुन्दर छवि को हृदय में भर रही है। पुत्र को देखकर नन्द-पत्नी यशोदा अपने पुण्य-फल का अनुभव करती है। प्रभु की किलकन और लड़खड़न सूरदास के हृदय में भी समायी हुई है।

विशेष—(क) सगुणोपासक भक्तों के अनुकूल ही आराध्यदेव के अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन किया गया है।

(ख) **अलंकार**—

१. दूसरी तथा तीसरी पंक्तियों में व्यतिरेक अलंकार है।
२. चौथी पंक्ति में क्रमालंकार है।
३. छठी और आठवीं पक्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार है।
४. मंजु मेचक मृदुल, सुभग सिंगार-सिसु में वृत्यानुप्रास।

(ग) माधुर्य गुण है।

(घ) वात्सल्य रस है।

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत ।
मनिमय कनक नन्द कें आँगन, मुख-प्रतिबिम्ब पकरिबें धावत ।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं, कर सौं पकरन चाहत ।
किलकि हँसत राजत द्वै दँतियाँ, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत ।
कनक-भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति ।
प्रतिकर प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजति ।
बाल-दसा-सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नन्द बुलावति ।
अँचरा तर लै ढाँकि, सूर के प्रभु कौं दूध पियावति ॥३६॥

शब्दार्थ—मनिमय=मणि जटित । मुख-प्रतिबिम्ब=मुख की परछाईं । निरखि=देखकर । अवगाहत=देखते हैं । राजति=संगत बैठती है । बैठकी =आसन ।

प्रसंग—यह पद कवि-शिरोमणि सूरदास कृत "सूरसागर" के "कृष्ण का शैशव" नामक प्रसंग से ले लिया गया है । श्री बालगोपाल के दूध के दो दाँत उग आए हैं और अब वे घुटनों के बल चलने लगे हैं । इसी छवि का वर्णन सूरदास ने इस पद में किया है ।

व्याख्या—श्रीकृष्ण किलकते हुए घुटनों के बल आते हैं । नन्द के मणि-जटित सोने के आँगन में वे अपने मुख की परछाईं को पकड़ने भागते हैं और उसे बार-बार देखकर किलकारी मार कर हँसने से दो दँतुलियाँ प्रकाशित हो जाती हैं । सोने की भूमि पर हाथ-पैरों की छाया की एक यही उपमा संगत बैठती है कि मानो प्रयेत्क हाथ, प्रत्येक पैर, प्रत्येक मणि और पृथ्वी पर कमलों का आसन सजाया गया है । बाल्यावस्था के सुख को देखकर यशोदा बार-बार नन्द को बुलाती है और फिर अपने आँचल के नीचे ढक कर सूरदास के स्वामी को दूध पिलाने लगती है ।

विशेष—(क) "बालगोपाल का सौन्दर्य-वर्णन सगुण-भक्त परम्परा-नुसारी है ।

(ख) माधुर्य गुण है ।

(ग) वात्सल्य रस है ।

(घ) अलंकार

१. कनक भूमि........साजति—में उत्प्रेक्षा ।

२. पुनि पुनि—में पुनरुक्ति प्रकाश ।

३. प्रतिकर प्रतिपद प्रतिमनि—में वृत्यानुप्रास ।

४. बालक कृष्ण की स्वाभाविक चेष्टाओं का वर्णन होने से स्वभावोक्ति ।

सिखवति चलन जसोदा मैया ।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरे पैया ।
कबहुंक सुन्दर बदन बिलोकति, उर आनंद भरि लेते बलैया ।
कबहुंक कुल-देवता मनावति, चिरजीवहु मेरौ कुँवर कन्हैया ।
कबहुंक बलकौं टेरि बुलावति, ईहिं आँगन खेलौ दोउ भैया ।
सूरदास स्वामी की लीला, अति प्रताप बिलसत नँदरैया ।३७।।

शब्दार्थ—अरबराइ कर=हड़बड़ाकर । बिलसत=शोभित होते हैं ।

प्रसंग—यह पद भी सूरसागर के 'कृष्ण के शैशव'—चरित में से लिया गया है । कृष्ण कुछ बड़े होकर घुटनों के बल चलने लगे । उन्हें यशोदा जी चलना सिखाती हैं, रूप देखकर आनन्दित होती हैं । यही बातें इस पद में सरल भाषा में कही गई हैं ।

व्याख्या—यशोदा मैया कृष्ण को चलना सिखाती है । वह उन्हें हड़बड़ा कर अपना हाथ उन्हें पकड़ाती हैं और वे डगमगाकर धरती पर पैर रखते हैं । कभी उनके सुन्दर मुख को देखती है और हृदय में आनन्द भरकर बलैयाँ लेती है । कभी अपने कुल देवता को मनाती हुई कहती है कि मेरा कुँवर कन्हैया चिरंजीवी हो । कभी बलराम को पुकार कर कहती है कि इसी आँगन में दोनों भैया खेलो । सूरदासजी कहते हैं कि स्वामी की लीलाओं के कारण नन्द राजा अति प्रतापशाली हो गए हैं ।

विशेष—(क) भागवत-धर्मानुसारी बाल-लीला का वर्णन है ।

(ख) भाषा सरल और निर्दोष है ।

(ग) माधुर्य गुण की झलक है ।

(घ) वात्सल्य रस है ।

(ङ) स्वभावोक्ति अलंकार ।

भावत हरि कौ बाल-बिनोद ।
स्याम-राम मुख निरखि-निरखि, सुख मुदित रोहिनी, जननि जसोद ।
आँगन-पंक-राग तन सोभित, चल नूपुर-धुनि सुनि मन मोद ।
परम सनेह बढ़ावत मातनि, रबकि-रबकि हरि बैठत गोद ।
आनंद-कंद, सकल सुखदायक, निसि-दिन रहत केलि-रस ओद ।
सूरदास प्रभु अंबुज-लोचन, फिरि-फिरि चितवत ब्रज-जन-कोद ॥३८॥

शब्दार्थ—मुदित=प्रसन्न । रबकि-रबकि=हर्षित हो-होकर । ओद=ओत-प्रोत, सने हुए । ब्रज-जन-कोद=ब्रजवासियों की ओर ।

प्रसंग—अवतरित पद भक्त-शिरोमणि सूरदास-विरचित "सूरसागर" के "कृष्ण का शैशव" नामक प्रसंग से उद्धृत है । प्रस्तुत पद में कवि ने श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं की एक झांकी कराई है ।

व्याख्या—श्री हरि का बाल-विनोद बहुत अच्छा लगता है । कृष्ण और बलराम के मुख को देख-देखकर माता रोहिणी और यशोदा सुख से मुदित हो जाती हैं । आँगन पर लिपे हुए पद्मराग से उनका शरीर शोभा पा रहा है, चलते समय नूपुरों की ध्वनि को सुनकर मन में हर्ष उत्पन्न होता है । वे माताओं के हृदय में परम स्नेह की वृद्धि करते हुए हरि हर्षित हो-होकर गोद में बैठते हैं । इस प्रकार आनन्द-कन्द, सकल-सुखदायक हरि दिन-रात लीला-रस से ओत-प्रोत रहते हैं । सूरदासजी कहते हैं कि प्रभु के कमल-नेत्र बार-बार ब्रजवासियों की ओर देखते हैं, अर्थात् उन पर कृपा-दृष्टि डालते हैं ।

विशेष—(क) लीला-रस ही लीला-कैवल्य है जिसका ब्रजवासी लोग नित्य सेवन करते रहते हैं । ब्रजवासियों पर श्रीहरि की परम कृपा है, ऐसा भागवत-धर्मानुयायियों का दृढ़ विश्वास है ।

(ख) "निरखि-निरखि", "रबकि-रबकि" और "फिरि-फिरि" में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है ।

(ग) भाषा माधुर्य गुण-युक्त है ।

(घ) वात्सल्य रस है ।

मेरे माई, स्याम मनोहर जीवन ।
निरखि नैन भूले जु बदन-छवि, मधुर हँसनि पय-पीवन ।
कुंतल कुटिल, मकर कुंडल, भ्रुव नैन बिलोकनि बंक ।
सुधा-सिंधु तैं निकसि नयौ ससि, राजत मनु मृग-अंक ।

सोभित सुमन-मयूर-चंद्रिका, नील नलिन तनु स्याम।
मनहुँ नछत्र-समेत इंद्र-धनु, सुभग मेघ अभिराम।
परम कुसल कोबिद लीला-नट, मुसुकनि मन हरि लेत।
कृपा-कटाच्छ कमल-कर फेरत, सूर जननि सुख देत ॥३६॥

शब्दार्थ—पय-पीवन=दूध पीना। कुन्तल=केश-गुच्छ। मकर कुंडल=मकराकृति कुण्डल। भ्रुव=भौंह। सुधा-सिंधु=अमृत-सागर। अंक=चिह्न। नलिन=कमल। कोविद=प्रवीण।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास-प्रणीत 'सूरसागर' के अन्तर्गत "कृष्ण का शैशव" नामक प्रसंग से उद्धृत है। यहाँ पर कवि ने माता यशोदा के माध्यम से बालगोपाल के सौन्दर्य-वर्णन द्वारा अपने अन्तस् को आनन्दित करने का प्रयास किया है।

व्याख्या—यशोदाजी कहती हैं कि हे सखी ! श्याम मनोहर मेरे जीवन (प्राण) हैं। उनके मुख की छवि, मधुर मुस्कान और दूध पीने की रीति को देखकर मेरे नेत्र भूले हुए हैं अर्थात् सब कुछ त्याग कर उन्हीं को देखते रहते हैं। कुटिल केश, मकराकृति कुण्डल और बाँकी चितवन से युक्त भ्रू-नेत्रों से ऐसा लगता है मानो अमृत के सागर से नया चन्द्रमा उदय होकर मृग-चिह्न से सुशोभित है। चन्द्रमा की उत्पत्ति समुद्र से मानी गई है। यहाँ पर चन्द्रमा मुख का और मृग नेत्रों का उपमान है, सुधा-सागर नाभि-देश है। नील-कमल के समान श्याम शरीर पर सुमन और मयूर-चन्द्रिका इस प्रकार सुशोभित हैं मानो सुन्दर मेघ पर नक्षत्रों के सहित इन्द्र-धनुष विद्यमान हो। उन परम कुशल एवं प्रवीण लीला-नट की मुस्कान मन को हर लेती है। सूरदासजी कहते हैं कि कृपा-कटाक्ष के साथ कमल के समान सुन्दर हाथ को फेरते हुए वे अपनी माता को आनन्दित करते हैं।

विशेष—(क) बाल-कृष्ण के प्रति मधुरा-भक्ति का जीवन्त उदाहरण है।

(ख) उत्प्रेक्षा, रूपक और लुप्तोपमा आदि अर्थालंकारों और अनुप्रास नामक शब्दालंकार की छटा यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान है।

(ग) भाषा माधुर्य गुण से ओत-प्रोत है।

(घ) वात्सल्य रस है।

सखि री, नंद-नंदन देखु ।
धूरि-धूसर जटा-जुटली, हरि किए हर-भेषु ।
नील पाट पिरोइ मनि गन, फनिग घोखैं जाइ ।
खुनखुना कर, हँसत हरि, हर नचत डमरु बजाइ ।
जलज-माल गुपाल पहिरे, कहा कहौं बनाइ ।
मुण्ड-माला मनौ हर-गर, ऐसी सोभा पाइ ।
स्वाति-सुत-माला विराजत स्याम तन इहिं भाइ ।
मनौ गंगा गौरि-डर हर लई कंठ लगाइ ।
केहरी-नख निरखि हिरदै, रहीं नारि बिचारि ।
बाल-ससि मनु भाल तें लै, उर धर्‌यौ त्रिपुरारि ।
देखि अंग अनंग झझक्यौ, नंद-सुत हर जान ।
सूर के हिरदै बसौ नित, स्याम-सिव कौ ध्यान ।।४०।।

शब्दार्थ—जुटली=लटुरियाँ, मुण्डन-संस्कार से पूर्व शिशु के बालों को जरूले बाल, जुटलियाँ, झंडुलियाँ या लटुरियाँ कहा जाता है। हर-भेषु=शिव का वेष। पाट=वस्त्र। फनिग=सर्प। जलज-माल=कमल-पुष्पों की माला। स्वाति-सुत-माला=मोतियों की माला। त्रिपुरारि=शिव। अनंग=काम-देव। स्याम-सिव=श्याम रूपी शिव अथवा श्याम और शिव।

प्रसंग—अवतरित पद कवि-शिरोमणि सूरदास के 'सूरसागर' के "कृष्ण का शैशव" नामक प्रसग से उद्धत है। प्रस्तुत पद में सूरदास ने सखियों के माध्यम से श्रीकृष्ण और शिव की समरूपता का वर्णन किया है।

व्याख्या—एक सखी दूसरी से कहती है कि अरी सखी ! नन्द-नन्दन को तो देख। धूल-धूसरित शरीर और जटा-जुटली से श्री हरि ने श्रीशिव का वेष बना लिया है। उनके नील वस्त्र में मणियाँ पिरोई हुई हैं जिससे उसमें सर्प का भ्रम उत्पन्न होता है। हाथ में खुनखुना लेकर जब हरि हँसते हैं तो लगता है कि शिव डमरू बजाकर नाचते हैं। श्रीगोपालजी जो कमलों की माला पहिने हुए हैं उसके विषय में मैं क्या कहूँ ? वह माला ऐसी शोभित होती है मानो शिव के गले में मुण्ड माला पड़ी हो। श्याम के शरीर पर विराजमान मोतियों की माला भी ऐसी लगती है मानो पार्वती के डर से गंगाजी को शिव ने कण्ठ से लगा लिया हो। हृदय पर सिंह के नाखून को

देखकर नारियाँ विचार कर रही हैं कि मानो दूज के चन्द्रमा को मस्तक से लेकर शिव ने अपने हृदय पर धारण कर लिया है। नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण के अंगों को देखकर कामदेव उन्हें शिव समझकर झिझक गया। उन श्याम रूपी शिव का ध्यान सूरदास के हृदय में नित्य वास करे।

विशेष—(क) विशुद्ध वैष्णव होते हुए भी शिव के प्रति आस्था व्यक्त करना सूर की धार्मिक सहिष्णुता एवं उनके हृदय की उदारता का परिचायक है; साथ ही कृष्ण और शिव में समरूपता दर्शाना उनकी उदात्त कवित्व-शक्ति का परिचय देती है।

(ख) इस पद में अनेक अलंकारों की भरमार है; जैसे—

१. "नील पाट……जाइ" तथा "देखि अंग……हर जान" में भ्रान्तिमान अलंकार है।

२. चौथी पंक्ति से लेकर दसवीं पंक्ति तक अनेक उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग हुआ है।

३. "स्याम-सिव" में रूपक अलंकार है।

४. अनुप्रास की छटा सर्वत्र विद्यमान है।

(ग) माधुर्य गुण-संवलित साहित्यिक ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है।

(घ) भक्ति-संवलित वात्सल्य रस है।

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पिवत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यौं ह्वै है लाँबी मोटी।
काढ़त-गुहत न्हवावत जैहै नागिन सी भुइँ लोटी।
काँचौ दूध पियावत पचि-पचि, देति न माखन रोटी।
सूरज चिरजीवौ दोउ भैया, हरि हलधर की जोटी।।४१।।

शब्दार्थ—किती बार=कितना समय। अजहूँ=अब भी। बेनी=चोटी। गुहत=गूँथते समय। भुइँ=पृथ्वी पर। पचि-पचि=बार-बार। हरि-हलधर =कृष्ण-बलराम।

प्रसंग—अवतरित पद कवि-श्रेष्ठ सूरदास के "सूरसागर" नामक काव्य के "कृष्ण का शैशव" नामक प्रसंग से अवतरित है। बाल-कृष्ण माखन-रोटी खाने के लिए अत्यन्त लालायित रहते हैं, किन्तु माता यशोदा माखन-रोटी न

देकर उन्हें बार-बार "कजरी कौ पय पियहु लाल तेरी बाढ़ै चोटी" कहकर कच्चा दूध पिलाती हैं। इसी बात को लौकिक शिशुओं की तरह मचलते हुए कृष्ण उत्तर दे रहे हैं।

व्याख्या—हे मैया! मेरी चोटी कब बढ़ेगी? तू जो कहती रहती है कि तेरी चोटी बलदाऊ की चोटी की तरह ही लम्बी और मोटी हो जाएगी जो काढ़ते-गुहते और नहलाते समय नागिन की तरह पृथ्वी पर लोट जाया करेगी और ऐसा कह कर तू मुझे दूध पिलाती रहती है। किन्तु मुझे दूध पीते-पीते कितना समय हो गया और यह अब भी छोटी है। तू मुझे बार-बार कच्चा दूध पिलाती है, मक्खन और रोटी नहीं देती। भाव यह है कि यदि तू मुझे कच्चे दूध के स्थान पर मक्खन-रोटी खिलाए तो मेरी चोटी बढ़ सकती है। सूरदास की अभिलाषा है कि हरि और हलधर दोनों भाइयों की जोड़ी चिरंजीवी हो।

मनोवाञ्छित

विशेष—(क) इस पद में अपनी मन-पसन्द वस्तु प्राप्त करने के लिए बच्चे जिस प्रकार के सरल तर्क देते हैं उनका कितने मनोवैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण हुआ है। इसीलिए सूरदास को शिशु-मनोविज्ञान का सच्चा पारखी कहा गया है।

(ख) १. तीसरी और चौथी पंक्ति में उपमा अलंकार है।
२. "पचि-पचि" में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।
३. स्वभावोक्ति।

(ग) भाषा सरल एवं माधुर्य गुण से ओत-प्रोत है।

(घ) वात्सल्य रस है।

हरि अपनें आगें कछु गावत।
तनक-तनक चरननि सौं नाचत, मनहीं-मनहिं रिझावत।।
बाँह उठाइ काजरी-धौरी, गैयनि टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नन्द बुलावत, कबहुँक घर में आवत।।
माखन तनक आपनें कर लें, तनक बदन मैं नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिम्ब खम्ब मैं, लौनी लिए खवावत।।
दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरष अनंद बढ़ावत।
सूर स्याम के बाल-चरित, नित नितही देखत भावत।।४२।।

शब्दार्थ—तनक-तनक=छोटे-छोटे । तनक=थोड़ा-सा । प्रतिबिम्ब=परछाईं । लौनी=नवनीत, मक्खन । दुरि=छिपकर । भावत=अच्छे लगते हैं ।

प्रसंग—यह पद सूरदासजी के 'सूरसागर' के 'कृष्ण का शैशव' नामक प्रसंग से उद्धृत है । इस पद में बाल-गोपाल की बाल-लीला की झांकी कराई गई है ।

व्याख्या—श्रीकृष्ण अपने आँगन में कुछ गाते हैं, छोटे-छोटे-से चरणों से नाचते और मन-ही-मन में प्रसन्न होते हैं । वे बाँह उठाकर कजरी-धौरी इत्यादिक गायों को पुकार कर बुलाते हैं । कभी बाबा नन्द को बुलाते हैं और कभी घर में आते हैं, जहाँ थोड़ा-सा मक्खन अपने हाथ में लेकर अपने छोटे-से मुख में ले जाते हैं । यशोदा छिपकर इस लीला को देख कर प्रसन्न हो आनन्द मना रही है । सूरदास जी कहते हैं कि श्री श्याम के बाल-चरित तो नित्य-प्रति ही देखने में अच्छे लगते हैं ।

विशेष—(क) प्रस्तुत पद का बाल-विनोद वर्णन कृष्णमार्गीय वैष्णव-भक्तों की वर्णन-पद्धति के अनुकूल है ।

(ख) १. "तनक-तनक" में "नित-नित" पुनरुक्ति प्रकाश है ।

२. पाँचवी पंक्ति में, 'तनक" शब्द का दो बार भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग होने के कारण यमक अलंकार है ।

३. स्वभावोक्ति ।

(ग) भाषा सरल एवं माधुर्य गुण से युक्त है ।

(घ) वात्सल्य रस है ।

सखा कहत हैं स्याम खिसाने ।
आपुहिं आपु बलकि[1] भए ठाढ़े अब तुम कहा रिसाने ।।
बीचहिं बोलि उठे हलधर तब याके माइ न बाप ।
हारि-जीति कछु नैंकु न समझत, लरिकनि लावत पाप ।।
आपुन हारि सखिन सौं झगरत यह कहि दियौ पठाइ ।
सूर स्याम प्रभु चले रोइ कै, जननी बूझति धाइ ।।४३।।

शब्दार्थ—बलकि=उत्साह पूर्वक । कहा रिसाने=क्यों गुस्सा हुए ।

पाठान्तर—१. ललकि

प्रसंग—यह पद श्री सूरदास कृत "सूरसागर" के "कृष्ण का शैशव" नामक प्रसंग से उद्धृत है। श्रीदामा द्वारा कृष्ण के पकड़ लिए जाने पर कृष्ण खिसिया गए, उसी बात पर ग्वाल-बालों तथा हलधर की उक्ति वर्णित है।

व्याख्या—सखा बोले कि श्याम, खिसिया गए। तुम अपने ही आप तो उत्साह पूर्वक खड़े हुए थे, अब क्यों गुस्सा हो गए ? बीच में ही श्रीबलरामजी बोल उठे कि "अरे, इनके न माँ है न बाप; ये हार-जीत को कुछ नहीं समझते उलटे बालकों को दोष लगाते हैं; खुद हार कर सखाओं से झगड़ा करते हैं", ऐसा कहकर भगा दिया। सूरदास जी कहते हैं कि श्रीकृष्ण रोकर चल दिए और माता यशोदा दौड़कर उनसे रोने का कारण पूछने लगीं।

विशेष—(क) हलधर की यह उक्ति कि "इनके माइ न बाप" लौकिक और दार्शनिक दोनों पक्षों में तर्क-संगत है। लौकिक पक्ष में तो जिसके माँ-बाप का कोई पता नहीं होता उसकी बात का भी कोई ठिकाना नहीं। दार्शनिक पक्ष में कृष्ण साक्षात् ब्रह्म हैं, वे जगत्पिता और आदि-पुरुष हैं उनके न कोई माँ है और न बाप। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ही वे अवतार लेते हैं किन्तु माया-मूढ़ व्यक्ति उन्हें मानुषी-शरीराश्रित मानकर उनके माता-पिता आदि की कल्पना करने लगते हैं, जैसा कि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कहा गया है—

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥"

(ख) पद की भाषा सरल है एवं माधुर्य गुण-युक्त है।
(ग) वात्सल्य रस है।
(घ) बाल-स्वभाव का बड़ा ही सजीव एवं स्वाभाविक वर्णन सूर ने यहाँ प्रस्तुत किया है।

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ, तोहिं जसुमति कब जायौ।
कहा करौं इहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात।
गोरे नन्द, जशोदा गोरी, तू कत श्यामल गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसकात।
तू मोहीं कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन-मुख रिस की ये बातें, जसुमति सुनि-सुनि रीझै।

सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत ॥४४॥

शब्दार्थ—कत=क्यों। रीझै=प्रसन्न होती है। चबाई=निन्दक, बुरी बात कहने वाला। धूत=धूर्त।

प्रसंग—अवतरित पद कवि-कुल-शिरोमणि सूरदासकृत "सूरसागर" के "कृष्ण का शैशव" नामम प्रसंग से उद्धृत है। बलरामजी द्वारा "इनके माइ न बाप" कह दिए जाने पर श्रीकृष्ण रोकर माता यशोदा से जो शिकायत करते हैं, उसी का विवरण प्रस्तुत पद में दिया गया है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे मैया ! मुझे दाऊ ने बहुत चिढ़ाया है। मुझसे कहते हैं कि तू तो मोल लिया हुआ है, तुझे यशोदा ने कब पैदा किया ! क्या करूँ इसी रिस के मारे मैं खेलने नहीं जाता। वे मुझसे बार-बार यही कहते हैं तुम्हारी माँ कौन है और बाप कौन है ! दूसरे माँ-बाप की सन्तान सिद्ध करने के लिए यह तर्क देते हैं कि नन्द और यशोदा दोनों गोरे हैं, फिर तुम्हारा शरीर साँवला क्यों है ! वे चुटकी दे-दे कर ग्वालों को नचाते हैं, और वे सबके सब हँसते-मुस्काते हैं। इतने पर भी तू मुझी को मारना सीखी है, पर दाऊ पर कभी नहीं नाराज होती। मोहन के मुख से इन रिस-भरी बातों को सुन-सुन कर यशोदा माँ प्रसन्न होकर कहती है कि हे कान्ह ! सुनो, इस बलभद्र की तो बुराई करने की आदत है, वह तो जन्म से ही धूर्त है। हे सूर के श्याम ! मुझे गोधन की सौगन्ध है—मैं तेरी माता हूँ और तू मेरा पुत्र है।

विशेष—(क) बाल-सुलभ चंचलता, उपालम्भ-प्रत्युपालंभ आदि का कितना सजीव एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन है। इससे सूर के लोक-जीवन के प्रति जानकारी का भी पता लगता है।

(ख) पद की भाषा सरल तथा प्रसाद गुण-युक्त है।

(ग) वात्सल्य रस है।

(घ) **अलंकार**—

१. पुनि पुनि, सुनि सुनि में पुनरुक्ति प्रकाश।

२. सम्पूर्ण में अनुप्रास की छटा।

३. स्वभावोक्ति।

खेलन अब मेरी जाइ बलैया ।
जबहिं मोहिं देखत लरिकनि संग तबहिं खिझत बल भैया ।
मोसौं कहत तात बसुद्यौ कौ, देवकि तेरी मैया ।
मोल लियौ कछु दै करि तिनकौ, करि-करि जतन बढ़ैया ।
अब बाबा कहि कहत नन्द सौं, जसुमति सौं कहै मैया ।
ऐसें कहि सब मोहि खिजावत, तब उठि चल्यौ खिसैया ।
पाछैं नंद सुनत हे ठाढ़े, हँसत हँसत उर लैया ।
सूर नंद बलरामहिं धिरयौ, तब मन हरष कन्हैया ।।४५।।

शब्दार्थ—बलैया=आफत । वसुद्यौ—वसुदेव । धिरियौ=धमकाया, फटकारा ।

प्रसंग—यह पद महाकवि सूरदास के "सूरसागर" के "कृष्ण का शैशव" नामक प्रसंग से लिया गया है । बलराम द्वारा चिढ़ाये जाने पर कृष्ण यशोदा से जो शिकायत करते हैं उसी का विवरण दिया गया है ।

व्याख्या—कृष्ण कहते हैं कि अब तो खेलने मेरी मुसीबत जाएगी, अर्थात् मैं नहीं जाऊँगा । क्यों नहीं जाओगे ? बलराम भैया ज्यों ही मुझे लड़कों के साथ देखते हैं त्यों ही चिढ़ाने लगते हैं । मुझसे कहते हैं कि तू वसुदेव पिता का पुत्र है, देवकी तेरी माता है । उनको कुछ देकर और बड़े-बड़े उपाय करके तुझे मोल लिया है । अब नन्द से बाबा कहकर पुकारता है और यशोदा से मैया कहता है । ऐसा ही कहकर जब सब बालक मुझे चिढ़ाने लगते हैं तब मैं खिसिया कर उठ कर चल देता हूँ । उनके पीछे नन्द खड़े-खड़े सुन रहे थे । उन्होंने हँसते-हँसते उन्हें हृदय से लगा लिया । सूरदासजी कहते हैं कि जब नन्द ने बलराम को धमकाया तो श्रीकृष्ण मन में हर्षित हो गए ।

विशेष—(क) बाल-सुलभ नोंक-झोंक और माँ-बाप से की जाने वाली शिकायत का वर्णन व्यावहारिक एवं मनोवैज्ञानिक है । माँ-बाप छोटे बालक को शान्त करने के लिए बड़े बच्चे को किस मीठी गुस्सा में डाँटते हैं यह तो हम सब लोग जानते ही हैं ।

(ख) पद की भाषा सरल एवं माधुर्य गुण-युक्त है ।

(ग) वात्सल्य रस है ।

(घ) अलंकार—

१. करि करि, हँसत हँसत में पुनरुक्ति प्रकाश।

२. स्वभावोक्ति।

खेलत मैं को काको गुसैंयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
जाति-पाँति हमतें बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारें गैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें जातें अधिक तुम्हारें गैयाँ।
रूहठि करै तासौं को खेलै, रहै बैंठि जहँ तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउँ दियौ करि नन्द-दुहैयाँ।।४६।।

शब्दार्थ—को काको गुसैंयाँ=कौन किसका राजा। बरबस=बिना बात। छैया=शरण में। जातें=इस (श्रीदामा) से। रूहठि=बेईमानी। ग्वैयाँ=ग्वाले।

प्रसंग—प्रस्तुत पद महाकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के "कृष्ण का शैशव" नामक प्रसंग से लिया गया है। इस पद में श्रीकृष्ण का अपने बालसखाओं के साथ खेलने, हारने और फिर से खेलने की बाल-लीलाओं का बड़ा ही रोचक वर्णन हुआ है। श्रीदामा से खेलते समय श्रीकृष्ण ने उन्हें यह कह कर लताड़ा था कि वह छोटे मुँह बड़ी बात न करे, क्योंकि वह छोटे बाप का बेटा है। यह बात सब ग्वाल-बालों को बुरी लगी और वे उत्तर देते हुए कहने लगे—

व्याख्या—खेल खेलते समय कौन किसका राजा है? अर्थात् उस समय राजा-रंक सब बराबर होते हैं। हे हरि, तुम हार गए, श्रीदामा जीत गए, फिर बिना बात ही गुस्सा क्यों करते हो? तुमने जो "छोटे मुँह बड़ी बात" वाली बात कही थी उसका जबाव यह है कि तुम जाति-पाँति में हमसे बड़े नहीं हो, अर्थात् दाम में बड़े हो पर चाम में बड़े नहीं हो, लेकिन फिर भी हम तुम्हारी शरण में नहीं रहते (तुम से कर्ज नहीं लेते या तुम्हारा दिया हुआ नहीं खाते)। हम पर इसीलिए अति अधिकार जनाते हो कि तुम्हारे पास इस श्रीदामा से अधिक गाएँ हैं? खैर, जो बेईमानी करे उसके साथ कौन खेले, ऐसा कह कर सब ग्वाल-बाल जहाँ-तहाँ बैठ रहे। सूरदासजी कहते हैं कि प्रभु तो खेलना ही चाहते थे, इसलिए उन्होंने नन्द की दुहाई देकर उनका दाँव दिया।

विशेष—(क) १. ग्रामीण जीवन में बालकों के खेलों के अन्दर होने वाले झगड़ों और समझौतों का कितने अच्छे ढंग से वर्णन किया गया है।

२. "सूरदास प्रभु खेल्योइ चाहत" वाक्य एक भक्त-हृदय की पुकार है। महाप्रभु श्रीकृष्ण लीला-नट हैं, इसलिए वे प्रतिक्षण कोई न कोई लीला करना चाहते हैं जिनका दर्शन एवं श्रवण कर उनके भक्तों के हृदय में आनन्द उत्पन्न हो।

(ख) भाषा सरल एवं ग्रामीण शब्दावली से परिपूर्ण जो गोप-बालों की भाषा बनने की उपयुक्त अधिकारणी है।

(ग) सख्य-भाव-संवलित भक्ति का दर्शन होता है।

जेंवत कान्ह नंद इकठौरे।
कछुक खात लपटात दोउ कर बालकेलि अति भोरे।
बरा कौर मेलत मुख भीतर, मिरिच दसन टकटौरे।
तीछन लगी नैन भरि आए, रोवत बाहर दौरे।
फूंकति बदन रोहिनी ठाढ़ी, लिए लगाइ अँकोरे।
सूर-स्याम कौं मधुर कौर दै कीन्हे तात निहोरे ॥४७॥

शब्दार्थ—जेंवत=भोजन करते हैं। इकठोरे=एक साथ। बाल केलि= बाल-लीला। टकटौरे=ढूंढ़ लिए। तीछन=तीखी।

प्रसंग—अवतरित पद महात्मा सूरदासकृत "सूरसागर" के अन्तर्गत "कृष्ण का शैशव" नामक प्रसंग से उद्धृत है जिसमें बाबा नन्द और बालगोपाल के एक साथ भोजन करने की किसी घटना का स्मरण कराया गया है।

व्याख्या—कृष्ण और नन्द एक साथ मिलकर भोजन करते हैं। बाल-लीला से अत्यन्त भोले हो जाने के कारण श्रीकृष्ण कुछ तो खाते हैं और कुछ खाने को दोनों हाथों में लपेट लेते हैं। मुख के अन्दर बड़ा ग्रास देते समय दाँत के नीचे मिर्च आ गई, जिसके तीखी लगते ही उनकी आँखों में आँसू आ गए और रोते हुए बाहर की ओर दौड़े। माता रोहणी खड़ी होकर मुँह में फूंक मारती है, और उन्हें गोद में लगा लेती है। सूरदास जी कहते हैं कि पिता नन्द श्याम को मीठा ग्रास देकर खुशामद करते हुए उन्हें चुप करते हैं।

विशेष—(क) इस पद में सूर के बाल्य-जीवन एवं गार्हस्थ्य-जीवन के ज्ञान की एक अच्छी-खासी झलक मिलती है।

(ख) भाषा सरल, ग्रामीण शब्दावली से परिपूर्ण एवं माधुर्य युक्त है।
(ग) वात्सल्य रस है।
(घ) अलंकार—
१. अनुप्रास की छटा।
२. स्वभावोक्ति।

जेंवत स्याम नंद की कनियाँ।
कछुक खात, कछु धरनि गिरावत, छवि निरखत नँद-रनियाँ।
बरी, बरा, बेसन, बहु भाँतिनि, व्यंजन बिबिध, अगनियाँ।
डारत, खात, लेत अपनैं कर, रुचि मानत दधि दोनियाँ।
मिस्री, दधि, माखन मिस्रित करि, मुख नावत छवि धनियाँ।
आपुन खात नंद-मुख नावत, सो छवि कहत न बनियाँ।
जो रस नंद-जसोदा विलसत, सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ।
भोजन करि नँद अचमन कीन्हौ, माँगत सूर जुठनियाँ ॥४८॥

शब्दार्थ—कनियाँ=गोद में। अगनियाँ=अगणित। मिस्रित करि=मिलाकर। जुठनियाँ=जूठन।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तशिरोमणि सूरदास के "सूरसागर" नामक ग्रन्थ के "कृष्ण का शैशव" नामक प्रकरण से अवतरित है। यहाँ पर नन्दबाबा की गोद में बैठकर भोजन करने वाले बाल-गोपाल की शिशु-लीलाओं का वर्णन हुआ है।

व्याख्या—श्री श्याम नन्द की गोद में बैठकर भोजन करते हैं। खाद्य में से वे कुछ तो खाते हैं और कुछ धरती पर गिरा देते हैं। इस छवि को (नन्द की यशोदा आदि रानियाँ देखती हैं अथवा नँदरनियाँ) (नंदरानी यशोदा) ही देखती है। वहाँ पर बड़ी, बड़ा, बेसन और नाना प्रकार के अगणित व्यंजन हैं जिन्हें वे नीचे डालते हैं, खाते हैं अथवा अपने हाथ में ले लेते हैं, किन्तु दही की दोनी में अधिक रुचि मानते हैं। मिश्री, दही और मक्खन का मिश्रण बनाकर उसे वे अपने छबीले मुख में ले जाते हैं। जिस समय वे स्वयं खाते हैं और नन्द के मुँह में भी खिलाते हैं, उस समय की छवि कहते नहीं बनती। वास्तव में जिस आनन्द का अनुभव नन्द और यशोदा करते हैं, वह आनन्द तीनों लोकों में कहीं नहीं है। भोजन करने के पश्चात् बाबा नन्द ने आचमन कर लिया है, अब सूरदास उसकी जूठन माँग रहा है।

विशेष—(क) "जूठन माँगने" का अभिप्राय यह है कि सगुणोपासक जो कुछ खाते हैं उसे वे पहले अपने आराध्य देव की मूर्ति को अर्पण करते हैं और तत्पश्चात् उसे भगवान् की जूठन समझकर उसे स्वयं खाते हैं। भगवान् की जूठन खाने से कर्म-बन्धन और पाप नहीं लगता। इसीलिए सूर ने उस जूठन को पाने की अभिलाषा व्यक्त की है।

(ख) भोज्य-पदार्थों की गणना कराते हुए सूर ने परिगणनात्मक शैली को अपनाया है। भाषा साहित्यिक ब्रज है।

(ग) माधुर्य गुण है।

(घ) वात्सल्य रस है।

(ङ) अलंकार—

१. बरी बरा बेसन बहु…………में वृत्यानुपास।

२. सम्पूर्ण में अनुप्रास की छटा।

३. स्वभावोक्ति।

मो देखत जसुमति तेरे ढोटा, अबहीं माटी खाई।
यह सुनिकै रिस करि उठि धाई, बाँह, पकरि लै आई॥
इक कर सौं भुज गहि गाढ़ैं करि, इक कर लीन्ही साँटी।
मारति हौं तोहि अबहिं कन्हैया, बेगि न उगिलौ माटी॥
ब्रज-लरिका सब तेरे आगे, झूठी कहत बनाई।
मेरे कहैं नहीं तू मानति, दिखरावौं मुख बाई॥
अखिल ब्रह्मंड-खंड की महिमा, दिखराई मुख माँहि।
सिंधु-सुमेरु-नदी-बन-पर्वत चकित भई मन चाहि॥
करतैं साँटि गिरत नहिं जानी, भुजा छाँड़ि अकुलानी।
सूर कहै जसुमति मुख मूँदौ, बलि गई सारंगपानी॥४६॥

शब्दार्थ—ढोटा=पुत्र। सारँगपानी=शारङ्ग नामक धनुष को धारण करने वाले अर्थात् विष्णु।

प्रसंग—यह पद भक्तकवि सूरदास कृत "सूरसागर" के "कृष्ण के शैशव" चरित के "माटी-भक्षण-प्रसंग" से लिया गया है जिसमें बाल-गोपाल ने यशोदा को अपने विराट स्वरूप का दर्शन कराकर चकित कर दिया था।

व्याख्या—ब्रज के किसी बालक ने यशोदा जी से कह दिया कि तेरे पुत्र ने मेरे सामने अभी-अभी मिट्टी खाई है। यह सुनकर क्रोधित होकर यशोदा

उठ कर गई और बाँह पकड़कर कृष्ण को ले आई। उसने एक हाथ से उनके हाथ को कस कर पकड़ लिया और एक हाथ में साँटी (छड़ी) ले ली और कहने लगी कि हे कन्हैया! मैं तुझे अभी मारती हूँ नहीं तो जल्दी मिट्टी उगल दे। इस पर श्रीकृष्णजी बोले कि हे माता! ब्रज के सब बालक तेरे आगे झूठी बना-बनाकर कहते हैं। यदि तू मेरे कहे पर विश्वास नहीं करती तो मैं तुझे मुँह दिखलाए देता हूँ। श्रीकृष्ण ने अपना मुँह फाड़कर उसके अन्दर अखिल ब्रह्मांड की महिमा को पृथक्-पृथक् दिखला दिया। माता यशोदा मुख के अन्दर सिन्धु, सुमेरु, नदी, वन और पर्वत आदि को देखकर आश्चर्य-चकित हो गई। यह देखकर उसे अपने हाथ से गिरने वाली साँटी का भी ज्ञान नहीं रहा और भुजा छोड़कर आकुल हो गई। सूरदासजी कहते हैं कि यशोदा कहती है कि हे शार्ङ्गपाणे! मैं बलिहार जाऊँ, अपने मुख को मूँद लीजिए।

विशेष—(क) भक्तों का यह विश्वास है कि निर्गुण ब्रह्म का लीला-रूप ही सगुण ब्रह्म है, इसलिए वे दोनों यथार्थतः एक ही हैं। भगवान् भक्त पर परम कृपालु होते हैं, इसलिए उसे वे अपने दोनों रूपों का ही साक्षात्कार कराते हैं; जैसे—भगवान् राम ने माता कौशल्या और भक्त काकभुशुण्डि को तथा भगवान् कृष्ण ने यशोदा और सखा अर्जुन को अपने दोनों ही रूप दिखाए थे। पर निर्गुण साधना विराट् होने के कारण दुःसाध्य एवं भ्रमोत्पादक है; उसमें साधक अनिश्चय की स्थिति में रहता है। भगवान् के विश्वरूप का दर्शन कर अर्जुन को दिशा-ज्ञान भी नहीं रहा था—"दिशो न जाने न लभे च शर्म, प्रसीद देवेश जगन्निवास।" सच बात तो यह कि भक्त तो अपने आराध्य देव के साथ "तात-माता-गुरु-सखा" अथवा पुत्रादि में से कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित कर लोकवत् उसके प्रति श्रद्धा, प्रेम अथवा वात्सल्य की पराकाष्ठा प्रदर्शित कर उसका सान्निध्य चाहता रहता है। उसे तो उस लीला-नगर की लीलाओं का आस्वादन करने में ही आनन्द मिलता है; पर इस आनन्द का सेवन ज्ञान-प्राप्ति हो जाने पर नहीं हो सकता। इसीलिए यशोदा अकुला गई थी कि यदि उसे ज्ञान-प्राप्त हो गया तो फिर वह इस अलौकिक लीला-सुख से वंचित हो जाएगी।

(ख) भाषा साहित्यिक ब्रज है जो माधुर्यगुण-संवलित है।

(ग) इस पद में भक्ति एवं वात्सल्य का सामंजस्य है।

(घ) दूसरे तथा तीसरे चरण में माता यशोदा के क्रोध का वर्णन है।
(ङ) अंतिम चार चरणों में 'अद्‌भुत रस' की समायोजना है।

माखन-चोरी

प्रथम करी हरि माखन-चोरी।
ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन, आपु भजे ब्रज खोरी।
मन मैं यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाउँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सबकैं माखन खाउँ।
बाल-रूप जसुमति मोहिं जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं, ये मेरे ब्रज लोग ॥५०॥

शब्दार्थ—सुख-कारन=सुख के लिए।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदासकृत "सूरसागर" के "माखन-चोरी" नामक प्रकरण से उद्धृत है। भक्तों के अनुरंजनार्थ की गई भगवान् कृष्ण की माखन-चोरी का वर्णन है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम मक्खन की चोरी की। ग्वालिनी की मनोऽभिलाषा को पूर्ण कर वे ब्रज की किसी गली में भाग गए। भाव यह है कि एक बार श्रीकृष्ण अपनी माता से मक्खन-रोटी माँग रहे थे। उनके पीछे एक ब्रज-युवती खड़ी हुई उनकी बातों को सुनकर यह अभिलाषा करने लगी कि किसी दिन इन्हें मैं अपने घर में मक्खन खाते हुए देखूँ। उसकी इसी अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए वे भाग चले। श्रीहरि ने मन में यही विचार कर लिया कि ब्रज में मैं सब घरों में जाऊँ और क्योंकि मैंने सुख के लिए गोकुल में जन्म लिया है इसलिए सबके यहाँ मक्खन खाऊँ। यशोदाजी तो मुझे केवल बाल-रूप में ही जानती रहें और गोपियों से मिल कर उन्हें सुख-भोग प्रदान करूँ। सूरदासजी कहते हैं कि भगवान कृष्ण प्रेम से कहते हैं कि ये ब्रज के लोग मेरे भक्त हैं।

विशेष—(क) भागवत-पुराण के अनुसार यशोदा ने कृष्ण का बाल-रूप ही माँगा था, इसीलिए किशोरावस्था आते ही वे मथुरा-गमन कर गए; और गोपियों ने उनके साथ रास-विहार और सुख-भोग की अभिलाषा व्यक्त की थी। अपने भक्तों की इन्हीं अभिलाषाओं की पूर्ति-हेतु ही उन्होंने ब्रज में अवतार लिया था।

(ख) 'घर-घर' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है ।

(ग) पद में माधुर्य गुण है ।

(घ) वात्सल्य रस है ।

ब्रज घर-घर प्रगटी यह बात ।
दधि-माखन चोरी करि लै हरि, ग्वाल-सखा सँग खात ।
ब्रज-बनिता यह सुनि मन हरषति, सदन हमारैं आवैं ।
माखन खात अचानक पावैं, भुज हरि उरहिं छुवावैं ।
मनहीं मन अभिलाष करति सब हृदय धरति यह ध्यान ।
सूरदास प्रभु कौं घर तैं लै, दैहौं माखन खान ।।५१।।

शब्दार्थ—सदन=घर । उरहिं=हृदय से । अभिलाष=इच्छा ।

प्रसंग—प्रस्तुत पद महाकवि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'माखन-चोरी' नामक प्रसंग से उद्धृत है । इस पद में लीला-नट बाल-गोपाल की माखन-चोरी की मनोरम लीला का वर्णन है ।

व्याख्या—यह बात ब्रज के घर-घर में प्रकट हो गई कि श्रीकृष्ण दधि-माखन चुराकर ग्वाल-सखाओं के साथ में खाते हैं । ब्रज-वनिताएँ यह सुनकर मन में हर्षित होती हैं और अभिलाषा करती हैं कि वे हमारे घर में आवें, हमें अचानक ही माखन खाते हुए मिलें और हमारे हृदय से भुजा का स्पर्श करें । वे सब मन-ही-मन यही अभिलाषा करती हैं और, सूरदास कहते हैं कि, हृदय में यह ध्यान रखती हैं कि प्रभु को घर से लेकर मक्खन खाने के लिए दूँगी ।

विशेष—(क) गोपियाँ श्रीकृष्ण के साथ केलि-रस की अभिलाषिणी हैं, इसीलिए उनके अनुरंजनार्थ श्रीकृष्ण को माखन-चोरी लीला करनी पड़ी ।

(ख) माधुर्य गुण है ।

(ग) भक्ति-संवलित वात्सल्य रस है ।

(घ) अलंकार ।

१. घर-घर में पुनरुक्ति प्रकाश ।

२. ब्रज-बनिता—में छेकानुप्रास ।

चली ब्रज घर-घरनि यह बात ।
नंद-सुत, सँग सखा लीन्हे, चोरि माखन खात ।

कोउ कहति, मेरे भवन भीतर, अबहिं पैठे धाइ।
कोउ कहति, मोहिं देखि द्वारें, उतहिं गए पराइ।
कोउ कहति, किहिं भाँति हरि कौं, लखौं अपनैं धाम।
हेरि माखन देउँ आछौ, खाइ जितनौ स्याम।
कोउ कहति, मैं देखि पाऊँ, भरि धरौं अँकवारि।
कोउ कहति, मैं बाँधि राखौं, को सकै निरवारि।
सूर प्रभु के मिलन कारन, करति बुद्धि बिचार।
जोरि कर बिधि कौं मनावति, पुरुष नँद-कुमार ॥५२॥

शब्दार्थ—पैठे=प्रविष्ट हुए। पराइ=भाग कर। धाम=घर। हेरि=देखकर। निरवार सकै=छोड़ सके।

प्रसंग—अवतरित पद भक्त-शिरोमणि सूरदासकृत "सूरसागर" के "माखन-चोरी" नामक प्रकरण से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में कवि ने श्रीकृष्ण द्वारा की गई माखन-चोरी की स्थान-स्थान पर होने वाली चर्चाओं की चर्चा की है।

व्याख्या—ब्रज के घर-घर में यह बात चलने लगी कि नन्दकुमार साथ में सखाओं को लेकर मक्खन चुराकर खाते हैं। तब कोई ब्रज-युवती कहती है कि वे मेरे भवन के अन्दर अभी-अभी घुसे थे, कोई कहती है कि मुझे देखकर वे उधर ही भाग गए। कोई कहती है कि मैं किस प्रकार हरि को अपने घर में देखूँ; यदि वे मेरे घर आजाएँ तो मैं उन्हें देकर जितना मक्खन वे चाहें उतना ही दूँ। कोई कहती है कि यदि मैं देख पाऊँ, तो उन्हें अपनी कौली में भरकर पकड़ लूँ। कोई कहती है कि मैं तो उन्हें बाँध दूँगी, फिर देखूँ कौन उन्हें छुड़ा सकता है? सूरदासजी कहते हैं कि इस प्रकार प्रभु के मिलनार्थ वे अपने मन में विचार करती हैं और नन्दकुमार को पुरुष (पति) रूप में देखने के लिए वे विधाता से हाथ जोड़कर मनौतियाँ करती हैं।

विशेष—(क) स्वामी वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित भागवतधर्मीय मधुरा-भक्ति की स्पष्ट छाप अंकित है।

(ख) पूरे पद में माधुर्य गुण है।

(ग) भक्ति-संवलित वात्सल्य रस है जिसमें सख्य-भाव की अभिलाषा व्यंजित है।

स्याम कहा चाहत से डोलत ?
पूछे तें तुम बदन दुरावत सूधे बोल न बोलत।
पाए आइ अकेले घर में, दधि-भाजन मैं हाथ।
अब तुम काको नाउं लेउगे, नाहिंन कोऊ साथ।
मैं जान्यौ यह मेरौ घर है, ता धोखें मैं आयौ।
देखत हौं गौरस मैं चींटी, काढ़न कौ कर नायौ।
सुनि मृदु वचन निरखि मुख-शोभा, ग्वालिन मुरि मुसुकानी।
सूर स्याम तुम हौ अति नागर, बात तिहारी जानी ॥५३॥

शब्दार्थ—डोलत=फिरते हो। दुरावत=छिपाते हो। बोल=वचन। दधि-भाजन=दही के पात्र। गोरस=दही। काढ़न कौं=निकालने के लिये। नायौ=गिराया। मृदु=कोमल। निरखि=देखकर। मुरि=मुड़कर। नागर=चतुर।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा प्रणीत "सूरसागर" के "माखन-चोरी" नामक प्रसंग से अवतरित है, ग्वालिनी के घर में चोरी करते हुए पकड़े जाने पर कृष्ण ने जिस चातुर्यपूर्ण उत्तर से उसे आह्लादित किया उसी का वर्णन सूर ने इस पद में किया है।

व्याख्या—ग्वालिनी कहती है कि हे श्याम ! यहां किसकी फिराक में फिर रहे हो ? पूछने से तुम मुँह छिपाते हो और सीधी बात नहीं करते। आज तो तुम घर में अकेले ही मिले हो और दधि-पात्र में तुम्हारा हाथ है तुम्हारे साथ भी कोई नहीं है, फिर भला तुम किसका नाम लोगे ? सबूत पक्का है। चोरी सिद्ध हो गई। अब बचाव कैसे हो ? पर कृष्ण ने बचाव कर ही लिया। वे बोले कि मैंने समझा कि यह मेरा घर हैं, उसी धोखे में आ गया। मैंने दही में चींटी देखी उसी को निकालने के लिये हाथ गिरा दिया। इन कोमल वचनों को सुन कर, मुख-शोभा को देखकर ग्वालिनी मुड़ कर मुसकरा गई और बोली कि हे सूर के श्याम ! तुम बड़े नागर (चतुर) हो, मैं तुम्हारी बात समझ गई।

विशेष—(क) ग्वालिनी की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये ही कृष्ण ने उसके घर में प्रवेश किया था। उनके चातुर्य-पूर्ण उत्तर को सुनकर वह समझ गई कि वे मेरे ऊपर कृपा करने के लिए ही आए हैं और मुझे अपना

लिया है। तभी तो उन्होंने मेरे घर को अपना घर समझ लिया है। यही मधुरा-भक्ति है।

(ख) भाषा सरल और माधुर्य-गुण-युक्त है।

(ग) भक्ति-संवलित वात्सल्य रस है जिसमें सख्य-भाव की झलक है।

(घ) कृष्ण का वाक्चातुर्य द्रष्टव्य है। कृष्ण जब रंगे हाथों पकड़े गए तो कहने लगे कि मैंने तो यह अपना ही घर समझ लिया और उसी धोखे में मैं यहाँ चला आया हूँ, वाह रे कृष्ण !

जसुदा कहं लौं कीजे कानि।
दिन-प्रति कैसें सही परति है, दूध-दही की हानि।
अपने या बालक की करनी, जौ तुम देखौ आनि।
गोरस खाइ, खवावै लरिकनि, भाजत भाजन भानि।
मैं अपने मन्दिर के कौनें, राख्यौं माखन छानि।
सोई जाइ तिहारें ढोटा, लीन्हौ है पहिचानि।
बूझि ग्वालि निज गृह मैं आयौ, नैंकु न संका मानि।
सूर स्याम यह उतर बनायौ, चींटी काढ़ति पानि ॥५४॥

शब्दार्थ—कानि=लिहाज। भाजन भानि=बर्तन फोड़कर। बूझि=समझ कर। पानि=हाथ।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास विरचित "सूरसागर" के "माखन-चोरी" प्रकरण से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में गोपी माखन-चोर कृष्ण की माता यशोदा से शिकायत करती है।

व्याख्या—हे यशोदा जी ! कहाँ तक लिहाज किया जाए ? नित्य-प्रति होने वाली दूध-दही की हानि को कैसे सहा जा सकता है ? यदि तुम अपने इस बालक की करतूत को देखो तो तुम्हें विदित होगा कि वह स्वयं गोरस खाकर अन्य बालकों को खिलाता है और बर्तनों को तोड़-फोड़ कर भाग जाता है। मैंने अपने घर के कौने में माखन को छान कर रख दिया था, उसी को जाकर तुम्हारे पुत्र ने पहिचान लिया। मुझे ग्वालिनी (तुच्छ व्यक्ति) समझ कर मेरे घर में निःशंक होकर चला आया। पकड़ में आ जाने पर सूर के श्याम ने यह उत्तर बना लिया कि मैं तो हाथ से चींटी निकाल रहा था।

विशेष—(क) गोपिकाओं के नेत्र कृष्ण के रूप-रस के लोभी थे। इसलिए वे उपालंभ का बहाना ढूँढ़ कर यशोदा के घर जाकर उस छबि-सागर के आनन्द-रस का पान कराकर अपने नयन-पुटों को भरपूर रखती थीं।

(ख) भाषा सरल एवं माधुर्य गुण-युक्त है।

(ग) वात्सल्य रस है।

(घ) गोपी के कथन में कृष्ण की नटखट लीलाओं का वर्णन मिलता है।

(ङ) अलंकार

१. भाजन भाजत भानि में वृत्यानुप्रास।

२. दूध दही, सूर स्याम में छेकानुप्रास।

गोपाल दुरे हैं माखन खात।
देखि सखी, सोभा जु बनी है, स्याम मनोहर गात।
उठि, अवलोकि ओट ठाढ़े है, जिहिँ बिधि हैं लखि लेत।
चक्रित नैन चहूँ दिसि चितवत, और सखनि कौं देत।
सुन्दर कर आनन समीप, अति राजत इहि आकार।
जलरुह मनौं बैर बिधुसौं तजि, मिलत लए उपहार।
गिरि-गिरि परत बदन तैं उर पर हैं दधि-सुत के बिन्दु।
मानहुँ सुभग सुधाकन बरषत प्रियजन आगम इन्दु।
बाल-बिनोद बिलोकि सूर प्रभु सिथिल भईं ब्रजनारि।
फुरैं न बचन बरजिबें कारन, रहीं बिचारि-बिचारि ॥५५॥

शब्दार्थ—दुरे हैं=छिपे हैं। अवलोकि=देख। जलरुह=कमल। बिधु=चन्द्रमा। दधि-सुत=मक्खन। सुधाकन=अमृत की बूंदें। आगम=आना। इंदु=चन्द्रमा। फुरैं न=स्फुरित (मुखरित) नहीं होते, निकलते नहीं। बरजिबें कारन=रोकने के लिए।

प्रसंग—यह पद "सूरसागर" के "माखन-चोरी" प्रसंग से लिया गया है। इस पद में सूरदास जी ने माखन-चोर बाल-गोपाल के छबि-रस का पान करने वाली गोपिकाओं के आह्लाद का वर्णन किया है।

व्याख्या—एक सखी दूसरी से कहती है कि हे सखि! मक्खन खाते हुए गोपाल छिप गए हैं, उस समय उनके मनोहर श्यामल शरीर की जो शोभा बनी है, उसे देख। जिस प्रकार से वह मक्खन को देख लेते हैं, चकराए नेत्रों

से चारों ओर दृष्टिपात करते हैं और सखाओं को खाने के लिए मक्खन देते हैं, इस सब को तू उठकर ओट में खड़ी होकर देख। उनका सुन्दर हाथ (जिसमें मक्खन लगा हुआ है) मुख के समीप इस प्रकार शोभा देता है मानो कमल चन्द्रमा से बैर त्यागकर उपहार लिए हुए मिलता हो। मुख से हृदय पर जो मक्खन की बूंदें गिर-गिर पड़ती हैं उनसे ऐसा लगता है मानो अपने प्रियजन के आगमन पर चन्द्रमा अमृत की बूंदें बरसाता हो। सूरदासजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण के बाल-विनोदों को देखकर ब्रजनारियाँ शिथिल (आनन्द-मग्न) हो गईं। उनके मुख से मना करने के लिए शब्द नहीं निकलते, वे विचार कर-कर के ही रह गईं अर्थात् आनन्दानुभव में अवाक् रह गईं।

विशेष—(क) भक्ति मार्गीय वेदान्तियों के लीला-कैवल्य की सिद्धि यहाँ पर गोपियों को हो गई है। वे अपने को खोकर लीला-बिहारी बाल-गोपाल के साथ अपने मन को एकाकार कर चुकी हैं। यही लीला-कैवल्य है।

(ख) १. यहाँ पर मुख, कर और नवनीत-कण में क्रमशः चन्द्र, कमल और अमृत-बिन्दु की संभावना की गई है, अतः उत्प्रेक्षा अलंकार है।

२. गिरि-गिरि, विचारि विचारि में पुनरुक्ति प्रकाश।

३. अनुप्रास की छटा।

(ग) भाषा माधुर्य-गुण-युक्त है।

(घ) वात्सल्य रस है।

महरि तुम मानौ मेरी बातु।
ढूंढ़ि-ढाँढ़ि गोरस सब घर कौ तुम्हारें तात।
कैसें कहति लियौ छींके तें, ग्वाल-कंध दै लात।
घर नहिं पियत दूध धौरी कौ, कैसें तेरें खात।
असंभाव बोलन आई है, ढीठ ग्वालिनी प्रात। जात
ऐसौ नाहिं अचगरौ मेरौ, कहा बनावति बात।
का मैं कहौं, कहत सकुचति हौं, कहा दिखाऊँ गात।
हैं गुन बड़े सूर के प्रभु के, ह्याँ लरिका ह्वै जात॥५६॥

शब्दार्थ—महरि=महल्लिका, चौधरानी। गोरस=मक्खन। तात=पुत्र। असंभाव=असंभव वचन, अनहोनी बात। अचगरौ=शरारती।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास द्वारा विरचित "सूरसागर" के "माखन-चोरी" नामक प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में ग्वालिनी द्वारा कृष्ण की शिकायत और यशोदा द्वारा उसका उत्तर बड़ी रोचकता के साथ वर्णित किया गया है।

व्याख्या—ग्वालिनी कहती है कि हे महरि यशोदा ! तुम मेरी बात मान जाओ। तुम्हारे पुत्र ने घर के सारे गोरस को ढूंढ़-ढाँढ़ कर चुरा लिया। इस पर यशोदा जी कहती हैं कि तू यह कैसे कहती है कि उसने ग्वाले के कन्धे पर लात रखकर छींके पर से उतार लिया ? वह घर तो धौरी गाय का दूध नहीं पीता, तेरे यहाँ आकर मक्खन कैसे खाता है ? अरे ढीठ ग्वालिनी ! तू सबेरे-ही -सबेरे एक अनहोनी बात अर्थात् झूठ बोलने आ गई। मेरा कृष्ण ऐसा शरारती नहीं है। तू क्या बात बनाती है ? गोपी बोली कि मैं क्या कहूँ ? कहने में सकुचाती हूँ। उसके शरीर को क्या दिखाऊँ ? सूर के प्रभु के गुण अपार हैं, वह तो यहीं पर अर्थात् यशोदा जी के घर पर ही लड़का (बाल-रूप) हो जाते हैं।

विशेष—(क) कृष्ण का ब्रज में अवतार लेने का प्रयोजन है ग्वालिनियों के साथ सुख-भोग कर के तथा माता यशोदा को अपने बाल-सौन्दर्य का दर्शन कराके आनन्दित करना—"बाल-रूप मोहिं जसुमति जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग।" इसी कारण यशोदा जी को यह विश्वास नहीं होता कि उनका बालक कन्हैया इतने ऊँचे छींके पर से मक्खन उतार कर उसे कैसे खा जायेगा ? सच बात हो यह है कि यशोदा को बाल-वेष मुरारि के ही दर्शन होते हैं और गोपियों को वह अपने समवयस्क दिखाई देते हैं। ईश्वर के विविध रूपों को देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि जिसकी जैसी भावना होती है, उसे उसी रूप मे भगवान् का साक्षात्कार होता है—"जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।" इस प्रकार इस पद में सगुणोपासकों की मधुरा-भक्ति का प्रतिपादन हुआ है।

(ख) माधुर्य गुण।

(ग) वात्सल्य रस है।

साँवरेंहि बरजति क्यों जु नहीं।
कहा करौं दिन प्रति की बातें, नाहिन परति सही।
माखन खात, दूध लै डारत, लेपत देह दही।
ता पाछें घरहू के लरिकनि, भाजत छिरकि मही।
जो कछु धरहिं चुराइ, दूरि लै, जानत ताहिं तहीं।
सुनहु महरि, तेरे या सुत सौं हम पचि हारि रहीं।
चोरी अधिक चतुरई सीखी जाइ न कथा कही।
ता पर सूर बछरुवनि ढीलत, बन-बन फिरति बही ॥५७॥

शब्दार्थ—मही=मट्ठा। पचि हारि रहीं=परेशान हो गयीं। बछरुवनि= बछड़ों को। ढीलत=निर्बन्ध कर देता है, खोल देता है।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदासकृत "सूरसागर" के "माखन-चोरी" प्रसंग से लिया गया है जिसमें कोई गोपी यशोदा जी से उलाहना दे रही है।

व्याख्या—ग्वालिनी कहती है कि हे यशोदा! तू अपने श्याम को क्यों नहीं हटकती? मैं क्या करूँ? दिन-प्रति-दिन की बातें कहते नहीं बनतीं। वह मक्खन खाता है, दूध को फैला देता है, शरीर पर दही का लेप कर लेता है और तत्पश्चात् घर के बालकों के ऊपर मट्ठा छिड़क कर भाग जाता है। यदि हम किसी वस्तु को दूर ले जाकर छिपा कर रख दें, तो वह उसे भी वहाँ ढूंढ़ लेता है। हे महरि! सुनो, तुम्हारे इस पुत्र से हम तो परेशान हो गई हैं। उसने चोरी करने की तो बहुत ज्यादा चतुराई सीख ली है जिसके विषय में कुछ कहा ही नहीं जा सकता। उस पर भी, सूरदास के माध्यम से गोपियाँ कहती हैं कि, वह बछड़ों को निर्बन्ध कर देता है जिन्हें ढूंढ़ने के लिए हम वन-वन मारी-मारी फिरती हैं।

विशेष—(क) कृष्ण की बाल-लीला का सुन्दर चित्रण हुआ है।

(ख) भाषा सरल एवं पात्रोचित है।

(ग) माधुर्य गुण है।

(घ) वात्सल्य गुण है।

(ङ) **अलंकार**

१. बन-बन में पुनरुक्ति प्रकाश।

२. अनुप्रास की छटा।

चौरी करत कान्ह धरि पाए।
निसि-बासर मोहिं बहुत सतायौ, अब हरि हाथहिं आए।
माखन-दधि मेरौ सब खायौ, बहुत अचगरी कीन्ही।
अब तौ घात परे हौ लालन, तुम्हैं भलैं मैं चीन्ही।
दोउ भुज पकरि, कह्यौ कहँ जैहौ, माखन लेउं मँगाइ।
तेरी सौं मैं नैंकु न चाख्यौ, सखा गए सब खाइ।
मुख तन चितै, बिहँसि हरि दीन्हौ रिस तब गई बुझाइ।
लियौ स्याम उर लाइ ग्वालिनी, सूरदास बलि जाइ ॥५८॥

शब्दार्थ—धरिपाए=पकड़ लिए गए। निसि-बासर=दिन-रात। अचगरी=शैतानी, नटखटी। घात=दाँव। चीन्ही=पहचान गई।

प्रसंग—यह कवि सूरदास के 'सूरसागर' का पद है जिसमें 'माखन-चोरी' करते हुए कृष्ण के पकड़े जाने पर गोपी को होने वाले आनन्द का वर्णन हुआ है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण चोरी करते हुए पकड़े गए। ग्वालिनी बोली हे हरे! तुमने मुझे दिन-रात बहुत तंग किया, अब पकड़ में आए हो। मेरा सब मक्खन-दही खा लिया और बहुत शैतानी की। अरे लालन! अब तो मेरे दाँव पर चढ़ गए, तुम्हें मैं अच्छी तरह से पहचान गई। दोनों बाँहें पकड़कर वह बोली—"जाओगे कहाँ? मक्खन (जो खा लिया है उसे) मँगा लूंगी! इस पर श्रीकृष्ण बोले—अरी, तेरी सौगन्ध! मैंने तो बिलकुल नहीं चखा है, सारे मक्खन को मेरे सखा खा गए हैं। ऐसा कहकर वे उसके मुँह की ओर देखकर हँस गए, तभी ग्वालिनी का गुस्सा ठण्डा पड़ गया। सूरदास जी कहते हैं कि फिर तो उस ग्वालिनी ने श्रीहरि को हृदय से लगा लिया जिस पर मैं बलिहारी हूँ।

विशेष—(क) गोपिकाओं की अभिलषित मधुरा-भक्ति का वर्णन है।

(ख) भाषा सरल एवं माधुर्यगुण-युक्त है।

(ग) पात्रानुकूल संवाद-योजना भी सुन्दर बन पड़ी है।

(घ) वात्सल्य रस है।

(ङ) 'हाथ आना' मुहावरे का सुन्दर काव्यात्मक प्रयोग।

जसुदा, तू जो कहति ही मोसौं ।
दिन प्रति दिन उरहनौ आवति, कहा तिहारें कोसौं ।
वहै उरहनौ सत्य करन कौं, गोबिंदहि गहि ल्याई ।
देखन चली जसोदा सुत कौं, ह्वै गए सुता पराई ।
तेरे नैन, हृदय, मति नाहीं, बदन देखि पहिचानै ।
सुनु री सखी, कहति डोलति है या कन्या सौं कान्है ।
तैं तौ नाम स्याम मेरे कौ, सूधौ करि है पायौ ।
सूरदास प्रभु देखि खरिक तैं, अबहीं आपै आयौ ॥५६॥

शब्दार्थ—उरहनौ=उलाहना । आपै=स्वयं ।

प्रसंग—एक बार एक गोपी कृष्ण को पकड़कर यशोदा के पास उलाहना देने गई । किन्तु यशोदा के देखने पर मालूम हुआ कि गोपी के हाथ में कृष्ण न होकर कोई और ही था । इसी प्रसंग का वर्णन सूरसागर के इस पद में सूरदास जी ने किया है ।

व्याख्या—हे यशोदा ! तू जो मुझसे कहती रहती थी कि दिन-प्रति-दिन उलाहना देने आती रहती है, सो क्या मैं तुम्हारे पुत्र को कोसती थी ? आज मैं उसी उलाहने को सत्य करने के लिए तुम्हारे गोविन्द को पकड़कर ले आई हूँ । जब यशोदा अपने पुत्र को देखने चली, तो वे किसी दूसरे की कन्या बन गए । यह देखकर यशोदा बोली कि तेरे तो नेत्र, हृदय और बुद्धि कुछ नहीं है । तू मुँह देखकर पहिचान करती है ? अरी सखी ! सुन, यह तो इस कन्या से कन्हैया कहती फिरती है । तैंने तो मेरे श्याम का नाम सीधा याद कर लिया है, झट उसी का नाम ले देती है । देख तो, वह सूरदास का प्रभु अभी-अभी गोष्ठ की ओर से अपने-आप आया है ।

विशेष—(क) कृष्ण की इस आश्चर्यमयी लीला से भक्तों के हृदय में हर्षातिरेक होता है, इसीलिए सूर ने इसकी यहाँ पर अवतारणा की है । इसे पढ़कर भक्तों के हृदय में यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि 'माखन-चोरी' करने वाले कृष्ण कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे, अपितु लीला-विहारी ईश्वर के साकार अवतार थे ।

(ख) भाषा सरल और पात्रोचित है जिसमें माधुर्य गुण व्यंजित होता है ।

(ग) वात्सल्य रस की झलक है ।

तेरैं लाल मेरौ माखन खायौ ।
दुपहर दिवस जानि घर सूनौ, ढूँढ़ि-ढँढोरि आपही आयौ ।
खोलि किवारि, पैठि मंदिर मैं, दूध-दही सब सखनि खवायौ ।
ऊखल चढ़ि, सींके कौ लीन्हौ, अनभावत भुइँ मैं ढरकायौ ।
दिन प्रति हानि होति गोरस की यह ढोटा कौनैं ढंग लायौ ।
सूर स्याम कौं हटकि न राखै, तैं ही पूत अनोखौ जायौ ॥६०॥

शब्दार्थ—अनभावत=अच्छा न लगने पर ।

प्रसंग—यह पद महाकवि सूरदासकृत "सूरसागर" के "माखन-चोरी" प्रसंग में से लिया गया है जिसमें कोई ग्वलिनी यशोदा को उलाहना दे रही है ।

व्याख्या—हे यशोदा ! तेरे पुत्र ने मेरा मक्खन खाया है । दिन के दूसरे पहर में सूना घर जान कर ढूँढ़-ढूँढ़ कर सारा मक्खन वह खुद ही खा गया । किवाड़ खोलकर घर के अन्दर घुस कर सारा दूध-दही उसने सखाओं को खिला दिया । ऊखल (मट्ठा विलोने के लिए प्रयुक्त होने वाले खम्भे) पर चढ़कर छींके को पकड़ लिया और जो अच्छा नहीं लगा उसे धरती पर लुढ़का दिया । इस तरह हमारे गोरस की प्रतिदिन हानि हो रही है । पता नहीं, इस लड़के को क्या ढंग सिखाया है ! अरी तू सूर के श्याम को हटक नहीं रखती ! क्या तूने ही अनोखा पुत्र पैदा किया है ?

विशेष—(क) इतने कड़े शब्दों में उलाहना देने में गोपी के मन की यह अभिलाषा व्यक्त होती है कि इससे खीझकर यशोदा मैया श्रीकृष्ण को पीटेंगी, कृष्ण रोयेंगे, हम बीच-बचाव करने पहुँच जायँगी और इन नेत्रों से उनकी बाल-छबि निहारने का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त करेंगी ।

(ख) इस पद में सूर ने व्यंग्यात्मक शैली को अपनाया है ।

(ग) अलंकार

१. दुपहर दिवस, ढूँढ़ि ढँढोरि, दूध दही, सूर श्याम में छेकानुप्रास ।

कन्हैया तू नहिं मोहिं डरात ।
षटरस धरे छाँड़ि कत पर घर, चोरी करि करि खात ।
बकत-बकत तो सौं पचि हारी नैकहुँ लाज न आई ।
ब्रज-परगन-सिकदार महर, तू ताकी करत नन्हाई ।
पूत सपूत भयौ कुल मेरैं, अब मैं जानी बात ।
सूर स्याम अब लौं तुहि बकस्यो, तेरी जानी घात ॥६१॥

शब्दार्थ—ब्रज-परगन-सिकदार=ब्रज के परगने का सिकदार। अकबर के समय का एक राजस्व अधिकारी) । नन्हाई=हेठी । बकस्यौ=क्षमा किया।

प्रसंग—"माखन-चोरी" की नित्य नई शिकायतों से माता यशोदा खीझ गई। उसकी खीझ का सूरदास ने अपने "सूरसागर" के इस पद में वर्णन किया है।

व्याख्या—अरे कन्हैया ! तू मुझसे डरता नहीं है। घर में षट्रस व्यंजनों को रखे हुए छोड़कर पराए घर जाकर चोरी कर-करके तू क्यों खाता है ? मैं तुझसे बक-बक कर थक गई, पर तुझे बिल्कुल शर्म नहीं आई। महर नन्द इस ब्रज के परगने के सिकदार हैं, उनकी तू (छोटे-छोटे लोगों के घर चोरी करके) हेठी करता है। अब मैं समझ गई कि मेरे कुल में सपूत पैदा हो गया। सूरदासजी के माध्यम से यशोदा कहती है कि अब तक तो मैं तुझे क्षमा करती रही, पर अब तेरी बदमाशी को मैं जान गई। इसलिए अब तू क्षमा नहीं किया जा सकता।

विशेष—(क) यशोदा कृष्ण को अपना पुत्र समझकर भ्रमवश ही उन्हें डराती हैं।

(ख) १. 'करि-करि' और 'बकत-बकत' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

२. "पूत सपूत" इत्यादि में काकु-वक्रोक्ति है।

(ग) वात्सल्य रस है।

(घ) 'पचहारना' मुहावरे का सुन्दर काव्यात्मक प्रयोग।

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचैं धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हे कर अपनैं, मैं कैसें करि पायौ।
मुख दधि पौंछि, बुद्धि एक कीन्ही, दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि, मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ।
बाल-बिनोद-मोद-मन मोह्यौ, भक्ति-प्रताप दिखायौ।
सूरदास जसुमति कौ यह सुख, सिव बिरंचि नहिं पायौ ॥६२॥

शब्दार्थ—ख्याल परैं=खेल-खेल में। नान्हे=छोटे। बुद्धि=युक्ति।

प्रसंग—अवतरित पद "सूरसागर" के "माखन-चोरी" नामक प्रसंग से उद्धृत है जिसके रचयिता वात्सल्य रस सम्राट् सूरदास जी हैं। माता के डाँटे जाने पर कृष्ण ने जिस चातुर्य के साथ उस सान्त्वना देकर आनन्दित किया उसी का वर्णन प्रस्तुत पद में किया गया है।

व्याख्या—कृष्ण कहते हैं कि हे मैया! मैंने मक्खन नहीं खाया। खेल-खेल में सब सखाओं ने मिलकर मेरे मुख से लपटा दिया है। तू ही देख कि छींके पर पात्र कितनी ऊँचाई पर लटका हुआ है। और मैं कहता हूँ कि मैंने अपने छोटे हाथों से उसे कैसे प्राप्त कर लिया। इस समय कृष्ण ने एक युक्ति से काम लिया। उन्होंने मुँह पर लगे हुए दही को पोंछ कर दोने को पीठ पीछे छिपा लिया। इस पर प्रसन्न होकर यशोदा जी ने हाथ में लगी हुई साँटी को फेंक कर मुस्करा कर कृष्ण को गले से लगा लिया। उसका मन बाल-विनोद के मोद में ही मोहित हो गया और उसकी सगुण भक्ति का प्रताप प्रकट हो गया। सूरदासजी कहते हैं कि यशोदाजी के इस सुख को तो शिव और ब्रह्मा भी प्राप्त नहीं कर सके।

विशेष—(क) १. यशोदा ने कृष्ण के बाल-विनोदों से आह्लादित होने की अभिलाषा व्यक्त की थी, जिसकी पूर्ति होने पर उनकी भक्ति की सार्थकता सिद्ध हो गई। 'भक्ति-प्रताप दिखायौ' का यही अर्थ है।

२. 'मुख दधि पोंछि' इत्यादि पंक्ति अप्रासंगिक है। 'माखन' और 'दधि' में वही अन्तर है जो पुत्र और पिता में होता है। फिर जब कृष्ण को बिगड़े हुए मुँह के साथ ही पकड़ लिया गया तो फिर मुँह पोंछने में कौन-सी अक्ल-मन्दी रही और दोना कहाँ से आ गया? इस प्रकार यह पंक्ति अप्रासंगिक होने के कारण पूर्णतः प्रक्षिप्त लगती है।

(ख) अनुप्रासयुक्त भाषा से माधुर्य गुण की वृद्धि हुई है।

(ग) वात्सल्य रस है।

बाधौं आजु कौन तोहिं छोरै।
बहुत लंगरई कीन्हौ मोसौं, भुज गहि रजु ऊखल सौं जोरै।
जननी अति रिस जानि बँधायौ, निरखि बदन, लोचन जल ढोरै।
गह सुनि ब्रज-जुवतीं सब धाईं कहति कान्ह अब क्यों नहिं छोरै।
ऊखल सौं गहि बाँधि जसोदा, मारन कौं साँटी कर तोरै।
साँटी देखि ग्वालि पछितानी, विकल भई जहँ-तहँ मुख मोरै।

सुनहु महरि ऐसी न बूझिऐ, सुत बाँधति माखन दधि थोरैं ।
सूर स्याम कौं बहुत सतायौ, चूक परी हम तैं यह भोरैं ॥६३॥

शब्दार्थ—लँगरई=शैतानी । रजु=रस्सी ।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'माखन-चोरी' प्रकरण के 'उलूख-बन्धन' नामक प्रसंग से उद्धृत है । नित्य-प्रति के उपालम्भों से तंग आकर यशोदा द्वारा कृष्ण का उलूख-बन्धन कर दिए जाने पर ब्रज-वनिताओं के हृदय में जो प्रतिक्रिया हुई, उसे सूर ने प्रस्तुत पद में व्यक्त किया है ।

व्याख्या—यशोदाजी कहती हैं कि आज तुझे मैं बाँधती हूँ, देखे कौन छुड़ाता है तुझे ! तूने मुझे वेहद परेशान किया है, ऐसा कह कर श्रीकृष्ण की बाँह को पकड़ कर रस्सी में बाँधकर उसे ऊखल स जोड़ती है । माता को अत्यन्त क्रुद्ध जानकर उन्होंने अपने-आप को बँधा लिया और उसके मुख की ओर देखकर वे आँखों से आँसू बहाने लगे । यह सुनकर ब्रज की समस्त युवतियाँ दौड़ी-दौड़ी वहाँ आईं और कहने लगीं कि कृष्ण को अब क्यों नहीं छोड़ती । ऊखल से बाँधकर यशोदा उन्हें मारने के लिए हाथ में साँटी तोड़ने लगी । साँटी को देखकर ग्वालिनी पछताने लगीं तथा विकल होकर जहाँ-तहाँ मुँह मोड़ने लगीं । मुँह मोड़ने का कारण यही था कि वे अपने प्यारे बाल-गोपाल को दुःखी देखना नहीं चाहती थीं । वे यशोदाजी से निवेदन करने लगीं कि हे महरि ! सुनो, यह बात ठीक नहीं है जो कि तुम थोड़े से मक्खन और दही के लिए पुत्र को बाँधती हो । हमसे नादानी में जो चूक पड़ गई कि हमने आपको उलाहना दिया जिसके पीछे तुमने सूर के श्याम को बेहद सता डाला ।

विशेष—(क) जननि अति रिस जानि बँधायौ—कहा जाता है कि श्रीकृष्ण को यमलार्जुन नामक दो वृक्षों का, जोकि दो गन्धर्व थे, उद्धार करना था । इसीलिए उन्होंने अपने आपको बँधाया था । एक बार जब यशोदाजी ने कृष्ण को बाँधना प्रारम्भ किया था तो श्रीकृष्ण ने अपना वृहद् आकार प्रकट कर दिया जिससे वे तंग आकर उन्हें बाँधने में असफल रहीं । पर, इस समय उन्हें एक लीला करनी थी, इसीलिए उन्होंने अपने-आपको बँधाया था ।

(ख) भाषा सरल एवं माधुर्यगुण युक्त है ।

(ग) वात्सल्य एवं रौद्ररस का सम्मिश्रण है।

(घ) 'लँगरई करना' मुहावरे का सुन्दर काव्यात्मक प्रयोग द्रष्टव्य है।

देखौ माई कान्ह हिलकियनि रोवै।
इतनक मुख माखन लपटान्यौ, डरनि आँसुवनि धोवै।
माखन लागि उलूखल बाँध्यौ, सकल लोग ब्रज जोवै।
निरखि कुरुख उन बालनि की दिसि, लाजनि अँखियनि जोवै।
ग्वाल कहैं धनि जननि हमारी, सुकर सुरभि नित नोवै।
बरबस ही बैठारि गोद मैं, धारैं बदन निचोवै।
ग्वालिन कहैं या गोरस कारन, कत सुत की पति खोवै।
आनि देंहि अपने घरतें हम, चाहति जितौ जसोवै।
जब-जब बंधन छोर्‍यौ चाहति, सूर कहै यह को वै।
मन माधौ तन, चित गोरस मैं, इहिं विधि महरि बिलोवै ॥६४॥

शब्दार्थ—इतनक=थोड़ा-सा। गोवै=छिपाता है। सुकर=अपने हाथ से। नोवै=नोई लगाकर दूध काढ़ती है। विचोवै=निचोड़ती है। पति-खोवे=बेइज्जती की जाए, अविश्वास किया जाए।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास द्वारा प्रणीत "सूरसागर" के "माखन-चोरी" प्रकरण के "उलूखल-बन्धन" प्रसंग से लिया गया है। प्रस्तुत पद में उलूखल से बँधे हुए कृष्ण की दयनीय स्थिति का वर्णन कवि ने गोप-गोपिकाओं के मुख से कराया है।

व्याख्या—अरे माई! देखो, कन्हैया हिलकियाँ ले-लेकर रो रहा है। उसके मुख से थोड़ा-सा मक्खन लिपटा हुआ है, किन्तु डर के मारे आँसुओं से उसे धो रहा है। मक्खन (खाने) के कारण उसे उलूखल से बाँध रखा है और ब्रज के सारे लोग तमाशा देख रहे हैं। इस दयनीय स्थिति में उन बालकों की ओर देखकर, शर्म के मारे आँखें चुराता है। वहाँ पर खड़े हुए ग्वाले कहते हैं कि धन्य है हमारी माता जो नित्य अपने हाथ से गाय दुहती है और हमें जबर्दस्ती गोद में बिठाकर दूध की धारें हमारे मुँह में निचोड़ती है। ग्वालिनें कहती हैं कि इस गोरस के लिए पुत्र की छीछालेदर क्यों की जाए? यदि यशोदा के घर में गोरस नहीं है तो वह जितना चाहे उतना अपने घर से लाकर हम दे दें। सूरदासजी कहते हैं कि जब-जब ग्वालिनें कृष्ण को छोड़ना

चाहती हैं, तब-तब यशोदा कह देती है—कौन है ? उसका मन माधव की ओर है, चित्त गोरस में लगा हुआ है और इस प्रकार यशोदा दही बिलो रही है।

विशेष—(क) इस घटना से यह सिद्ध होता है कि कृष्ण सब व्रजवासियों के प्यारे हैं; इसीलिए वे अपने लोक-रंजक कन्हैया के साथ सहानुभूति दिखाते हुए यशोदा माता की कठोरता की भर्त्सना करते हैं।

(ख) ग्रामीण जीवन का एक सुन्दर एवं मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत किया गया है।

(ग) भाषा सरल, सजीव एवं पात्रोचित है।

(घ) वात्सल्य रस है।

(ङ) **अलंकार**—

१. जब-जब—में पुनरुक्ति प्रकाश।

२. सुकर सुरभि, मुख माखन, मन माधौ में छेकानुप्रास।

हरि-मुख देखि हो नंद-नारि।
महरि ऐसे सुभग सुत सौं, इतौ कोह निवारि।
सरद-मंजुल-जलज-लोचन, लोल, चितवन दीन।
मनहुँ खेलत हैं परस्पर, मकरध्वज, द्वै मीन।
ललित कन-संजुत कपोलनि लसत कज्जल अंक।
मनहुँ राजत रजनि, पूरन कलापति सकलंक।
बेगि बन्धन छोरि, तन-मन वारि, लै हिय लाइ।
नवल स्याम किसोर ऊपर, सूर जन बलि जाइ ॥६५॥

शब्दार्थ—कोह=क्रोध। निवारि=दूर कर। सरद-मंजुल-जलज-लोचन=शरद्कालीन सुन्दर कमल जैसे नेत्र। लोल=चंचल। मकरध्वज=कामदेव। कनसंजुत=अश्रु-कणों से युक्त। रजनि=रात्रि। कलापति=चन्द्रमा।

प्रसंग—अवतरित पद भक्तकवि सूरदास द्वारा प्रणीत "सूरसागर" के "माखन-चोरी" प्रकरण के "उलूखल-बंधन" नामक प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में बंधन-युक्त कृष्ण की दयनीय स्थिति का वर्णन सूर ने किसी ग्वालिन के माध्यम से किया है।

व्याख्या—हे नन्द-पत्नी ! तू हरि के मुख को तो देख। हे महरि ! ऐसे सुन्दर पुत्र से इतने क्रोध को दूर कर अर्थात् इतना क्रोध मत कर। शरत्-कालीन सुन्दर कमल जैसे नेत्र चंचल हैं किन्तु उनकी चितवन दीनता भरी

है। ऐसा लगता है मानो कामदेव की दो मछलियाँ आपसे खिलवाड़ करती हैं। अश्रु-कणों से युक्त सुन्दर कपोलों पर का जल का चिह्न ऐसा शोभा पा रहा है मानो रात्रि के समय पूर्ण चन्द्रमा कलंक-सहित विद्यमान हो। इसलिए तू ऐसे सुन्दर पुत्र के बन्धन को जल्दी खोल, अपने तन-मन को उस पर निछावर कर तथा उसे अपने हृदय से लगा। ऐसे नवल किशोर श्याम के ऊपर यह सूरदास नामक भक्त भी बलिहारी है।

विशेष—(क) कृष्ण अप्रतिम सौन्दर्यशाली हैं अतः उनके प्रति सबका स्वाभाविक आकर्षण है। जॉन कीट्स का कथन है कि सुन्दर वस्तु सदा आह्लादक होती है—"A thing of beauty is joy for ever।" इसीलिए उस सौन्दर्य-रस का पान करने के लिए कृष्ण को बन्धन-मुक्त कराने के लिए बार-बार अपील की गई है।

(ख) (१) यहाँ पर नेत्रों में मीन तथा कज्जल में चन्द्रमा के कलंक की संभावना हुई है, अतः उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(२) सुभग सुत सौं में वृत्यानुप्रास।

(३) लोचन लोल, वेगि बंधन—में छेकानुप्रास।

(ग) माधुर्यगुण है।

(घ) वात्सल्य रस है।

कहौ तौ माखन ल्यावहिं घर तें।
जा कारन तू छोरति नाहीं, लकुट न डारति कर तें।
सुनहु महरि ऐसी न बूझियै, सकुचि गयौ मुख डर तें।
ज्यौं जल-रुह ससि-रस्मि पाइकै, फूलत नाहिन सर तें।
ऊखल लाइ भुजा धरि-बाँधी, मोहनि मूरति बर तें।
सूर स्याम लोचन जल बरषत, जनु मुकुता हिमकर तें ॥६६॥

शब्दार्थ—जल-रुह=कमल। ससि-रस्मि=चन्द्रमा की किरण। मुकुता=मोती। हिमकर=चन्द्रमा।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास-विरचित "सूरसागर" के "माखन-चोरी" प्रकरण के "उलूखल-बंधन" प्रसंग से उद्धृत है। इस पद में ब्रज-युवतियाँ कृष्ण को बन्धन-मुक्त हुआ न देखकर यशोदाजी की भर्त्सना करती हैं।

व्याख्या—ग्वालिनें कहती हैं कि हे यशोदाजी यदि तू कहे तो हम अपने घर से मक्खन ले आवें जिसके कारण कि तू अपने पुत्र को बन्धन-मुक्त नहीं करती और हाथ से डंडे को नहीं गिराती। हे महरि! ऐसा करना उचित नहीं है, क्योंकि वह तो तेरे मुख के डर से ही संकुचित हो गया है, जिस प्रकार कि कमल चन्द्रमा की किरणों को पाकर सरोवर में फूलता नहीं है। तूने इस श्रेष्ठ मोहिनी मूर्ति को ऊखल से लेकर भुजा में बाँध रखा है। सूरदासजी कहते हैं कि श्याम अपने नेत्रों से जल बरसा रहा है जिस प्रकार कि चन्द्रमा से मोतियों की वृष्टि होती है।

विशेष—(क) वास्तव में मोहिनी मूर्ति दुःख के लिए नहीं होती, आनन्द के लिए होती है; इसीलिए उसे निर्बन्ध रखने के लिए निवेदन किया गया है।

(ख) ज्यौं जल-रुह·······में उदाहरण अलंकार है।

(ग) माधुर्य गुण है।

(घ) वात्सल्य रस है।

कहन लगीं अब बढ़ि-बढ़ि बात।
ढोटा मेरौ तुमहिं बँधायौ, तनकहिं माखन खात।
अब मोहिं माखन देति मँगाए, मेरें घर कछु नाहिं।
उरहन कहि कहि साँझ सबारें, तुमहि बँधायौ याहि।
रिस ही मैं मोकौं गहि दीन्हौ, अब लागी पछितान।
सूरदास अब कहति जसोदा, बूझ्यौ सबकौ ज्ञान।।६७।।

शब्दार्थ—तनकहिं=थोड़ा-सा। बूझ्यौ=समझ लिया।

प्रसंग—"माखन-चोरी" की शिकायतों से खीझकर तो यशोदा ने 'उलूखल-बन्धन' किया, बदले में शिकायत करने वाली ही यशोदा जी की भर्त्सना करने लगीं। इससे यशोदा जी ने चिढ़कर उन्हें डाँट लगाई, उसका वर्णन सूरदासजी ने "सूरसागर" के इस पद में किया है।

व्याख्या—यशोदा जी बोली कि अब तुम सब बढ़-बढ़कर बातें कहने लगीं! थोड़ा-सा मक्खन खाने के पीछे मेरे पुत्र को तुमने ही बँधवाया था और मेरे लिए मक्खन मँगाए देती हैं। क्या मेरे घर में कुछ भी नहीं है? साँझ और सबेरे उलाहने दे-देकर तुमने ही तो इसको बँधवाया है। मैं रिस में थी,

तभी मुझे लाकर वह पकड़ा दिया और अब पछताने लगीं। यह कहाँ की तुक है ? सूरदास जी कहते हैं कि अब यशोदा कहती हैं कि मैंने सबका ज्ञान देख-समझ लिया, अर्थात् तुम सब लोग निरे मूर्ख हो।

विशेष—(क) उलाहना देने वाला व्यक्ति ही माँ-बाप की भर्त्सना कर बच्चे का पक्ष लेने लगता है, तो उन्हें खीझ हो जाती है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है जिसका सूर ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में विश्लेषण किया है।

(ख) भाषा सरल एवं माधुर्य गुण-युक्त है।

(ग) वात्सल्य-युक्त रौद्ररस है।

(घ) **अलंकार**

१. बढ़ि बढ़ि, कहि कहि में पुनरुक्ति प्रकाश।

२. स्वभावोक्ति।

मोहिं कहति जुवती सब चोर।
खेलत कहूँ रहौं मैं बाहिर, चितै रहति सब मेरी ओर।
बोलि लेति भीतर घर अपनैं, मुख चूमति, भरि लेति अँकोर।
माखन हेरि देति अपनैं कर, कछु कहि बिधि सौं करति निहोर।
जहाँ मोहिं देखति, तहँ टेरति, मैं नहिं जात दुहाई तोर।
सूर स्याम हँसि कंठ लगायौ, वै तरुनी कहँ बालक मोर।।६८।।

शब्दार्थ—अँकोर=अँकवार, गोद, कौली। दुहाई=सौगन्ध।

प्रसंग—अवतरित पद भक्त-शिरोमणि सूरदासकृत "सूरसागर" के "माखन-चोरी" प्रकरण से उद्धृत है। माता के द्वारा मार-पीट किए जाने पर श्रीकृष्ण अपनी सफाई पेश करते हुए व्रज-युवतियों पर जो दोषारोपण करते हैं, उसका वर्णन प्रस्तुत पद में किया गया है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझे सब युवतियाँ चोर कहती हैं। मैं बाहर कहीं भी खेलता होऊँ, वे सबकी सब मेरी ओर ही टकटकी लगाए रहती हैं। मुझे अपने घर के भीतर बुला लेती हैं, मेरा मुख चूमती हैं और मुझे अंक-वार में भर लेती हैं। मक्खन देखकर (लाकर) अपने ही हाथ से मुझे देती हैं और फिर विधाता से कुछ कहकर निवेदन करती हैं। वे मुझे जहाँ देखती हैं, वहीं पुकारती हैं, पर तेरी सौगन्ध माँ ! मैं उनके पास नहीं जाता। सूरदास

जी कहते हैं कि यह सुनकर मैया यशोदा ने श्याम को हँस कर गले लगाकर कहा कि कहाँ वे तरुणियाँ और कहाँ मेरा यह बालक ? कोई तुलना नहीं ।

विशेष—(क) कृष्ण के द्वारा ब्रजांगनाओं की शिकायत करा कर सूर ने यह सिद्ध किया है कि वे कृष्ण की मधुरा-भक्ति की अभिलाषिणी एवं उनके नवलकिशोर रूप की उपासिनी थीं ।

(ख) "वै तरुनी कहँ बालक मोर" में निदर्शना अलंकार है ।

(ग) पद माधुर्यगुण-युक्त है ।

(घ) वात्सल्य रस की स्पष्ट झलक है ।

जसुमति कहति कान्ह मेरे प्यारे, अपनै ही आँगन तुम खेलौ ।
बोलि लेहु सब सखा संग के, मेरौ कह्यौ कबहुँ जिनि पेलौ ।
ब्रज-बनिता सब चोर कहति तोहिं, लाजनि सकुचि जात मुख मेरौ ।
आजु मोहिं बलराम कहत है, झूठहिं नाम धरति हैं तेरौ ।
जब मोहिं रिस लागति तब त्रासति, बाँधति, मारति, जैसें चोरौ ।
सूर हँसति ग्वालिनि दै तारी, चोर नाम कैसेंहुँ सुत फेरौ ॥६६॥

शब्दार्थ—जिनि पेलौ=उल्लंघन मत करो । त्रासति=डराती है ।

प्रसंग—अवतरित पद भक्त कवि सूरदास कृत सूरसागर के "माखन-चोरी" नामक प्रकरण से उद्धृत है । प्रस्तुत पद में यशोदा माता श्रीकृष्ण को शिक्षा देती है ।

व्याख्या—यशोदा कहती है कि मेरे प्यारे कन्हैया ! तुम अपने ही आँगन में खेलो । साथ के सब सखाओं को यहीं बुला लो । मेरे कहने का कभी उल्लंघन मत करो । ब्रज की सारी युवतियाँ तुझे चोर कहती हैं और मेरा मुख लाज के मारे सकुचा जाता है । आज मुझसे बलराम ने भी कहा था कि वे झूठ-मूठ को ही तेरा नाम (चोर) रखती हैं । और जब मुझे गुस्सा आ जाती है, तब मैं तुझे डराती हूँ, बाँधती हूँ और चोर की तरह तुझमें मार लगाती हूँ । सूरदास जी कहते हैं कि यशोदा कहती है कि ग्वालनियाँ ताली दे-देकर हँसती हैं, इसलिए हे पुत्र ! किसी तरह से अपने इस 'चोर' नाम को बदल दे ।

विशेष—(क) इस पद में एक आदर्श माता का स्वरूप द्रष्टव्य है जो अपने बालक को उचित शिक्षा देती है ।

(ख) भाषा सरल, सजीव एवं माधुर्ययुक्त है ।

(ग) वात्सल्य रस है ।

(घ) अलंकार—

१. सब सखा संग……में वृत्यानुप्रास ।

२. स्वभावोक्ति ।

गो-चारण

आजु मैं गाइ चरावन जैहौं ।
बृन्दाबन के भाँति-भाँति फल अपने कर मैं खैहौं ।
ऐसी बात कहौ जनि बारे, देखौ अपनी भाँति ।
तनक-तनक पग चलिहौ कैसें, आवत ह्वै है राति ।
प्रात जात गैया लै चारन, घर आवत हैं साँझ ।
तुम्हरौ बदन कमल कुम्हिलैहैं, रेंगत घामहिं माँझ ।
तेरी सौं मोहिं घाम न लागत, भूख नहीं कछु नेक ।
सूरदास प्रभु कह्यौ न मानत, पर्यौ आपनी टेक ।।७०।।

शब्दार्थ—भाँति=विसात, औकात, सामर्थ्य । घामहिं माँझ=धूप में ।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास-कृत "सूरसागर" के "गोचारण" नामक प्रकरण से उद्धृत है । प्रस्तुत पद में श्रीकृष्ण अपनी माता से गायें चराने के लिए आग्रह करते हैं ।

व्याख्या—श्रीकृष्ण कहते हैं कि आज मैं गायों को चराने जाऊँगा और वृन्दावन के नाना प्रकार के फलों को अपने हाथों से खाऊँगा । इस बात को सुनकर यशोदा बोली कि मेरे बारे ! ऐसी बात मत कहो, अपनी सामर्थ्य की ओर देखो ! तुम छोटे-छोटे पैरों से कैसे चलोगे ? तुम्हें घर आते-आते रात हो जाया करेगी । गाय चराने वाले तो सबेरे तड़के ही गायों को चराने ले जाते हैं और सन्ध्या के समय घर आते हैं; और धूप में धीरे-धीरे चलते-चलते तुम्हारा मुख रूपी कमल कुम्हला जायेगा । माता के द्वारा प्रतिरोध किए जाने पर श्रीकृष्ण निवेदन करने लगे कि माँ ! तेरी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि न तो मुझे धूप असर करती है और न बिल्कुल भूख ही लगती । सूरदासजी कहते हैं प्रभु कहना नहीं मानते, अपनी ही टेक (जिद्र) पर उतारू हो गए हैं ।

विशेष—(क) ग्रामीण जीवन में छोटे-छोटे बच्चों को वन में जाकर पशुओं को चराने की बड़ी उत्सुकता होती है, और वे बड़ी-से-बड़ी परेशानी की भी चिन्ता नहीं करते । इस तथ्य का उद्घाटन सूर ने बड़ी ही सजीव भाषा में मनोवैज्ञानिक आधार पर किया ।

(ख) भाषा सरल, सरस एवं मधुर है।

(ग) "बदन-कमल" में रूपक अलंकार है।

(घ) वात्सल्य रस है।

मैया, हौं गाय चरावन जैहौं।
तू कहि महर नंद बाबा सौं, बड़ौ भयो न डरैहौं।
रैता, पैता, मना, मनसुखा, हलधर संगहि रैहौं।
बंसीवट तर ग्वालनि के संग, खेलत अति सुख पैहौं।
ओदन भोजन दै दधि काँवरि, भूख लगै तें खैहौं।
सूरदास है साखि जमुन-जल, सौंह देहु जु नहैहौं ॥७१॥

शब्दार्थ—काँवरि=कमोरी। साखि=साक्षी। सौंह=शपथ, सौगन्ध।

प्रसंग—अवतरित पद महात्मा सूरदास-रचित "सूरसागर" के "गोचारण" नामक प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में श्रीकृष्ण गोचारण के लिए लालायित होकर अपनी माता से निवेदन कर रहे हैं।

व्याख्या—श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैया ! मैं गाएँ चराने जाऊँगा। तू महर नन्द बाबा से कह दे कि मैं बड़ा हो गया हूँ। अब मैं नहीं डरूँगा। फिर डरने की बात ही क्या ? मैं तो रैता, पैता, मना, मनसुखा और हलधर के साथ ही रहूँगा। गोचारण में उनकी इतनी रुचि क्यों है, इस बात का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि वंशी-वट के नीचे ग्वालों के साथ खेलने में मुझे बड़ा सुख मिलेगा। तू तो मुझे एक कमोरी में भात और दही का भोजन देदे जिसे भूख लगने पर मैं खा लूंगा। सूरदास के प्रभु कहते हैं कि हे माता ! यदि मैं जमुना में नहाऊँ तो मुझे वही साक्षी है और उसी की सौगन्ध खाता हूँ। भाव यह है कि मैं श्री जमुनाजी की शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं उसमें नहाऊँगा नहीं। इस पंक्ति का दूसरा अर्थ यह भी संभव है कि हमारा साक्षी यमुना-जल है। यदि मैं नहाऊँ तो तू मुझे उसकी कसम दे दे।

विशेष—(क) इस पद में गोचारण करने वाले ग्रामीण बालकों की दिन-चर्या की सूक्ष्म जानकारी का परिचय दिया गया है।

(ख) पद की भाषा सरल और माधुर्यगुण युक्त है।

(ग) वात्सल्य रस है।

बन तें आवत धेनु चराए।
सँध्या-समय साँवरे मुख पर, गोपद-रज लपटाए।
बरह-मुकुट कें निकट लसति लट, मधुप मनो रुचि पाए।
बिलसत सुधा-जलज-आनन पर, उड़त न जात उड़ाए।
बिधि-बाहन-भच्छन की माला, राजस उर पहिराए।
एक बरन बपु नहिं बड़ छोटे, ग्वाल बने इकदाए।
सूरदास बलि लीला प्रभु की, जीवन जन जस गाए ॥७२॥

शब्दार्थ—गोपद-रज=गायों के खुरों से उड़ने वाली धूल। बरह-मुकुट=मयूरचन्द्रिका का मुकुट। बिलसत=क्रीड़ा करते हैं। सुधा-जलज-आनन=अमृतमय कमल रूपी मुख। बिधि-बाहन-भच्छन=ब्रह्माजी के वाहन अर्थात् हंस का भोजन अर्थात् मोती। इकदाए=समवयस्क।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास द्वारा प्रणीत 'सूरसागर' के 'गोचारण' नामक प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में वन से गाएँ चराकर लौटने वाले श्रीकृष्ण की छवि का वर्णन है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण वन से गाएँ चराकर आते हैं। संध्या का समय है। उनके साँवले मुख पर गायों के खुरों से उड़ने वाली धूल लिपटी हुई है। सिर पर मोर-मुकुट के निकट लट ऐसी शोभा दे रही है मानो भौंरे रुचिपूर्वक अमृतमय कमल रूपी मुख पर क्रीड़ा कर रहे हैं और वहाँ पर इतने आनन्द-मग्न हैं कि उड़ाए जाने पर भी नहीं उड़ते। उनके हृदय पर विद्यमान मोतियों की माला अत्यन्त शोभा को प्राप्त हो रही है। उनके साथ में एक वर्ण, एक ही शरीर, एक ही कद और एक ही अवस्था के ग्वाल-बाल विद्यमान हैं। प्रभु की इस लीला पर सूरदास बलिहारी हैं और भगवद्भक्त उनके यश को गाकर जीवन प्राप्त करते हैं।

विशेष—(क) लीला-विहारी भगवान् श्रीकृष्ण का जो सान्निध्य प्राप्त कर लेता है, वह भगवदाकार ही हो जाता है। यही आशय "एक बरन बपु नहिं बड़ छोटे, ग्वाल बने इकदाए" पंक्ति से प्रकट होता है। यही नहीं, सूर ने अन्यत्र भी कहा है—"बैठत सबै सभा हरि जू को कौन बड़ो को छोट।" और इस विषय में श्रुति प्रमाण भी है—"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।" भगवान् लोकवत् लीला-विहार का नित्य गुण-गान करने में ही भक्तों का कैवल्य है, इसीलिए 'सूर सगुण-लीला-पद' गाते रहते हैं।

(ख) भाषा साहित्यिक एवं माधुर्य गुण युक्त है।

(ग) तृतीय तथा चतुर्थ पंक्ति में उत्प्रेक्षा और रूपक का संकर है।

(घ) वात्सल्य रस है, जिसमें भक्ति-भाव भी सम्मिलित है।

मैया हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं, मेरे पाइ पिराइँ।
जौन पत्याहि पूछि बलदाउहिं, अपनी सौंह दिवाइ।
यह सुनि माइ जसोदा ग्वालनि, गारी देति रिसाइ।
मैं पठवति अपने लरिका कौं, आवै मन बहराइ।
सूर स्याम मेरौ अति बालक, मारत ताहि रिंगाइ ॥७३॥

शब्दार्थ—पिराइँ=दुखते हैं। पत्याहि=विश्वास करती है।

प्रसंग—यह पद महाकवि सूरदास के 'सूरसागर' के 'गोचारण' नामक प्रसंग से लिया गया है जिसमें वन से घर आकर श्रीकृष्ण अपनी माता से ग्वालों की शिकायत करते हैं।

व्याख्या—श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे मैया ! मैं गाय नहीं चराऊँगा। सारे ग्वाले मुझ से ही गाएँ घिराते हैं जिससे मेरे पैर दुखने लगते हैं। यदि तू मेरी बात पर विश्वास नहीं करती है, तो बलदाऊ को अपनी सौगंध दिलाकर पूछ ले। यह सुनकर माता यशोदा क्रोध में आकर ग्वालों को गाली देती है कि मैं तो अपने लड़के को इसलिए भेजती हूँ कि वहाँ अपना मन बहला आवे, मेरा सूर का श्याम तो निरा बालक है, उसे इस तरह परेशान करते रहते हैं।

विशेष—(क) बालक की शिकायत पर माता की खीझ का कितना स्वाभाविक चित्रण है।

(ख) पद की भाषा सरल और माधुर्यगुण युक्त है।

(ग) वात्सल्य रस है।

धनि यह बृन्दाबन की रेनु।
नँद-किसोर चरावत गैयाँ, मुखहिं बजावत बेनु।
मन-मोहन कौ ध्यान धरैं जिय, अति सुख पावत चैनु।
चलत कहाँ मन और पुरी तन, जहँ कछु लैन न दैनु।
इहाँ रहहु जहँ जूठनि पावहु, ब्रजवासिनि कैं ऐनु।
सूरदास ह्याँ की सरवरि नहिं, कलपबच्छ सुर-धैनु ॥७४॥

शब्दार्थ=रेनु=धूल। वेनु=बंशी। ऐनु=घर। सरवरि=बराबरी में। सुर-धैनु=कामधेनु।

प्रसंग—प्रस्तुत पद सूरदास कृत 'सूरसागर' के 'गोचारण' नामक प्रसंग से लिया गया है जिसमें कवि ने वृन्दावन-माहात्म्य का वर्णन किया है।

व्याख्या—यह वृन्दावन की रज धन्य है जहाँ पर श्री नन्दकिशोर मुख में बंशी बजाते हुए गाएँ चराते हैं। इस स्थान पर हृदय में मन-मोहन का ध्यान करने पर अति सुख और चैन मिलता है। फिर अन्य किसी नगरी में, जहाँ कुछ लेना-देना ही नहीं, यह मन क्यों चलने लगा? हे मन! तुम यहीं रहो! ब्रजवासियों के घर में उनकी जूठन को पाओ। सूरदास कहते हैं कि इस स्थान की बराबरी कल्पवृक्ष और कामधेनु भी नहीं कर सकते।

विशेष—(क) भक्तों की मान्यता है कि श्रीकृष्ण के गोचारण करने से उनके चरण-रज का स्पर्श कर वृन्दावन-धाम परम पवित्र है, इसलिए उसी में रह कर हरि-चिन्तन करने से भगवत्प्राप्ति का होना सुगम है।

(ख) अन्तिम चरण में व्यतिरेक अलंकार है।
(ग) माधुर्य गुण है।
(घ) भक्ति रस है।

चरावत वृन्दावन हरि धेनु।
ग्वाल सखा सब संग लगाए, खेलत हैं करि चैनु।
कोउ गावत, कोउ मुरलि बजावत, कोउ विषान, कोउ बेनु।
कोउ निरतत, कोउ उघटि तार दै, जुरी ब्रज-बालक-सेनु।
त्रिविध पवन जहँ बहत निसदिन सुभग कुंज घन ऐनु।
सूर स्याम निज धाम बिसारत, आवत यह सुख लैनु ॥७५॥

शब्दार्थ—विषान=सींगी बाजा। त्रिविध=तीन प्रकार का—शीतल, मंद और सुगन्ध।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास-रचित 'सूरसागर' के 'गोचारण' नामक शीर्षक से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में सूर ने गोप-सखाओं के साथ गाय चराते हुए श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण वृन्दावन में गौएँ चराते हैं। साथ में गोप-सखाओं को लेकर वे सानन्द खेलते हैं। उनमें से कोई गाता है, कोई मुरली बजाता है, कोई सींगी और कोई वेणु बजाता है। कोई नृत्य करता और कोई उछल कर

ताल देता है; इस प्रकार ब्रज-बालकों की सेना इकट्ठी हो गई है। उस स्थान पर दिन-रात सुन्दर सघन कुंज-मन्दिर में त्रिविध पवन प्रवाहित होता रहता है जिससे, सूरदासजी कहते हैं कि, श्रीकृष्ण अपने घर की सुध भूलकर इस स्थान के आनन्द को प्राप्त करने के लिए आते हैं।

विशेष—(क) लीला-बिहारी प्रभु की सगुण-लीला का सगुणोपासक परम्परानुसारी वर्णन हुआ है।

(ख) भाषा सरस एवं माधुर्ययुक्त है।

(ग) भक्ति-संवलित वात्सल्य रस है।

सखनि संग जेंवत हरि छाक।
प्रेम सहित मैया दै पठई, सबै बनाई है इक ताक।
सुबल, सुदामा, श्रीदामा मिलि, सँग भोजन रुचि करि खात।
ग्वालनि कर तें कौर छुड़ावत, मुख लै मेलि सराहत जात।
जो सुख कान्ह करत वृंदावन, सो सुख नहीं लोकहूँ सात।
सूर स्याम भक्तन बस ऐसे ब्रह्म कहावत हैं नँद-तात ॥७६॥

शब्दार्थ—छाक=दोपहर का भोजन। इक ताक=एक जैसी। नँद-तात=नन्द के पुत्र।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'गोचरण' नामक प्रकरण से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में सूर ने अपने आराध्य देव गोपाल कृष्ण की भक्त-वत्सलता की सराहना की है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण सखाओं के साथ में दोपहर का भोजन करते हैं। उस भोजन या छाक को मैया यशोदा ने बड़े प्रेम के साथ भेजा है और अन्य सब ग्वालों की माताओं ने भी वैसी ही छाक बनाकर भेजी है। सुबल, सुदामा, श्रीदामा आदि सब एक साथ मिलकर बड़े प्रेम से भोजन करते हैं। उस समय श्रीकृष्ण उन ग्वालों के हाथ से कौर छुड़ा कर, उसे अपने मुँह में डालकर उसकी बड़ी सराहना करते जाते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण वृन्दादन में जिस सुख को उत्पन्न करते हैं वह सुख समस्त लोकों में नहीं है। सूरदासजी कहते हैं कि भगवान् कृष्ण तो भक्तों के वश में इस तरह रहते हैं कि वे ब्रह्म होते हुए भी नन्द के पुत्र कहलाते हैं।

विशेष—(क) १. भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्म की ही साकार अभिव्यक्ति हैं। ब्रह्म निर्गुण, निरंजन और रूप रहित है वह सगुण कैसे हो जाता है, इसका

उत्तर यही है कि वे भक्तों की भक्ति से प्रसन्न होकर उन पर अनुग्रह करने के लिए सगुण हो जाते हैं । तुलसीदास का भी यही मत है—

"अगुन अरूप अलखगति जोई । भगति प्रेम बस सगुन सो होई ।।" और सगुण होकर लोक-लीलाओं में विहार कर सांसारिकता में बद्ध से प्रतीत होने लगते हैं, परन्तु "जानहिं यह चरित्र मुनि ज्ञानी । जिन रघुवीर चरण रति मानी ।।" अतः वे लोग इन लोकवत् लीला-विहारों का गुण-गान कर स्वयं कैवल्य प्राप्त कर लेते हैं ।

२. लोकहूँ सात—लोक तो चौदह होते हैं । यहाँ पर सात ऊर्ध्व लोकों से अभिप्राय है और लक्षण वृत्ति से उसका अर्थ 'सभी लोक' है ।

(ख) भाषा सरल और माधुर्यपूर्ण है ।

(ग) सख्य-भाव की प्रतीति हो रही है, अतएव यहाँ पर भक्ति-रस है ।

ग्वालिन कर तैं कौर छुड़ावत ।
जूठौ लेत सबनि के मुख कौ, अपनैं मुख लै नावत ।
षटरस के पकवान धरे सब, तिनमैं रुचि नहिं लावत ।
हा-हा करि-करि माँगि लेत हैं, कहत मोहिं अति भावत ।
यह महिमा येई पै जानत, जातैं आपु बँधावत ।
सूर स्याम सपनैं नहिं दरसत, मुनि जन ध्यान लगावत ।।७७।।

शब्दार्थ—नावत = रखते हैं । दरसत = दर्शन देते हैं ।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तशिरोमणि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'गोचारण' नामक प्रकरण से उद्धृत है, जहाँ पर कि कवि ने श्रीकृष्ण की गोपों के प्रति भक्ति-वत्सलता का चित्रण किया है ।

व्याख्या—छाक जीमते समय श्रीकृष्ण ग्वालों के हाथ से कौर छीनते हैं । सबके मुख का जूठन लेकर उसे वे अपने मुँह में रखते हैं । यद्यपि उनके सामने षट्रस के सभी व्यंजन रखे हुए हैं किन्तु उसकी उनमें कोई रुचि नहीं, अपितु ग्वालों से ही हा-हा खाकर माँगते हैं और कहते हैं कि तुम्हारा खाना मुझे बड़ा अच्छा लगता है । जिस महिमा से इन्होंने अपने आपको गोपों के प्रेम-जाल में बँधा रखा है उसे केवल ये ही जान सकते हैं । सूरदासजी कहते हैं कि जिन भगवान् का मुनि लोग ध्यान लगाते हुए भी उनका स्वप्न में भी दर्शन नहीं कर पाते, वे गोपों के अधीन हैं, यह कैसी विलक्षण बात है ।

विशेष—(क) भगगान् भक्ति और प्रेम के वश में हैं। नवधा भक्ति में वर्णित सख्य-भक्ति का गोपों ने आचरण किया है इसलिए श्रीकृष्ण उनके साथ नित्य सख्य-भाव रखते हैं। उन्हें 'केवल प्रेम प्यारा' है, 'कपट-छल-छिद्र' तो उन्हें सपने में भी नहीं सुहाता। भक्ति और प्रेम की महिमा का वर्णन करते हुए तुलसी ने भी कहा है—"निगम नेति मुनि ध्यान न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा।" किन्तु इस महिमा को भगवान् ही जानते हैं और जानते हैं वे "मुनि ज्ञानी, जिन रघुवीर चरन रति मानी।"

(ख) भाषा सरल, सरस और सुमधुर है।

(ग) सख्य-भाव-संवलित भक्ति रस है।

ब्रजहिं चलौ आई अब साँझ।
सुरभी सबै लेउ आगें करि, रैनि होइ जनि बनहीं माँझ।
भली कही यह बात कन्हाई, अतिहीं सघन अरन्य उजारि।
गैया हाँकि चलाई ब्रज को, और ग्वाल सब लए पुकारि।
निकसि गए बन तैं जब बाहिर, अति आनन्द भए सब ग्वाल।
सूरदास प्रभु मुरलि बजावत, ब्रज आवत नटवर गोपाल ॥७८॥

शब्दार्थ—सुरभी=गाय। सघन अरन्य=घना जंगल।

प्रसंग—अवतरित पद 'सूरसागर' के 'गोचारण' नामक शीर्षक से उद्धृत है जिसके रचयिता महाकवि सूरदास हैं। प्रस्तुत पद में कवि ने श्रीनटवर गोपाल के गाय चराकर संध्या-समय घर लौटने के विषय में वर्णन किया है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण ग्वालों से कहते हैं कि अब ब्रज को चलो क्योंकि अब संध्या हो गई। सारी गायों को आगे कर लो, कहीं वन के अन्दर ही हमें रात न हो जाए। सब ग्वाले बोले कि हे कृष्ण! आपने ठीक ही कहा है, यह वन अति सघन एवं भयंकर है (अतः यहाँ से शीघ्र ही चल देना चाहिए)। तब श्रीकृष्ण गाएँ हाँक कर ब्रज की ओर चल दिये और सब ग्वालों को बुला लिया। जब वे वन से बाहर निकल गए, तब सब ग्वालों को अति आनन्द हुआ। सूरदास के प्रभु श्री नटवरगोपाल मुरली बजाते हुए ब्रज की ओर आने लगे।

विशेष—(क) ग्राम्य जीवन के एक चित्र की उत्तम झलक दृष्टिगत होती है।

(ख) भाषा सरल, सरस तथा सुमधुर है।
(ग) सख्य भाव-मिश्रित भक्ति रस है।

सुंदर स्याम, सुंदर बर लीला, सुंदर बोलत बचन रसाल।
सुंदर चारु कपोल बिराजत, सुंदर उर जु बनी बनमाल।
सुंदर चरन, सुंदर हैं नख मनि, सुंदर कुण्डल हेम जराल।
सुंदर मोहन नैन चपल किए, सुंदर ग्रीवा बाहु विसाल।
सुंदर मुरली मधुर बजावत, सुंदर हैं मोहन गोपाल।
सूरदास जोरी अति राजति, ब्रज कौं आवत सुंदर चाल ॥७६॥

शब्दार्थ—रसाल=मधुर। नख मनि=नख रूपी मणियाँ। हेम जराल=स्वर्ण-जटित। ग्रीवा=गर्दन।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास कृत 'सूरसागर' के 'गोचारण' नामक शीर्षक से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में 'नटवर भेष धरे ब्रज' में आते हुए श्री गोपाल के अंग-प्रत्यंग में सौन्दर्य का वर्णन हुआ है।

व्याख्या—श्री श्याम सुन्दर हैं, उनकी श्रेष्ठ लीलाएँ सुन्दर हैं, वे जो मधुर वचन बोलते हैं वे भी सुन्दर हैं, उनके कपोल भी सौन्दर्य-युक्त हैं और हृदय पर जो वनमाला सुशोभित है वह भी सुन्दर है। उनके चरण और उनके अग्रभाग पर सुशोभित नख रूपी मणियाँ सुन्दर हैं, स्वर्ण-जटित कुण्डल सुन्दर हैं, मोहित करने वाले उनके चंचल नेत्र सुन्दर हैं, ग्रीवा सुन्दर है और विशाल भुजाएँ भी सुन्दर हैं। उनकी मुरली की मधुर ध्वनि सुन्दर है, श्री मोहन गोपाल सुन्दर हैं। सूरदास जी कहते हैं कि ब्रज की ओर सुन्दर चाल से आती हुई राम-कृष्ण की जोड़ी अति सुन्दर लगती है।

विशेष—(क) कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन सगुणोपासक-परम्परानुसारी है।
(ख) 'सुन्दर' शब्द की आवृत्ति से पद में सौन्दर्य की ही वृद्धि हुई है।
(ग) माधुर्य गुण है।
(घ) भक्ति-संवलित वात्सल्य रस है।

देखि सखी बन तैं जु बने ब्रज आवत हैं नंद-नंदन।
सिखी सिखंड सीस, मुख मुरली, बन्यौ तिलक, उर चंदन।
कुटिल अलक मुख चंचल लोचन, निरखत अति आनंदन।
कमल मध्य मनु द्वै खग खंजन बँधे आइ उड़ि फंदन।

अरुन अधर छबि दसन बिराजत, जब गावत कल मंदन।
मुक्ता मनौ लाल-मनि-मय-पुट, धरे भुरकि बर बंदन।
गोप वेष गोकुल गो चारत हैं हरि असुर-निकंदन।
सूरदास प्रभु सुजस बखानत नेति-नेति श्रुति छंदन ॥८०॥

शब्दार्थ—बने=सुसज्जित। सिखी सिखंड=मयूर-चन्द्रिका। दसन=दाँत। भुरकि=भुरक कर, बिखेर कर। बंदन=सिंदूर या रोली। असुर-निकंदन=असुरों का वध करने वाले। श्रुति=वेद।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'गौचारण' नामक प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में कवि ने गोप-वेष-धारी श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन किया है।

व्याख्या—कोई सखी दूसरी सखी से कहती है कि हे सखी! श्रीकृष्ण जो वन से सुसज्जित होकर ब्रज की ओर आ रहे हैं, उन्हें देख। उनके सिर पर मयूर-चन्द्रिका, मुख पर मुरली, मस्तक पर तिलक और हृदय पर चन्दन का लेप है। उनके कुटिल अलक और मुख के ऊपर विद्यमान चंचल नेत्र देखने में अति आनन्दकारी हैं। मुख पर विद्यमान नेत्र ऐसे लगते हैं मानो कमल के मध्य में उड़ कर आकर दो खंजन पक्षी फन्दों में बंध गए हैं यहाँ पर नेत्रों की चंचलता की तुलना पाश-बद्ध खंजन-पक्षियों के फड़फड़ाने से की गई है। जब वे मधुर एवं मंद स्वर से गीत गाते हैं तब उनके लाल अधरों पर दाँतों की छवि ऐसी शोभा पाती है मानो मणियों से रचित ढक्कन पर मोतियों से मिश्रित रोली मुकट रखी हो। असुरों का संहार करने वाले श्री हरि गोप-वेष धारण कर गोकुल में गौएँ चराते हैं। सूरदासजी कहते हैं कि वेद भी अपने छन्दों में 'नेति-नेति' कहकर प्रभु के सुयश का वर्णन करते हैं।

विशेष—(क) सूरदास की मान्यता है कि जिस ईश्वर की महिमा का पार वेदों ने भी नहीं पाया है वह भक्ति-प्रेम-वश अवतार लेकर गोप-वेष में ब्रज में विहार करते हैं। इसलिए भक्तों को चाहिए कि वे उनके सगुण रूप के प्रति अनन्य प्रेम एवं तन्मयता दिखाते हुए उनका गुणानुवाद करते रहें।

(ख) चतुर्थ और षष्ठ पंक्तियों में 'मनु' 'मनौ' चिह्नों से उत्पेक्षा अलंकार की सूचना मिलती है।

(ग) भाषा सरस, साहित्यिक एवं माधुर्य युक्त है।

(घ) वात्सल्य रस है।

सोभा कहत कही नहिं आवै ।
अँचवति अति आतुर लोचन-पुट, मत न तृप्ति कौं पावै ।
सजल मेघ घनस्याम सुभग बपु, तड़ित बसन उर माल ।
सिखि-सिखंड, बन-धातु बिराजत, सुमन सुगंध प्रबाल ।
कछुक कुटिल कमनीय सघन अति, गो-रज मंडित केस ।
सोभित मनु अंबुज पराग-रुचि-रंजित मधुप सुदेस ।
कुंडल-किरनि कपोल लोल-छबि, नैन कमल-दल-मीन ।
प्रति-प्रति अंग अनंग-कोटि-छबि, सुनि सखि परम प्रबीन ।
अधर मधुर मुसुक्यानि मनोहर करति मदन मन-हीन ।
सूरदास जहँ दृष्टि परति है, होति तहीं लवलीन ॥८१॥

शब्दार्थ—अँचवति=आचमन करती हूँ । लोचन-पुट=नेत्र रूपी दोनों से । सजल मेघ=वर्षा-कालीन (बरसने वाला) बादल । सुभग बपु=सुन्दर शरीर । तड़ित=बिजली । बन-धातु=गेरू । प्रवाल=नव-पल्लव । कमनीय=सुन्दर । सघन=घने । अंबुज=कमल । पराग-रुचि-रंजित=पराग की शान्ति से रँगे हुए । अनंग-कोटि-छबि=करोड़ों कामदेवों की छवि । लवलीन=तन्मय ।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'गोचारण' नामक प्रकरण से उद्धृत है । प्रस्तुत पद में कवि ने व्रज-युवती के माध्यम से गो-चारी भगवान् कृष्ण की रूप-माधुरी का मधुर शब्दों में वर्णन किया है ।

व्याख्या—श्रीकृष्णजी की शोभा कहते नहीं बनती । मैं उसे अति आतुर होकर अपने नेत्र रूपी दोनों से नित्य आचमन करती रहती हूँ, तथापि मन को तृप्ति नहीं मिलती । उनका जल से भरे हुए मेघ के समान सुन्दर घनश्याम शरीर है, पीतवस्त्र तथा हृदय-स्थित माला बिजली के समान है । उस सुन्दर शरीर पर मयूर-पक्ष, गेरू तथा सुगन्धित पुष्प एवं पल्लव विराजमान हैं । उनके कुछ कुटिल, सुन्दर तथा अत्यन्त घने केश गो-रज से मंडित होकर ऐसे लगते हैं मानो कमल पर पराग से सने हुए भौंरे सुशोभित हो रहे हों । कान के कुण्डलों से कपोलों की छवि चंचल हो गई है और नेत्र कमल के समान (सुन्दर) तथा मीन के समान चंचल हैं; (अथवा नेत्र कमल दल और कुंडल मीन के समान हैं, यह अर्थ क्रम-भंग करने पर किया जाएगा जिसमें अति

दुरूहता का सामना करना पड़ेगा। हे परम प्रवीण सखि ! सुन, श्रीकृष्ण के प्रत्येक अंग पर करोड़ों कामदेवों की छवि विद्यमान है। उनके अधरों की मधुर मुसक्यान मन को हरण करने वाली तथा कामदेव के मन (मद) को चूर करने वाली है। सूरदास कहते हैं कि उनके शरीर के जिस अंग पर भी दृष्टि पड़ती है वह वहीं जाकर तन्मय हो जाती है, गड़ जाती है।

विशेष—(क) भगवान् के शक्ति, शील और सौन्दर्य नामक तीन रूपों में अन्तिम रूप का वर्णन कृष्ण भक्त-परम्परानुसारी है। यहाँ पर श्रीकृष्ण के लोक-रंजक रूप का ही वर्णन हुआ है जो भक्तों के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करने वाला है।

(ख) पद में रूपक, लुप्तोपमा, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक आदि अलंकारों का सहज प्रवेश हो जाने से काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि हुई है।

(ग) भाषा सरस, साहित्यिक एवं सुमधुर है।

(घ) भक्ति-संवलित वात्सल्य रस है।

आजु बने बन तें ब्रज आवत।

नाना रंग सुमन की माला, नंद-नँदन-उर पर छबि पावत।
सग गोप गोधन-गन लीन्हे, नाना गति कौतुक उपजावत।
कोउ गावत, कोउ नृत्य करत, कोउ उघटत कोउ करताल बजावत।
राँभति गाइ बच्छ हित सुधि करि, प्रेम उमँगि थन दूध चुवावत।
जसुमति बोलि उठी हरषित ह्वै, कान्हा धेनु चराए आवत।
इतनी कहत आइ गए मोहन, जननी दौरि हिए लै लावत।
सूर स्याम के कृत्य, जसोमति, ग्वाल-बाल कहि प्रगट सुनावत ॥८२॥

शब्दार्थ—गोधन-गन=गायों का झुंड। कौतुक=कौतूहल, आनन्द। उघटत=ताल देता है। बच्छ-हित=बछड़ों के लिए।

प्रसंग—यह पद 'सूरसागर' के 'गो-चारण' नामक प्रसंग से उद्धृत है जिसके रचयिता कवि-शिरोमणि श्रीसूरदासजी हैं। प्रस्तुत पद में कवि ने गोचारण कर ब्रज की ओर लौटने वाले श्रीकृष्ण द्वारा प्रवाहित लीला-रस का अवगाहन किया है।

व्याख्या—आज श्रीकृष्ण सुसज्जित होकर वन से आते हैं। नन्द-नन्दन के हृदय पर अनेक रंगों के फूलों की माला शोभित हो रही है। साथ में ग्वालों

और गौएँ के झुंड को लेकर वे नाना प्रकार की गतियों से कुतूहलपूर्ण आनन्द उत्पन्न करते हैं। ग्वालों में से कोई गाता है, कोई नृत्य करता है, कोई ताल देता है और कोई करताल (हाथ की ताली) बजाता है। बछड़ों की याद कर गाएँ रँभाती हैं और प्रेम से उमंग भर कर अपने थनों से दूध प्रस्तवित करती हैं। यशोदाजी हर्षित होकर कहने लगी कि कन्हैया गाएँ चराकर आता है। इतना कहते ही श्रीकृष्ण आ गए जिन्हें माता दौड़कर अपने हृदय से लगाती है। सूरदासजी कहते हैं कि ग्वाल-बाल यशोदाजी से श्याम के आश्चर्यजनक कृत्यों को प्रकट कर सुनाते हैं।

विशेष—(क) गो-चारण करते समय प्रलंब, धेनुक आदि असुरों का वध तथा अन्य आश्चर्यजनक कृत्यों की ओर ही 'सूर के कृत्य' का संकेत है।

(ख) गो-चारण-जीवन का सूक्ष्म एवं सत्य चित्रण है।

(ग) पद की भाषा सरल, सरस एवं सुमधुर है।

(घ) वात्सल्य रस है।

बल मोहन बन तें दोउ आए।
जननि जसोदा मातु रोहिनी, हरषित कंठ लगाए।
काहै आजु अबार लगाई, कमल बदन कुम्हिलाए।
भूखे भए आजु दोउ भैया, करन कलेउ न पाए।
देखहु जाइ कहा जेंवन कियौ, रोहिनि तुरत पठाई।
मैं अन्हवाए देति दुहुँनि कौं, तुम अति करौ चँड़ाई।
लकुट लियौ, मुरली कर लीन्ही, हलधर दियौ विषान।
नीलांबर पीतांबर लीन्हे, सैंति धरति करि प्रान।
मुकुट उतारि धर्‌यौ लै मन्दिर पोंछति है अँग-धातु।
अरु बनमाल उतारति गर तें, सूर स्याम की मातु ॥८३॥

शब्दार्थ—अबार=देर। चँड़ाई=जल्दी, शीघ्रता। विषान=सींगी बाजा। सैंति धरति=इकट्ठा कर रखती। अँग-धातु=पसीना।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'गो-चारण' नामक प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में गो-चारण कर लौटे हुए राम-कृष्ण के प्रति माताओं द्वारा प्रदर्शित वात्सल्य का कवि ने यथार्थतापूर्ण चित्र निरूपित किया है।

व्याख्या—श्री बलराम और कृष्ण दोनों वन से आ गए। उन्हें देखते ही माता यशोदा और माता रोहिणी ने प्रसन्न होकर गले से लगा लिया। वे उनसे पूछने लगीं कि आज इतनी देर क्यों लगा ली? तुम्हारा मुख रूपी कमल कुम्हला गया है। आज तो दोनों भाई भूखे होंगे, सबेरे कलेवा भी नहीं कर पाए थे। यशोदा ने 'देखो, इनके खाने के लिए क्या तैयार किया है' ऐसा कहकर रोहिणी को तुरन्त अन्दर भेज दिया साथ ही उससे यह भी कहा कि 'मैं दोनों को स्नान कराए देती हूँ और तुम अपने काम में अति शीघ्रता करो।' ऐसा कहकर श्याम की माता ने उनके लकुट तथा मुरली को हाथ में ले लिया, हलधर ने अपने सींगी बाजे को भी उन्हें दे दिया। माता ने उनके नीलाम्बर और पीताम्बर को लेकर उन्हें अपने प्राणों के समान प्रिय समझ कर इकट्ठा कर रख लिया, मुकुट को उतार कर मन्दिर में रख दिया, शरीर के पसीने को पोंछा और गले से वनमाला को भी उतार लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त वस्त्राभरणों को उतार कर उन्हें स्नानार्थ तैयार किया।

विशेष—(क) रोहिणी वसुदेव की उपपत्नी और बलराम की माता थी। विष्णु की माया से देवकी के सातवें गर्भ में आए हुए बलराम ने रोहिणी के गर्भ में संकर्षण किया था। वसुदेव ने रोहिणी को अपने मित्र ब्रजराज नन्द के यहाँ रख छोड़ा था। परिगणनात्मक तथा विवरणात्मक शैली

(ख) 'कमल वदन' में रूपक अलंकार है।

(ग) भाषा सरल, सरस और सुमधुर है।

(घ) वात्सल्य रस है।

अंग-अभूषन जननि उतारति।
दुलरी ग्रीव माल मोतिनि की, लै केयूर भुज स्याम निहारति।
छुद्रावली उतारति कटि तैं सैंति धरति मनहीं मन वारति।
रोहिनि भोजन करौ चँड़ाई बार-बार कहि-कहि करि आरति।
भूखे भए स्याम हलधर दोउ, यह कहि अंतर प्रेम विचारति।
सूरदास प्रभु मातु जसोदा, पट लै, दहुनि अंग रज झारति ॥८४॥

शब्दार्थ—दुलरी=दो लर वाली। केयूर=कंकण। छुद्रावली=क्षुद्र-घंटिका, घुँघुरुओं से युक्त करधनी।

प्रसंग—अवतरित पद भक्त-शिरोमणि सूरदास-प्रणीत 'सूरसागर' के 'गो-चारण' नामक प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में गो-चारण समाप्त कर घर आने वाले बलराम-कृष्ण के प्रति माता यशोदा की ममता का चित्रण किया गया है।

व्याख्या—माता यशोदा श्रीकृष्ण और बलराम के अंगों से आभूषण उतारती है। उनकी गर्दन से मोतियों की दुलड़ी माला को उतार लेती है, कंकण को उतारकर उनकी श्याम वर्ण की भुजा को निहारती है, कटि से क्षुद्रावली को उतारती है और मन ही मन इन सब पर निछावर होती हुई उन्हें सहेज कर रखती है। 'रोहिणि ! जल्दी भोजन तैयार करो', ऐसा बार-बार कहकर उनकी आरती उतारती है। 'आज श्याम और बलराम दोनों भूखे हैं', यह कह कर अपने अन्तस्तल में प्रेम का अनुभव करती है। सूरदास जी कहते हैं कि महाप्रभु श्रीकृष्ण की माता यशोदा अपना वस्त्र लेकर दोनों के अंगों पर पड़ी हुई धूल को झाड़ती है।

विशेष—(क) इस पद का "बल मोहन बन तैं दोउ आए' पद से पूर्ण भाव-साम्य है।

(ख) दोनों ही पदों में परिगणनात्मक और विवरणात्मक शैली को अपनाया गया है।

(ग) भाषा सरस, साहित्यिक और सुमधुर है।

(घ) वात्सल्य रस है।

ये दोऊ मेरे गाइ चरैया।
मोल बिसाहि लियौ मैं तुमकौं जब दोउ रहे नन्हैया।
तुमसौं टहल करावति निसि-दिन और न टहल करैया।
यह सुनि स्याम हँसे कहि दोऊ, झूठ कहत है मैया।
जानि परत नहिं साँच झुठाई, चारत धेनु झुरैया।
सूरदास जसुदा मैं चेरी कहि-कहि लेति बलैया ॥८५॥

शब्दार्थ—बिसाहि लियौ=खरीद लिया था। नन्हैया=छोटे। टहल=सेवा-चाकरी। भुरैया=सूख गए हो। चेरी=दासी।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्त कवि सूरदास-विरचित 'सूरसागर' के 'गो-चरण' नामक प्रसंग से लिया गया है। इसमें कवि ने माता यशोदा को गोपाल

कृष्ण की 'बाल-बिनोद भावती लीला' का आनन्द ग्रहण करते हुए चित्रित किया है।

व्याख्या—राम-कृष्ण को देखकर प्रेम-विह्वल होकर माता यशोदा कहती है कि ये दोनों मेरे गाय-चरैया अर्थात् मेरी गायों के चराने वाले ग्वाले हैं। वह उनसे ही कहती लगती है कि जब तुम दोनों बहुत छोटे थे तब मैंने तुम्हें मोल खरीद लिया था, इसीलिए मैं तुम लोगों से दिन-रात अपनी टहल कराती हूँ और दूसरा कोई मेरे यहाँ टहल करने वाला ही नहीं है। यह सुनकर श्याम 'दाऊ ! मैया झूठ कहती है', ऐसा कहकर हँसने लगे। इस बात को सुनकर माता फिर बोली कि अरे ! तुम्हें सत्य अथवा असत्य का अब भी पता नहीं चलता जबकि मेरी गायें चराते-चराते सूख गए हो ! फिर माता यशोदा आनन्द-मग्न होकर 'मैं यशोदा ही तुम्हारी दासी हूँ' ऐसा कह-कहकर बलैयाँ लेने लगती है।

विशेष—(क) जब कोई माता-पिता अपने बच्चे पर अधिक प्रसन्न होते हैं तो वे ऐसे ही शब्द बोलते हैं; यथा, 'अरे, यह मेरा लड़का नहीं है, मैंने तो इसे कंजड़ी से एक रोटी में मोल लिया था, उत्तर में बच्चा कहता है, 'नहीं है, ऐसी बात नहीं है, तुम झूठ बोलते हो'....आदि। इन मनोविनोदों को वही अच्छी तरह जानता है जिसने गार्हस्थ्य-जीवन का आनन्द लिया हो। इन सब बातों से सूर के गार्हस्थ्य-जीवन की ओर भी कुछ संकेत-सा हो जाता है। कुछ भी हो, माता-पुत्र का संवाद-सौष्ठव उनकी सूक्ष्म-विश्लेषण-पद्धति एवं जीवन की सत्य अनुभूतियों का परिचायक है।

(ख) भाषा सरल, सरस और सुमधुर है।

(ग) वात्सल्य रस है।

वंशी-वादन

स्याम कर मुरली अतिहिं बिराजति।
परसति अधर सुधा रस बरसति, मधुर मधुर सुर बाजति।
लटकत मुकुट भौंह छबि मटकति, नैन-सैन अति राजति।
ग्रीव नवाइ अटकि बंसी पर, कोटि मदन छबि लाजति।
लोल कपोल झलक कुंडल की, यह उपमा कछु लागत।
मानहुँ मकर सुधासर क्रीड़त, आपु-आपु अनुरागत।

बृंदाबन बिहरत नँद-नन्दन ग्वाल सखा सँग सोहत।
सूरदास प्रभु की छबि निरखत, सुर-नर-मुनि सब मोहत ॥८६॥

शब्दार्थ—परसति=स्पर्श करती है। ग्रीव=गर्दन। मदन=कामदेव। मकर=मीन, मगर। सुधासर क्रीड़त=अमृत के सरोवर में क्रीड़ा करते हैं। अनुरागत=प्रेम-पूर्ण हो कर।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास कृत 'सूरसागर' के 'वंशी-वादन' नामक प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में वंशी बजाते हुए श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य का निरूपण किया गया है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण के हाथ में मुरली अति ही शोभा को प्राप्त हो रही है। वह उनके अधर का स्पर्श करते ही सुधा-रस की वृष्टि करने लगती है और मधुर-मधुर स्वरों में बजने लगती है। नीचे को झुका हुआ मुकुट, मटकती हुई भौंहों की छवि और नेत्रों के संकेत अति शोभित हो रहे हैं; गर्दन झुककर वंशी पर अटकी हुई है जिसे देखकर करोड़ों कामदेवों की छवि लज्जित हो जाती है। चंचल कपोलों पर कुण्डलों की झलक को देख कर यह उपमा सूझती है कि मानो परस्पर अनुराग में भरे हुए दो मकर सुधा-सरोवर में क्रीड़ा करते हों। श्री नन्दनन्दन वृन्दावन में विहार कर रहे हैं, उनके साथ में ग्वाल-सखा शोभित हैं। सूरदासजी कहते हैं कि प्रभु की छवि का अवलोकन कर सुर, नर, मुनि सभी मोहित हो जाते हैं।

विशेष—(क) श्रीकृष्ण के अप्रतिम सौन्दर्य के प्रति सबका आकर्षण हो जाता है, इसलिए सृष्टि के चराचर जीव उनकी छवि को देखकर आनन्द-विभोर हो जाते हैं। अपने सौन्दर्य द्वारा लोक-रंजन कर भक्तों को लीला-कैवल्य प्रदान करने के लिए ही भगवान ने अवतार लिया है। मुरली उनकी मोहिनी शक्ति है जिसे सुन कर सभी जीव मन्त्र-मुग्ध होकर अपनत्व को विस्मृत कर ब्रह्मानन्द में लीन हो जाते हैं।

(ख) अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, वीप्सा, पुनरुक्ति-प्रकाश अलंकारों के भी दर्शन होते हैं।

(ग) भाषा साहित्यिक एवं माधुर्य गुण-युक्त है।

(घ) शृंगार रस है।

वंसी री बन कान्ह बजावत।
आनि सुनौ स्रवननि मधुरे सुर, रास-मध्य लै नाम बुलावत।
सुर स्रुति तान बँधान अमित अति, सप्त अतीत अनागत-आवत।
जुग-जुग भुज, सिर, सेष सैल, मथि बदन पयोधि, अमृत उपजावत।
मनौ मोहिनी वेष धारि कै, मन मोहित मधु पान करावत।
सुर नर मुनि बस किए राग-रस, अधर-सुधा-रस मदन जगावत।
महा मनोहर नाद, सुर, थिर चर मोहे, कोउ मरम न पावत।
मानहुँ मूक मिठाई के गुन, कहि न सकत मुख सीस डुलावत ॥८७॥

शब्दार्थ—आनि=आकर। स्रवननि=कानों से। सप्त=सात स्वर-स रे ग म प ध नी। अतीत=भूत। अनागत=भविष्यत्। आवत=वर्तमान। जुग-जुग=दो-दो। बदन पयोधि=मुख रूपी समुद्र। थिर=स्थिर, स्थावर, अचल पदार्थ। मरम=भेद, रहस्य। मूक=गूँगा। डुलावत=हिलाता है।

प्रसंग—अवतरित पद भक्तकवि सूरदास के 'सूरसागर' के 'वंशी-वादन' नामक प्रकरण से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में कवि ने श्रीकृष्ण की वंशी के नाद-सौन्दर्य का वर्णन किया है।

व्याख्या—हे सखी! श्रीकृष्ण वन में वंशी बजाते हैं। रास के मध्य में वे जो नाम लेकर बुलाते हैं उन मधुर-स्वरों को आकर अपने कानों से श्रवण करो। उनके अतीत, अनागत और वर्तमान सातों स्वर श्रुतियाँ और तान-बन्धान अति अपार (अनन्त) हैं। अपने भुजा रूपी शेषनाग और सिर रूपी पर्वत से मुख रूपी समुद्र का मन्थन कर अमृत की उत्पत्ति करते हैं। भाव यह है कि जब श्रीकृष्ण अपनी भुजाओं तथा सिर को हिलाते हुए मुरली-वादन में तन्मय हो जाते हैं तब उनके मुख से अमृत-तुल्य आनन्दकारिणी ध्वनि उच्चरित होती है। यह सब देखकर ऐसा लगता है मानो वे मोहिनी मूर्ति धारण कर (भक्तों के) मन को मोहित करते हुए मधु-पान कराते हों। मुरली के राग-रस ने सुर-नर-मुनियों को वश में कर लिया है और श्रीकृष्ण का अधर-सुधा-रस मन में कामोद्दीपन करता है। सूरदास जी कहते हैं कि इस महामनोहर नाद से समस्त स्थावर-जंगम प्राणी मोहित हो गए हैं, कोई भी उसके रहस्य को नहीं जान पड़ता। उनकी स्थिति ऐसी हो गई है जिस प्रकार

कि गूँगा व्यक्ति मिष्ठान्न के गुणों को कह नहीं पाता किन्तु आनन्द-मग्न होकर मुख और सिर हिलाता है।

विशेष—(क) १. 'महामनोहर नाद' इत्यादि का आशय यह है कि सूरदास ने आचार्य वल्लभ का अनुसरण करते हुए मुरली को शब्द-ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है। शब्द-ब्रह्म ही परब्रह्म है जिसकी गति को कोई भी नहीं जानता। यह एक रहस्य है जिसका अनुभव किया जा सकता है किन्तु अभिव्यक्ति नहीं। यह अविगत है जिसकी "गति कछु कहत न आवै।"

ज्यौं गूँगें मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौ अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै॥"

२. 'रास-मध्य लै नाम बुलावत' का भाव यह है कि मुरली की ध्वनि कानों में पड़ते ही प्रत्येक गोपी यह अनुभव करती है कि मुरली उसका नाम ले-लेकर उसको बुला रही है। इस प्रकार वंशी महाप्रभु की योग-माया है जिसकी अपार शक्ति कण-कण में व्याप्त होकर सृष्टि का संचालन करती है।

(ख) अनुप्रास, पुनरुक्ति-प्रकाश, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की छटा दर्शनीय है।

(ग) माधुर्य गुण की स्पष्ट झलक है।

(घ) शृंगार रस है जो सख्य-भाव भक्ति से अनुप्राणित है।

मुरली मोहे कुँवर कन्हाई।
अँचवति अधर-सुधा बस कीन्हे, अब हम कहा करें री माई।
सरबस लै हरि धर्‌यौ सबनि कौ, औसर देति न होति अघाई।
गाजति, बाजति, चढ़ी दुइ कर, अपनें शब्द न सुनत पराई।
जिहिं तन अनल दह्यौ अपनौ कुल, तासौं कैसें होत भलाई।
अब सुनि सूर कौन बिधि कीजै, बन की व्याधि माँझ घर आई॥८८॥

शब्दार्थ—अँचवति=आचमन करती है। हरि धर्‌यौ=हरण कर लिया। अघाई=तृप्त, सन्तुष्ट। पराई=दूसरे की बात। अनल=आग। दह्यौ=जला दिया। व्याधि=बीमारी। माँझ घर=घर के अन्दर।

प्रसंग—प्रस्तुत पद कवि-शिरोमणि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'वंशी-वादन' नामक प्रसंग से उद्धृत है। इस स्थल पर कवि ने गोपियों के द्वारा वंशी ध्वनि की मोहकता का वर्णन किया है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण-कन्हैया को मुरली ने मोहित कर लिया। वही उनके अधर-सुधा (अधरामृत) का पान कर उन्हें वश में किए रहती है ; हाय री सखी ! अब हम क्या करें ? उसने हम सब के सर्वस्व (श्रीकृष्ण) का हरण कर रखा है और अब कभी भी तृप्त होकर हम लोगों को उनके अधरामृत-पान आदि का आनन्द-लाभ करने का अवसर ही नहीं देती। वह उनके दोनों हाथों पर चढ़ी हुई गर्जना करती हुई बजती है और अपने शब्द के आगे दूसरे की बात नहीं सुनती। ठीक भी है, जिसके शरीर की अग्नि ने अपना ही कुल जला दिया, उससे भलाई की आशा कैसे की जा सकती है ? अब हे सूरदास ! सुनो, क्या उपाय किया जाय ? अब तो वन की बीमारी घर के अन्दर ही आ गई। भाव यह है कि वन में रहकर इसने अपने कुल को जलाया, अब घर में आकर हमारे कुल को भी विरहानल में दग्ध करना चाहती है।

विशेष—(क) मुरली श्रीकृष्ण की मोहिनी शक्ति है जिसे सुनकर गोपियों की सांसारिक वृत्तियाँ तिरोहित हो जाती हैं और वे श्रीकृष्ण के प्रेम के लिए लालायित होने लगती हैं।

(ख) भाषा सरल, सरस और सुमधुर है।

(ग) शृंगार रस है।

मुरली की सरि कौन करै।
नंद-नँदन त्रिभुवन-पति नागर सो जो बस्य करै।
जबहीं जब मन आवत तब तब अधरनि पान करै।
रहत स्याम आधीन सदाई आयसु तिनहिं करै।
ऐसी भई मोहिनी माई मोहन मोह करै।
सुनहु सूर याके गुन ऐसे ऐसी करनि करै॥८९॥

शब्दार्थ—सरि=बराबरी। नागर=चतुर। वस्य=वशीभूत। आयसु=आज्ञा, आदेश।

प्रसंग—यह कवि सूरदास के 'सूरसागर' के 'वंशी-वादन' प्रसंग का पद है, जिसमें मुरली-माहात्म्य का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—गोपियाँ आपस में कहती हैं कि मुरली की बराबरी कौन कर सकता है जिसने कि त्रिलोकीनाथ नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण जैसे चतुर को भी वशीभूत कर लिया है। जब जब उसके मन में आती है तभी वह उनके

अधरों का पान करती है। श्रीकृष्ण सदा उसके अधीन रहते हैं और यह उनको आदेश देती रहती है। अरी सखी ! यह तो ऐसी मोहिनी हो गई कि मोहन को भी मोहित कर लेती है। भाव यह है कि श्रीकृष्ण जगत् को मोहित करने वाले होने से ही मोहन कहलाते हैं और मुरली मोहन को भी मोहित कर लेती है फिर अन्य जीवों की गणना ही कहाँ है। इसलिए मुरली एक महामोहिनी शक्ति है। हे सूर ! सुनो, इसके ऐसे गुण हैं और यह ऐसी करनी करती है।

विशेष—(क) यहाँ पर मुरली को मोहन प्यारे की मोहिनी शक्ति माना गया है, जो श्रोताओं के मन को मोहित करके उन्हें कृष्णोन्मुख करती है।

(ख) भाषा सरल, सरस और मधुर है।

(ग) श्रीकृष्ण मुरली-वादन में तन्मय होकर गोपियों को कृपा-दृष्टि से वंचित कर देते हैं, इस विरह दुःख से कातर होकर ही वे मुरली को कोसने लगती हैं। प्रस्तुत पद में व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग हुआ है।

(घ) शृंगार रस है।

मुरली तऊ गुपालहिं भावति।
सुनि री सखी जदपि नँदलालहिं नाना भाँति नचावति।
राखति एक पाइँ ठाढ़ौ करि, अति अधिकार जनावति।
कोमल तन आज्ञा करवावति, करि टेढ़ी ह्वै आवति।
अति आधीन सुजान कनौड़े, गिरिधर नार नवावति।
आपुन पौढ़ि अधर सज्जा पर, कर-पल्लव सन पद पलुटावति।
भृकुटी कुटिल, नैन नासा-पुट, हम पर कोप करावति।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन, धर तैं सीस डुलावति। ६०॥

शब्दार्थ—कनौड़े=विनम्र। नार=गर्दन। सज्जा=शैया, सेज। कर-पल्लव=हाथ रूपी पल्लव से। भृकुटी=भौंह।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास द्वारा प्रणीत 'सूरसागर' के 'वंशी-वादन' प्रसंग से अवतरित है। प्रस्तुत पद में सूर ने वंशी के प्रति गोपियों के सौतियाडाह का उल्लेख किया है।

व्याख्या—अरी सखी ! सुन, यह मुरली तब भी गोपाल को अच्छी लगती है, जबकि यह उनको अनेक प्रकार से तंग करती है। उन्हें एक पैर

पर खड़ा कर रखती है, उन पर बड़ा अधिकार जताती है, उनके कोमल शरीर से अपनी आज्ञा का पालन कराती है जिससे उनकी कमर टेढ़ी होने लगती है। बेचारे कृष्ण जिन्होंने पर्वत को धारण किया था, वे चतुर होकर भी अति अधीन एवं विनम्र होकर उसके सामने नत-मस्तक हो जाते हैं। यह मुरली स्वयं तो उनकी अधर-रूपी शैया पर शयन करती है और उनसे कर-पल्लव द्वारा अपने पैर दबवाती है, और दूसरी ओर तिरछी भौंहों, नेत्रों एवं फड़कते हुए नासा-पुटों से हमारे ऊपर उन्हीं से क्रोध करवाती है। सूर के माध्यम से गोपियाँ कहती हैं कि उन्हें एक क्षण के लिए भी प्रसन्न जानकर उनके धड़ से सिर को डुलाने लगती है।

विशेष—(क) पद का सारांश यह है कि श्रीकृष्ण को मुरली ने मोह लिया है, इसलिए अब वे उसी की सेवा-शुश्रूषा में लगे रहते हैं, दूसरी ओर गोपियाँ विरह में दग्ध होने लगती हैं। इसीलिये यहाँ पर मुरली के प्रति सौतियाडाह व्यंजित हो रहा है।

(ख) "अधर सज्जा" और "कर-पल्लव" में रूपक अलंकार।

(ग) भाषा माधुर्य पूरित है।

(घ) शृंगार रस है।

मुरलिया कपट चतुरई ठानी।
कैसे मिलि गई नँद-नंदन कौं, उन नाहिन पहिचानी।
इक वह नारि, बचन मुख मीठे, सुनत स्याम ललचाने।
जाति-पाँति की कौन चलावै, वाकैं रंग भुलाने।
जाकौ मन मानत है जासौं, सो तहँई सुख मानै।
सूर स्याम वाके गुन गावत वह हरि के गुन गानै॥९१॥

शब्दार्थ—रंग=प्रेम। गानै=गाती है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद कवि-शिरोमणि सूरदास कृत 'सूरसागर' के 'वंशी-वादन' प्रसंग से उद्धृत है। इस स्थल पर कवि ने मुरली के प्रति गोपियों के सपत्नी-डाह का उद्घाटन किया है।

व्याख्या—मुरली कपटपूर्ण चातुर्य से युक्त है। यह श्रीकृष्ण को कैसे मिल गई? क्या वे इसे पहचान नहीं सके (कि यह इतनी दुष्ट है)? एक तो वह स्त्री है ही, उस पर भी उसके मीठे वचन! सुनते ही श्याम ललचा गए

अर्थात् उसकी ओर आकृष्ट हो गए। अब जाति-पाँति की कौन पूछता है? वे तो उसके प्रेम में भूले हुए हैं। सच बात तो यह है कि जिसके मन की जिसमें रुचि होती है, वह उसी में सुख मानता है, अन्यत्र नहीं। कहावत भी है "दिल लगा गधी से तो परी कौन चीज है।" सूरदासजी कहते हैं कि उनमें परस्पर इतना प्रगाढ़ प्रेम है कि श्याम तो उसके गुण गाते हैं और वह उनके गुण गाती है।

विशेष—(क) प्रेम में जाति-पाँति का बन्धन नहीं होता। अंग्रेजी में भी किसी ने कहा है कि प्रेम अन्धा होता है (Love is blind)। ठीक ऐसी ही बात यहाँ देखने को मिलती है। कृष्ण और मुरली के इस पारस्परिक अनन्य प्रेम ने गोपियों के हृदय में सौतियाडाह उत्पन्न कर दिया है और अब वे कृष्ण के विरह में व्याकुल हो रही हैं। उन्हीं की व्यंग्यात्मक उक्ति इस पद में वर्णित हुई है।

(ख) भाषा सरल, सरस और सुमधुर है।

(ग) शृंगार रस है।

जब हरि मुरली अधर धरी।
गृह-ब्यौहार तजे आरज-पथ, चलत न संक करी।
पद-रिपु पट अटक्यौ न सम्हारति, उलटि पलटि उबरी।
सिव-सुत-वाहन आइ मिले हैं, मन चित बुद्धि हरी।
दुरि गए कीर, कपोत, मधुप, पिक, सारंग सुधि बिसरी।
उडुपति बिद्रुम, बिंब खिसाने, दामिनि अधिक डरी।
मिलिहैं स्यामहिं हंस-सुता-तट, आनंद-उमंग भरी।
सूर स्याम कौं मिलीं परस्पर, प्रेम-प्रवाह-ढरी॥६२॥

शब्दार्थ—गृह-ब्यौहार=घर के कार्य या व्यवस्था। आरज-पथ=आर्य-पथ, श्रेष्ठ अर्थात् शास्त्र-सम्मत मार्ग। पद-रिपु=काँटा। सिव-सुत-वाहन=मोर। कीर=तोता। कपोत=कबूतर। मधुप=भौंरा। पिक=कोकिल। सारंग=हरिण। उडुपति=चन्द्रमा। बिद्रुम=मूँगा। बिंब=बिम्बाफल। दामिनि=बिजली। हंस-सुता-तट=यमुना का किनारा।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास कृत 'सूरसागर' के 'वंशीवादन' प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में श्रीकृष्ण की मुरली की मोहकता का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—जब श्रीकृष्ण ने मुरली को अपने अधर पर रखा, तब गोपिकाओं ने अपने घर के काम-धाम को छोड़ दिया तथा शास्त्र-सम्मत मार्ग को छोड़कर प्रेम-मार्ग पर चलने में उन्होंने तनिक भी भय नहीं किया। वे पट में अटकने वाले काँटे को भी बिना सम्हाले हुए अर्थात् बिना निकाले हुए ही उलट-पुलट (इधर-उधर घूम) कर उससे भी उबर जाती हैं। उन्हें इस प्रकार नृत्य करती हुई देख कर मोर भी आकर्षित मन, चित्त और बुद्धि के साथ उनसे आकर मिल गये हैं अर्थात् वे भी उनके साथ हो लिए हैं। उनकी नाक को देख कर तोते, गर्दन को देख कर कबूतर, घुँघराले केशों को देख कर भौंरे, कण्ठ को सुन कर कोकिल छिपने लगे तथा नेत्रों को देख कर मृग भी सुध-बुध खोने लगे। मुख को देख कर चन्द्रमा, दांतों को देख कर विद्रुम, अधरों को देख कर बिम्बाफल छिपने लगे तथा हास को देख कर दामिनी भी डरने लगी। वे इसी आनंद-उमंग में भरी हुई हैं कि हम श्री श्याम से यमुना-तट पर मिलेंगी। सूरदासजी कहते हैं कि वे प्रेम-प्रवाह-पूरति होकर श्रीकृष्ण से परस्पर मिलने लगीं।

विशेष—(क) यहाँ पर कीर आदि नासिका आदि के उपमान हैं। उपमानों की हीनता सिद्ध की जाने के कारण यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।

(ख) भाषा साहित्यिक और माधुर्य गुण-युक्त है।

(ग) शृंगार रस है।

जब हरि मुरली-नाद प्रकास्यौ।
जंगम जड़, थावर चर कीन्हे, पाहन जलज बिकास्यौ।
स्वर्ग-पताल दसौं दिसि पूरन, ध्वनि-आच्छादित कीन्हौ।
निसि हरि कल्प समान बढ़ाई, गोपिनि कौं सुख दीन्हौ।
मैमत भए जीव जल-थल के, तनु की सुधि न सम्हार।
सूर स्याम-मुख बेनु मधुर सुनि, उलटे सब ब्यवहार ॥६३॥

शब्दार्थ—मुरली-नाद प्रकास्यौ=मुरली का शब्द उच्चरित किया। जंगम=चेतन। थावर=जड़। ध्वनि-आच्छादित=ध्वनि से पूरित। मैमत= मदोन्मत्त, मतवाले।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास कृत 'सूरसागर' के वंशी-वादन' प्रकरण से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में वंशी-ध्वनि से व्याप्त आनंद का वर्णन हुआ है।

व्याख्या—जब श्रीकृष्ण ने मुरली की ध्वनि को उच्चरित किया, तब चेतन जड़ और जड़ चेतन हो गए तथा पत्थर में कमल खिल गया। भाव यह है कि वंशी-ध्वनि को सुनकर गोपियों के चंचल मन सांसारिकता से विमुख होकर कृष्ण-प्रेम में ही स्थिर हो गए, तथा पत्थर के समान हृदय वाले अरसिकों के हृदय में भी प्रेम रूपी कमल का विकास हो गया। मुरली की ध्वनि ने स्वर्ग-पाताल तथा दशों दिशाओं को आच्छादित कर लिया। उस रात्रि को श्रीहरि ने कल्प के समान बढ़ा कर गोपियों को सुख प्रदान किया। उस ध्वनि को सुनकर पृथ्वी और जल के सभी जीव आनन्द में ऐसे मतवाले हो गए कि उन्हें अपने-अपने शरीर की भी सुध न रही। सूरदासजी कहते हैं कि उस वंशी की मधुर ध्वनि को सुनकर सब व्यवहार (लोक-रीतियाँ) विपरीत होने लगे, अर्थात् 'लोक-लाज, कुल-कानि' का परित्याग होने लगा।

विशेष—(क) मुरली-नाद ही शब्द-ब्रह्म है जो सर्वत्र परिव्याप्त है। यही वह आनन्द है जिसका आस्वादन कर सृष्टि के जीव मदोन्मत्त हो जाते हैं।

(ख) भाषा साहित्यिक एवं सुमधुर है।

(ग) शृंगार रस है।

रूप-माधुरी

देखि री देखि आनंद-कंद।
चित्त चातक प्रेम-घन, लोचन चकोरनि चन्द।
चलित कुंडल-गंड-मंडल, झलक ललित कपोल।
सुधा सर जनु मकर क्रीड़त, इंदु डह डह डोल।
सुभग कर आनन समीपै, मुरलिका इहिं भाइ।
मनु उनै अंभोज-भाजन, लेति सुधा भराइ।
स्याम देह दुकूल-दुति मिलि, लसति तुलसी माल।
तड़ित घन संयोग मानौ, स्रेनिका सुक-जाल।
अलक अबिरल, चारु हास-बिलास, भृकुटी भंग।
सूर हरि की निरखि सोभा, भई मनसा पंग ॥६४॥

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास द्वारा प्रणीत 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में गोपियाँ श्रीकृष्ण के अंग-प्रत्यंग की चेष्टाओं पर मोहित होती हुई दर्शायी गई हैं।

व्याख्या—कोई गोपी कहती है कि हे सखी ! चित्त रूपी चातक के लिए प्रेम रूपी घन तथा नेत्र रूपी चकोरों के लिए चन्द्रमा के समान आनन्द-कन्द श्रीकृष्ण भगवान् को तो देख । उनकी कनपटियों पर चंचल कुण्डलों की झलक सुन्दर कपोलों पर ऐसी शोभित हो रही है मानो अमृत के सरोवर में मछलियाँ क्रीड़ा कर रही हों और चन्द्रमा प्रसन्न होकर झूम रहा हो । उनके सुन्दर हाथों में मुख के समीप लायी गई मुरली ऐसी लगती है मानो कमल के पात्र प्रकट होकर (सुधासर में से) अमृत भर रहे हों । पीत वस्त्र की कान्ति से युक्त श्याम शरीर पर तुलसी की माला ऐसी शोभा पाती है मानो बिजली और मेघ के संयोग-स्थल में तोतों की पंक्ति विराजमान हो । उनकी अलकें घनी हैं, हास-विलास तथा भ्रू-भंग सुन्दर हैं । सूरदास जी कहते हैं कि श्री हरि की शोभा को देखकर गोपियों के मन निश्चल हो गए, अर्थात् वे भगवान् की रूप-माधुरी के आनन्द में ही तन्मय हो गए ।

विशेष—(क) प्रस्तुत पद में रूप-माधुरी का वर्णन सगुणोपासक वैष्णव-परम्परानुसारी है ।

(ख) द्वितीय पंक्ति में रूपक अलंकार है । ३-६ पंक्तियों में सुन्दर उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग हुआ है ।

(ग) भाषा साहित्यिक एवं माधुर्य-गुण पूरित है ।

(घ) श्रृंगार रस है ।

देखौ माई सुन्दरता कौ सागर ।
बुधि-बिबेक-बल पार न पावत, मगन होत मन नागर ।
तनु अति स्याम अगाध अम्बु-निधि, कटि पट पीत तरंग ।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजत, भँवर परत सब अंग ।
नैन-मीन, मकराकृत कुंडल, भुज सरि सुभग भुजंग ।
मुक्ता-माल मिली मानौ द्वै सुरसरि एकै संग ।
कनक खचित मनिमय आभूषन, मुख श्रम-कन सुख देत ।
जनु जलनिधि मथि प्रगट कियौ ससि, श्री अरु सुधा समेत ।
देखि सरूप सकल गोपीजन, रहीं बिचारि-बिचारि ।
तदपि सूर तरि सकीं न सोभा, रहीं प्रेम पचि हारि ॥६५॥

शब्दार्थ—अगाव=गहरा। अम्बु-निधि=जलनिधि=समुद्र। मुक्ता-माल =मोतियों की माला। सुरसरि=गंगा। कनक-खचित=स्वर्ण-जटित। स्रम-कन=पसीने की बूँदें।

प्रसंग—अवतरित पद कवि-कुल-भूषण महात्मा सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' नामक प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में कवि ने गोपियों के माध्यम से अपने आराध्य देव के अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन किया है।

व्याख्या—हे माई (सखी)! सुन्दरता का समुद्र तो देखो, जिसका बुद्धि, विवेक और बल भी पार नहीं पाते तथा जिसमें नागर (अति चतुर) मन भी डूब जाता है। श्रीकृष्ण का अत्यन्त श्यामल शरीर ही अगाध समुद्र है जिसकी तरंग है कटिवर्ती पीतपट। जब वे दृष्टिपात करते हुए अधिक शोभा को उत्पन्न करते हुए चलते हैं तब उनके समस्त अंगों के भँवर (आवर्त) पड़ने लगते हैं। उनके नेत्र ही मीन हैं, कुंडल तो मकराकृत ही हैं, सुन्दर भुजाएँ सर्प के समान हैं (ये सब समुद्र के जीव हैं) और मोतियों की माला तो ऐसी लगती हैं मानो दो गंगाएँ एक ही साथ शरीर रूपी समुद्र से मिली हों। उनके आभूषण स्वर्ण तथा मणियों से जड़े हुए हैं तथा मुख पर झलकती हुई पसीने की बूँदें भी सुखोत्पादक हैं। ऐसा लगता है मानो समुद्र-मंथन कर चन्द्रमा को लक्ष्मी और अमृत के साथ ही प्रकट किया गया हो। इस स्वरूप को देखकर समस्त गोपियाँ विचार-विचार कर रह गईं अर्थात् उस शोभा-सागर के लिए उपयुक्त उपमानों की खोज करते-करते थक गईं; फिर भी, सूरदास जी कहते हैं कि, वे उस शोभा (के सागर) को पार न पा सकीं, यद्यपि प्रेम पूर्वक वे उसका अवगाहन करते-करते पूर्णतः थक गईं।

विशेष—(क) प्रस्तुत पद सौन्दर्य-वर्णन सगुणोपासक भक्त परम्परानुसारी है। सारा संसार एक ही प्रभु कृष्ण के रूप से प्रतिबिम्बित है, जैसा कि श्रुति भी कहती है—"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" अर्थात् यह सब कुछ उसी के प्रकाश से प्रकाशित है। उन महाप्रभु की समता रखने वाला दूसरा कोई नहीं है, इसलिए उनके रूप-सौन्दर्य का वर्णन करने के लिए उपमान कहाँ से लाए जाएँ। यही कारण है कि गोपियों ने प्रेम पूर्वक उस शोभा-सागर का पार पाने का सतत प्रयास किया फिर भी वे उसका पार न पा सकीं।

(ख) पूरे पद में सांग रूपक अलंकार है, जिसके अंग-रूप में "भुज सरि सुभग भुजंग" में लुप्तोपमा तथा दो उत्प्रेक्षाओं (पंक्ति ६-८) का प्रयोग हुआ है।

(ग) पद की भाषा सरस, साहित्यिक एवं माधुर्य पूर्ण है।

(ग) शृंगार रस है।

बने बिसाल अति लोचन लोल।
चितै-चितै हरि चारु बिलोकनि, मानौ माँगत हैं मन ओल।
अधर अनूप, नासिका सुन्दर, कुंडल ललित सुदेस कपोल।
मुख मुसुक्यात महा छबि लागति स्रवन सुनत सुठि मीठे बोल।
चितवति रहति चकोर चन्द ज्यौं नेकु न पलक लगावत डोल।
सूरदास प्रभु कें बस ऐसे, दासी सकल भईं बिनु मोल ॥९६॥

शब्दार्थ—लोल=चंचल। बिलोकनि=चितवन। ओल=आश्रय, शरण। सुठि=सुन्दर।

प्रसंग—प्रस्तुत पद महाकवि सूरदास कृत 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' नामक प्रकरण से लिया गया है जिसमें श्रीकृष्ण के अनुपम वदन-सौन्दर्य का निरूपण किया गया है। शारीरिक

व्याख्या—श्रीकृष्ण के चंचल नेत्र अति विशाल हैं जिनकी सुन्दर चितवन से देख-देखकर मानो वे हमारे मन में आश्रय (बसना) चाहते हैं। उनके अधर अनुपम हैं, नासिका सुन्दर है और कुंडल भी अपने उपयुक्त स्थान कपोलों पर सुन्दर लग रहे हैं। उनका मुख मुस्कराते समय महाछवि से युक्त हो जाता है तथा उनके मीठे वचन कानों को अति सुन्दर लगते हैं। उनके मुख को गोपियाँ उसी तरह निर्निमेष दृष्टि से देखती रहती हैं जैसे चन्द्रमा को चकोर देखते रहते हैं। सूरदास जी कहते हैं कि वे सब की सब प्रभु के वश में इस प्रकार हो गई हैं मानो उनकी बिना मोल की (बिना खरीदी हुई) दासियाँ हों।

विशेष—(क) यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि सौन्दर्य के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है और पुरुष-सौन्दर्य के प्रति नारी का स्वाभाविक आकर्षण ही प्रेम का जनक होता है। कृष्ण का सौन्दर्य अलौकिक है, अतः उसके प्रति आकृष्ट होने वाली गोपिकाओं का प्रेम भी अलौकिक ही है। उसमें स्वार्थ की गन्ध लेश-मात्र भी नहीं है, इसीलिए उनके प्रेम की उपमा चकोर के प्रेम से दी गई है।

(ख) पद में वीप्सा, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा तथा उदाहरण अलंकारों का सहज समावेश हुआ है जिससे भाव-सौन्दर्य में वृद्धि हुई है।

(ग) भाषा सरस, सरल और सुमधुर है।

(घ) शृंगार रस है।

तरुनी निरखि हरि-प्रति अंग।
कोउ निरखि नख-इंदु भूली, कोउ चरन-जुग रंग।
कोउ निरखि नूपुर रही थकि, कोउ निरखि जुग जानु।
कोउ निरखि जुग जंघ-सोभा करति मन अनुमानु।
कोउ निरखि कटि पीत कछनी मेखला रुचि कारि।
कोउ निरखि हृद-नाभि की छबि डार्यौ तन मन वारि।
रुचिर रोमावली हरि कैं चारु उदर सुदेस।
मनौ अलि-स्रेनी बिराजति बनी एकहिं भेस।
रहीं इक टक नारि ठाढ़ी करति बुद्धि बिचार।
सूर आगम कियौ नभ तैं जमुन-सूच्छम-धार ॥६७॥

शब्दार्थ—नख-इंदु=नाखून रूपी चंद्रमा। चरन-जुग=दोनों चरण। जानु=घुटने। रुचिकारि=सौन्दर्यवर्द्धक। हृद-नाभि=सरोवर के समान गहरी नाभि। रोमावली=रोंगटे। अलि-स्रेनी=भ्रमर-पंक्ति। आगम= आगमन। सूच्छम (सूक्ष्म)=पतली।

प्रसंग—अवतरित पद कवि-शिरोमणि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' नामक प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में कवि ने अपने आराध्य देव श्रीकृष्ण की अंग-प्रत्यंग-मोहकता का निरूपण किया है। श्रीकृष्ण गोपियों के माध्यम से

व्याख्या—व्रज-युवतियों ने श्रीहरि के अंग-प्रत्यंग का अवलोकन किया। उनमें से कोई तो उनके नखरूपी चन्द्रमाओं को देखकर आपा खो बैठी और कोई दोनों चरणों के रंग को देख कर विस्मित हो गई; कोई नूपुरों को देखकर स्तम्भित हो गई और कोई दोनों घुटनों को देखकर; कोई दोनों जंघाओं की शोभा को देखकर मन में विविध कल्पनाएँ करने लगती है; कोई कटि प्रदेश में विद्यमान पीत वस्त्र की काछनी और शोभाशाली मेखला को देख कर तथा कोई नाभि रूपी सरोवर की छवि को देखकर अपना तन-मन निछावर करने लगी। श्रीहरि के सुन्दर उदर पर रोमावली इस तरह सुशोभित है मानो एक

ही वेश से सुसज्जित भौंरों की पंक्ति विराजमान हो। इस रोमावली के सौन्दर्य को सकल ब्रजांगनाएँ एकटक खड़ी देखती हुई बुद्धि (मन) में विचार करती हैं कि मानो सूरदास जी कहते हैं, आकाश से यमुना की एक सूक्ष्म धारा (पृथ्वी पर) आ रही हो।

विशेष—(क) भगवान् के अनन्त सौन्दर्य का वर्णन सगुणोपासक भक्त-परम्परा के अनुकूल ही है। ईश्वरीय सौन्दर्य के प्रति गोपियों का आकृष्ट होना वासना-रहित है। उसमें निष्कारणता और सहजता है और इसलिए वह सच्चे प्रेम का जनक है।

(ख) पद में उल्लेख, अनुप्रास, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का बड़ा ही सहज समावेश है।

(ग) पद की भाषा साहित्यिक एवं माधुर्यगुण-युक्त है।

(घ) श्रृंगार रस है।

मुख-छबि कहौं कहाँ लगि माई।
भानु उदै ज्यौं कमल प्रकासित, रबि, ससि दोऊ जोति छपाई।
अधर बिंब, नासा ऊपर, मनु सुक चाखन कौं चोंच चलाई।
बिकसत बदन दसन अति चमकत, दामिनि-दुति दुरि देति दिखाई।
सोभित अति कुंडल की डोलनि, मकराकृत श्री सरस बनाई।
निसि दिन रटति सूर के स्वामिहिं, ब्रज बनिता देहैं बिसराई ॥६८॥

शब्दार्थ—बिकसत बदन=प्रफुल्लित मुख। दुरि=लुप्त हो कर। देहैं=शरीर को।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' नामक प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में श्रीकृष्ण के मुख-मण्डल की कान्ति का निरूपण किया गया है।

व्याख्या—कोई युवती अपनी सखी से श्रीकृष्ण के मुख-सौन्दर्य का वर्णन करती हुई कहती है कि अरी माई ! मैं उस मुख की छवि का कहाँ तक वर्णन करूँ ! जिस प्रकार सूर्योदय होने पर कमल प्रकाशित हो जिसमें सूर्य तथा चन्द्रमा दोनों की ज्योति छिपी हुई है। उनके अधर बिम्बाफल के समान हैं जिनके ऊपर नासिका है जिसे देखकर ऐसा लगता है मानो तोते ने बिम्बाफल को चखने के लिए अपनी चोंच प्रेरित की हो। प्रफुल्लित मुख के अन्दर दाँत

उसी प्रकार बार-बार चमकते हैं जिस प्रकार कि बिजली की कान्ति लुप्त होकर दिखाई देती है। कानों में श्री-सम्पन्न मकराकृत कुण्डलों की चंचलता अत्यन्त शोभा से युक्त है। इस प्रकार दिन-रात सूरदास के स्वामी श्रीकृष्ण की रट लगाकर ब्रजांगनाएँ अपने शरीर की सुध-बुध खो बैठती हैं।

विशेष—(क) श्रीकृष्ण के अंग-प्रत्यंग का सौन्दर्य असीम है, इसलिए उसके प्रति आकर्षण तथा प्रेम होना सहज सम्भाव्य है।

(ख) पद में दृष्टान्त, उदाहरण, रूपक, उत्प्रेक्षा और अनुप्रास अलंकारों का सहज समावेश हुआ है जिससे काव्य-सौन्दर्य के साथ-साथ भाव-सौन्दर्य में भी वृद्धि हुई।

(ग) भाषा सरस, साहित्यिक एवं सुमधुर है।

(घ) शृंगार रस है।

स्याम भुजनि की सुन्दरताई।
चंदन खौरि अनूपम राजति, सो छबि कही न जाई।
बड़े बिसाल जानु लौं परसत, इक उपमा मन आई।
मनौ भुजंग गगन तें उतरत, अधमुख रह्यौ झलाई।
रत्न-जटित पहुँची कर राजति, अँगुरी सुंदर भारी।
सूर मनौ फनि-सिर मनि सोभित, फन-फन की छबि न्यारी॥६६॥

शब्दार्थ—खौरि=तिलक। परसत=स्पर्श करते हैं। अधमुख=अधोमुख, नीचे की ओर मुँह करके। फनि-सिर=सर्प के सिर पर।

प्रसंग—अवतरित पद कवि-शिरोमणि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' नामक प्रकरण से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में श्रीकृष्ण की विशाल भुजाओं के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है।

तिलक

व्याख्या—श्रीकृष्ण की भुजाओं की सुन्दरता और उनके ऊपर विराजमान अनुपम चन्दन के टीके की छवि का वर्णन नहीं किया जा सकता। श्रीकृष्ण के भुजयुगल बड़े विशाल तथा घुटनों का स्पर्श करने वाले हैं जिन्हें देखकर मन में एक उपमा सूझती है कि मानो सर्प आकाश से उतरता हुआ नीचे की ओर मुँह करके झूल रहा हो। हाथ में रत्नों से जड़ी हुई पहुँची शोभित है तथा हाथ की अँगुलियाँ अत्यन्त सुन्दर हैं। सूरदासजी कहते हैं कि ऐसा लगता है मानो सर्प के सिर पर मणि शोभित है तथा उसके प्रत्येक फन की छवि

पृथक्-पृथक् प्रतिभासित हो रही है। यहाँ पर पहुँची में मणि की हाथ में फणि-सिर की तथा अंगुलियों में सर्प की फणाओं की संभावना हुई है।

विशेष—(क) भुज-सौन्दर्य-वर्णन भी श्रीकृष्ण के नख-शिख-सौन्दर्य-वर्णन का ही अंग है। भुजाओं की सुन्दरता और विशालता द्वारा श्रीकृष्ण के लोक-रंजक और लोक-रक्षक दोनों ही रूप ध्वनित होते हैं।

(ख) भुजादि उपमेय में सर्पादि उपमानों की संभावना होने के कारण यहाँ पर उत्प्रेक्षा अलंकार है, जिसके सहज समावेश से काव्य-सौन्दर्य में अनुपम वृद्धि हुई है।

(ग) पद की भाषा सरल, सरस और सुमधुर है।

(घ) श्रृंगार रस है।

अलकनि की छबि अलि-कुल गावत।
खंजन मीन मृगज लज्जित भए, नैननि गतिहिं न पावत।
मुख मुसुक्यानि आनि उर अन्तर अंबुज बुधि उपजावत।
सकुचत अरु बिगसत वा छबि पर अनुदिन जनम गँवावत।
पूजत नाहिं सुभग स्यामल तन, जद्यपि जलधर धावत।
बसन समान होत नहिं हाटक, अगिनि झाँप दै आवत।
मुक्ता-दाम बिलोकि बिलखि करि, अवलि बलाक बनावत।
सूरदास प्रभु ललित त्रिभंगी, मनमथ-मनहिं लजावत ॥१००॥

शब्दार्थ—अलक=सिर के बाल। अलि-कुल=१. भौंरे, २. सखियाँ। मृगज=मृग-शावक। अनुदिन=प्रतिदिन। पूजत नाहिं=बराबरी नहीं कर पाता। जलधर=मेघ, घन (श्रीकृष्ण को घनश्याम-शरीर कहा जाता है)। हाटक=सोना। झाँप=आवरण, पर्दा। मुक्ता-दाम=मोतियों की माला। अवलि बलाक=बगुलों की पंक्ति। मनमथ=कामदेव।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' नामक प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में श्रीकृष्ण के अंग-प्रत्यंग की शोभा का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—सखियाँ अलकों की छवि को भौंरों के समान बतलाती हैं। खंजन, मीन तथा मृग-शावक श्रीकृष्ण के नेत्रों को देखकर लज्जित हो जाते हैं क्योंकि वे नेत्रों की गति से समानता नहीं कर पाते हैं। हृदय में उनके मुख

की मुसुक्यान का आभास होते ही कमल की बुद्धि उत्पन्न होती है अर्थात् उनका प्रफुल्लित बदन विकसित कमल के समान है जो कभी संकुचित होता है और कभी विकसित। इस मुख-कमल की छवि पर अलि (सखी) रूपी अलि-कुल नित्य अपना जन्म गँवाते रहते हैं अर्थात् उसी की ओर सदा आकृष्ट होते रहते हैं। उनके श्यामल शरीर की उपमा के लिए यद्यपि मेघ दौड़कर सामने आते हैं, पर वे उसकी बराबरी नहीं कर पाते। उनके पीत-वस्त्र के समान सोना नहीं हो पाता और यदि अग्नि को उपमान के रूप में लाया जाए तो वह पर्दा देकर (मुँह छिपाकर, लज्जित होकर) सामने आता है। मोतियों की माला को देख कर बगुलों की कतार भी बड़ी कठिनाई से उसकी उपमा में आ पाती है। सूरदासजी कहते हैं कि प्रभु की सुन्दर त्रिभंगी छवि कामदेव के मन को भी लज्जित कर देती है।

विशेष—(क) श्रीकृष्ण के असीम एवं अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण भगवान् के अवतार हैं अतः वे भी तुलसी के राम की तरह "कोटि मनोज लजावनिहारे" हैं। यही है उनका लोक-रंजक स्वरूप जो भक्तों के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करने वाला है।

(ख) सम्पूर्ण पद में व्यतिरेक अलंकार के प्रयोग से श्रीकृष्ण भगवान् के सौन्दर्य की पराकाष्ठा दर्शायी गयी है।

(ग) पद की भाषा सरस, साहित्यिक एवं सुमधुर है।

(घ) शृंगार रस है।

बनी मोतिनि की माल मनोहर।
सोभित स्याम-सुभग-उर-ऊपर, मनु गिरि तैं सुरसरी धँसी धर।
तट भुजदंड, भौंर भृगु-रेखा, चंदन-चित्र तरंग जु सुन्दर।
मनि की किरन मीन, कुंडल छबि मकर मिलन आए त्यागे सर।
जग्युपबीत बिचित्र 'सूर' सुनि, मध्य-धार-धारा जु बनी बर।
संख चक्र गदा पद्म पानि मनु कमल कूल हंसनि कीन्हे घर॥१०१॥

शब्दार्थ—सुरसरी=गंगा। धर=पृथ्वी। तट=किनारा। जग्युपबीत= यज्ञोपवीत, जनेऊ। पद्म=कमल, श्रीविष्णु का एक आयुध।

प्रसंग—अवतरित पद 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' नामक प्रसंग से उद्धृत है जिसके प्रणेता भक्तकवि सूरदासजी हैं। प्रस्तुत पद में कवि ने श्रीकृष्ण के नख-शिख-सौन्दर्य का मनोहारी वर्णन किया है।

व्याख्या—मोतियों की बनी हुई मनोहर माला श्रीश्याम के सुन्दर हृदय के ऊपर इस प्रकार सुशोभित है मानो गंगाजी पर्वत से उतरकर पृथ्वी में प्रवेश कर गई हों। माला रूपिणी गंगा के दोनों भुजदण्ड ही किनारे हैं, हृदय पर लक्षित भृगु-रेखा (श्रीभृगुजी का चरण-चिह्न) ही भँवर है तथा चन्दन-चित्र ही सुन्दर तरंगें हैं; कौस्तुभ मणि की किरण ही मीन है, कुण्डलों की छवि ही मकर है जो सरोवर (मुख रूपी सुधा-सरोवर) को त्याग कर मणि-किरण रूपी मीन से मिलने के लिए आए हुए हैं; सूरदासजी कहते हैं कि जो विचित्र यज्ञोपवीत है वही सुन्दर मध्य-धार (मझधार) की धारा है तथा हाथों में सुशोभित शंख, चक्र, गदा और पद्म ऐसे लगते हैं मानो कमल-युक्त किनारों पर हंसों ने निवास कर लिया हो।

विशेष—(क) श्रीकृष्ण श्री विष्णु भगवान् के अवतार हैं अतः वे वही आभरण धारण करते हैं जिन्हें कि श्रीविष्णु धारण करते हैं। यहाँ पर श्री विष्णु और श्रीकृष्ण में अभेद मानते हुए ही उनके आभरणों का आलंकारिक वर्णन हुआ है।

(ख) आभरणों के वर्णन में गंगा के रूपक की अवतारणा हुई है। अतः पूरे पद में सांगरूपक अलंकार है जिसके पूरक के रूप में उत्प्रेक्षा अलंकार भी सहायक हुआ है।

(ग) भाषा साहित्यिक और माधुर्य गुण युक्त है।

(घ) विवरणात्मक शैली का प्रयोग हुआ है।

चितवनि रोकें हूँ न रही।
स्यामसुन्दर-सिंधु-सनमुख, सरिता उमँगि बही।
प्रेम-सलिल-प्रवाह भँवरनि, मिति न कबहुँ लही।
लोल-लहर-कटाच्छ, घूँघट - पट - करार ढही।
थके पल पथ, नाव धीरज परति नहिन गही।
मिली सूर सुभाव स्यामहिं, फेरिहू न चही।।१०२।।

शब्दार्थ—स्यामसुंदर-सिंधु-सनमुख=श्रीकृष्ण के सौन्दर्य रूपी समुद्र के सामने। प्रेम-सलिल-प्रवाह=प्रेम रूपी जल का प्रवाह। मिति=पार, थाह। पल पथ=पलक रूपी पथिक। फेरिहू=लौटना भी।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के "रूप-माधुरी' नामक प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में श्रीकृष्ण के सौन्दर्य के प्रति गोपियों के सहज आकर्षण का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—गोपियों की दृष्टि रोकने से भी नहीं रुकी, अपितु वह सरिता की भाँति उमंग में भर श्री श्यामसुन्दर रूपी समुद्र के सन्मुख बहने लगी। भाव यह है कि जिस प्रकार नदी का प्रवाह स्वभावतः समुद्राभिमुखी होता है उसी प्रकार गोपियों की दृष्टि का आकर्षण स्वभावतः कृष्ण-सौन्दर्य की ओर हो गया। कृष्ण-सौन्दर्य रूपी सिंधु की ओर उमँग कर बहने वाली चितवन रूपी सरिता के प्रेम रूपी जल के प्रवाह में पड़ने वाले भँवरों की थाह कभी नहीं ली जा सकती। भाव यह है कि सौन्दर्य के प्रति सहज आकर्षण से उत्पन्न सहज प्रेम की थाह नहीं ली जा सकती; बिहारी के अनुसार तो उसमें "गिरि तें ऊँचे रसिक मन" भी हजारों की संख्या में डूब और बह जाते हैं। उस चितवन रूपी सरिता की कटाक्ष रूपी चंचल लहरों ने घूंघटपट रूपी करारों को ढहा दिया है। सच बात यह है कि प्रेमी "नैना घूंघट में न समाहिं।" उस सरिता में पलक रूपी पथिक थक गये हैं अतः उनसे धीरज रूपी नाव नहीं गही जा रही। भाव यह है कि पलक झँपते नहीं, इसलिए वे थके हुए पथिक के समान हैं; मिलन की व्यग्रता है पर धैर्य रूपी नाव आतुरता को दबाए हुए है; लेकिन अब धीरज भी टूट रहा है, अर्थात् मिलन के प्रति तीव्र आतुरता है। सूरदासजी कहते हैं कि वह चितवन रूपी नदी श्यामरूपी समुद्र से स्वभावतः ही मिल गई और फिर उसने वहाँ से लौटने की इच्छा नहीं की। भाव यह है कि जिस प्रकार सरिता का जल जलनिधि में जाकर उससे अभिन्न हो जाता है उसी प्रकार गोपियों की दृष्टि भी श्रीकृष्ण के सौन्दर्य में जाकर अविचल हो गई।

विशेष—(क) श्रीकृष्ण का सौन्दर्य असीम है अतः उसके प्रति सहज आकर्षण उत्पन्न होना नितान्त स्वाभाविक है। यह सहज आकर्षण ही सहज प्रेम का जनक है जिसमें वासना की गन्ध लेशमात्र नहीं होती। यह स्वाभाविक प्रेम आत्मा और परमात्मा के प्रेम की भाँति अथवा नदी और समुद्र के प्रेम की भाँति स्वाभाविक होता है जिसमें पुनरावर्तन की कोई गुंजायश नहीं होती। तभी तो सूर ने कहा "मिली सूर सुभाव स्यामहिं, फेरिहू न चही"।

(ख) पूरे पद में सांगरूपक अलंकार है।

(ग) भाषा सरस और सुमधुर है।

(घ) श्रृंगार रस है।

नटवर-वेष धरे ब्रज आवत।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, कुटिल अलक मुख पर छबि पावत।
भ्रकुटी बिकट नैन अति चंचल, इहिं छबि पर उपमा इक आवत।
धनुष देखि खंजन बिबि डरपत, उड़ि न सकत उड़िबै अकुलावत।
अधर अनूप मुरलि-सुर पूरत, गौरी राग अलापि बजावत।
सुरभी-बृन्द गोप-बालक-संग, गावत अति आनंद बढ़ावत।
कनक-मेखला कटि पीतांबर, निर्तत मंद-मंद सुर गावत।
सूर स्याम प्रति अंग-माधुरी, निरखत ब्रजजन कें मन भावत ॥१०३॥

शब्दार्थ—बिबि=दो। सुरभी-वृन्द=गायों का समूह। कनक-मेखला=सोने की करधनी। निर्तत=नृत्य करते हैं, नाचते हैं।

प्रसंग—प्रस्तुत पद कवि शिरोमणि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' नामक प्रसंग से अवतरित है जिसमें नटवर-वपुधारी लीला-विहारी श्रीकृष्ण भगवान् की अंग-माधुरी का सारगर्भित वर्णन हुआ है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण नटवर (श्रेष्ठ नट का) वेष धारण किए हुए ब्रज में आते हैं। उनके सिर पर मोर-मुकुट है, कानों में मकराकृत कुंडल हैं और मुख पर कुटिल अलक शोभायमान हैं। उनकी भृकुटी विकट (तिरछी वक्र) तथा नेत्र अत्यन्त चंचल हैं; इस छवि पर एक उपमा मन में आती (सूझती) है कि धनुष को देखकर दो खंजन डरते हैं तथा उड़ने के लिए अकुलाते हैं किन्तु उड़ नहीं पाते। उनके अधर मुरली का अनुपम स्वर पूरित करते हैं और वे उसे गौरी राग आलाप कर बजाते हैं। गायों और गोप-बालकों के साथ गाते हुए वे अति आनन्द की वृद्धि करते हैं। कमर में कनक-मेखला और पीताम्बर (की कछनी) धारण कर वे नृत्य करते हैं तथा मंद-मंद स्वर में गाते हैं। सूरदासजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण के प्रत्येक अंग की माधुरी का दर्शन करते ही ब्रज-वासियों के मन प्रफुल्लित हो जाते हैं।

विशेष—(क) यहाँ पर भगवान् के लीलाविहारी भक्त हृदयानुरंजनकारी नटवर गोपाल वेष का वर्णन है जो सगुणोपासक भक्त परम्परानुसारी है।

(ख) "धनुष देखि········अकुलावत" में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(ग) भाषा सरसता, आनुप्रासिकता तथा माधुर्य आदि गुणों से पूरित है।

(घ) सख्य-भाव भक्ति का विवेचन है।

देखिरी हरि के चंचल नैन।
खंजन-मीन-मृगज-चपलाई, नहिं पटतर इक सैन।
राजिव-दल इंदीवर सतदल, कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं वै बिकसित, ये बिकसित दिन राति।
अरुन, स्वेत, सित झलक पलक प्रति, को बरनै उपमाइ।
मनु सरसुति, गंगा, जमुना मिलि, आस्रम कीन्हौ आइ।
अवलोकनि जलधार तेज अति, तहाँ न मन ठहराइ।
'सूर' स्याम-लोचन-अपार-छवि, उपमा सुनि सरमाइ ॥१०४॥

शब्दार्थ—पटतर=बराबर। सैन=आँख का इशारा। राजिव=राजीव। नील कमल। इन्दीवर=एक प्रकार का नीला कमल। सतदल=कमल। कुसेसय=कुई, कमल। मुद्रित=मुँद जाते हैं। सित=असित अर्थात् काला। आस्रम=आस्पद, स्थान। अवलोकनि=चितवन, दृष्टिपात।

प्रसंग—अवतरित पद महात्मा सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में कवि ने श्रीकृष्ण के नेत्र-सौन्दर्य का मनोहारी वर्णन किया है।

व्याख्या—कोई गोपी अपनी सखी से कहती है कि अरी सखी ! तू हरि के चंचल नेत्रों को देख। वे इतने चंचल हैं कि खंजन, मीन और मृग शावक (के नेत्रों) की चंचलता उनके एक सैन की बराबरी नहीं कर सकते हैं। भाव यह है कि चंचलता की दृष्टि से नेत्र खंजन, मीन तथा मृग-शावक आदि उपमानों से बढ़कर है। सौन्दर्य की दृष्टि से नेत्रों की उपमा कमल से दी जाती है, किन्तु हरि के नेत्रों से उसकी उपमा भी संगत नहीं बैठती। इसका कारण बतलाते हुए सूरदासजी कहते हैं कि राजीव, इन्दीवर, शतदल, कमल, कुशेशय आदि जितनी भी कमल की जातियाँ हैं, वे रात को मुँद जाती हैं तथा प्रातःकाल में विकसित होती हैं किन्तु ये नेत्र दिन-रात विकसित (प्रफुल्लित) रहते हैं। पलकों पर पड़ने वाली अरुण, श्वेत और असित अर्थात् "सेत स्याम रतनार" झलक की उपमा का कौन वर्णन करे ? ऐसा लगता है

मानो सरस्वती, गंगा और यमुना ने मिलकर एक ही स्थान (नेत्र) में आश्रम बना लिया हो। उनकी चितवन ही अत्यन्त तेज जल-धारा है जहाँ पर मन स्थिर नहीं रह सकता, अर्थात् उनकी चितवन को देखते ही मन में प्रेम-सम्बन्धी विचारों की उछल-कूद होने लगती है। सूरदासजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण के नेत्रों की अपार छवि को सुनकर उपमा भी शर्मा जाती है अर्थात् उस अपार छवि की तुलना करने के लिए कोई उपयुक्त उपमान नहीं है।

विशेष—(क) श्रृंगार-वर्णन का आवश्यकतम अंग है नख-शिख-वर्णन और उसमें भी नेत्र-वर्णन का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यहां पर नेत्र-सौन्दर्य का वर्णन श्रृंगार-चित्रण करने वाले रसिक कवियों की परम्परा का ही अनुकरण करने वाला है।

(ख) रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक और अनन्वय आदि अर्थालंकारों के सफल एवं स्वाभाविक प्रयोग से काव्य में रमणीयता आ गई है।

(ग) भाषा सरस, साहित्यिक और सुमधुर है।

(घ) श्रृंगार रस है।

देखि सखी अधरनि की लाली।
मनि मरकत तें सुभग कलेवर, ऐसे हैं बनमाली।
मनौ प्रात की घटा साँवरी, तापर अरुन प्रकास।
ज्यौं दामिकि बिच चमकि रहत है, फहरत पीत सुबास।
कीधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि, जुग फल बिंब सुपाके।
नासा कीर आइ मनु बैठ्यौ, लेत बनत नहिं ताके।
हँसत दसन इक सोभा उपजति, उपमा जाति लजाई।
मनौ नीलमनि-पुट मुकुता-गन, बंदन भरि बगराई।
किधौं ब्रज-कन, लाल नगनि खँचि, तापर बिद्रुम पाँति।
किधौं सुभग बंधूक-कुसुम पर, झलकत जल-कन-काँति।
किधौं अरुन अंबुज बिच बैठी, सुंदरताई जाइ।
'सूर' अरुन अधरनि की सोभा, बरनत बरनि न जाइ ।।१०५।।

शब्दार्थ—सुभग=सुन्दर। कलेवर=शरीर। अरुन=प्रभातकालीन सूर्य। सुबास=सुन्दर वस्त्र। सुपाके=अच्छी तरह पके हुए। बंदन=अबीर। बिद्रुम=मूँगा। बंधूक=गुलदुपहरिया।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास द्वारा प्रणीत 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' नामक प्रसंग से उद्धृत है । प्रस्तुत पद में कवि ने श्रीकृष्ण के अधरों के सौन्दर्य का मनोहारी वर्णन किया है ।

व्याख्या—कोई गोपी कहती है कि हे सखी । तू श्रीकृष्ण के अधरों की लालिमा को देख । उन वनमाली का शरीर मरकत मणि से भी अधिक सुन्दर है, जिसे देख कर ऐसा लगता है मानो प्रातःकाल की श्याम घटा पर अरुण सूर्य का प्रकाश पड़ रहा हो । श्याम शरीर पर फहराता हुआ सुन्दर पीताम्बर वैसा ही लगता है जैसे कि घन-घटा के मध्य में दामिनी चमकती रहती है । अधरों के विषय में सन्देह उत्पन्न करता हुआ कवि कहता है अथवा तरुण तमाल-वेली पर चढ़ कर दो बिंबाफल अच्छी तरह पक गए हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए मानो नासिका रूपी तोता आकर बैठा हुआ है, लेकिन उससे वे (फल) लेते नहीं बनते इसलिए उनकी ओर ताक रहा है । श्रीकृष्ण के हँसते ही दाँतों में एक ऐसी शोभा उत्पन्न होती है कि उसकी समस्त उपमाएँ लजा जाती हैं अर्थात् कोई उपमा सार्थक नहीं बैठती । फिर भी ऐसा लगता है मानो नीलमणि के पुट से युक्त मोतियों का अबीर भरकर वगरा दिया गया हो ! अथवा लाल नगों से जड़े हुए बज्र-कण के ऊपर विद्रुमों (मूंगों) की पंक्ति हो, अथवा सुन्दर बन्धूक के फूल पर जल-कणों की कान्ति झलकती हो, अथवा लाल कमल के बीच में जाकर सुन्दरता बैठ गई हो । सूरदास जी कहते हैं कि श्रीकृष्ण के अरुण अधरों की शोभा वर्णन करने पर भी वर्णित नहीं हो पाती अर्थात् वह वर्णनातीत है ।

विशेष—(क) अधर-वर्णन भी 'नख-शिख-वर्णन' का ही एक अंग है जो प्राचीन भारतीय रसिक-परम्परा का अनुसरण करने वाला है ।

(ख) उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, दृष्टान्त और सन्देह आदि अर्थालंकारों के प्रयोग से काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि हुई है ।

(ग) भाषा सरस, साहित्यिक और सुमधुर है ।

(घ) शृंगार रस है ।

नंद-नँदन मुख देखौ माई ।
अंग-अंग-छबि मनहुँ उये रबि, सखि अरु समर लजाई ।
खंजन, मीन, भृंग, वारिज, मृग पर दृग अति रुचि पाई ।
स्त्रुति-मंडल कुंडल मकराकृत, बिलसत मदन सदाई ।

नासा कीर, कपोत ग्रीव-छबि, दाड़िम दसन दुराई।
है सारंग-वाहन पर मुरली, आई देति दुहाई।
मोहे थिर, चर, बिटप, बिहंगम, ब्योम बिमान थकाई।
कुसमांजलि बरसत सुर ऊपर, सूरदास बलि जाई ॥१०६॥

शब्दार्थ—उये=उदय हुए। समर=कामदेव। भृंग=भौंरा। द्दग=नेत्र। स्त्रुति-मंडल=कान। कीर=तोता। कपोत=कबूतर। ग्रीव=गर्दन। दाड़िम=अनार। सारँग-वाहन=हाथ रूपी सवारी। कुसुमांजलि=फूलों की अंजलियाँ।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास के 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में कवि ने श्रीकृष्ण के मुख-सौन्दर्य का वर्णन किया है।

व्याख्या—कोई गोपी कहती है कि हे सखियो! नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण का मुख तो देखो। उनके अंग-प्रत्यंग की छवि ऐसी है मानो सूर्य के उदय होने पर चन्द्रमा और कामदेव लजा गए हों। उनके नेत्रों का सौन्दर्य तो खंजन, मीन, भ्रमर, कमल और मृग से भी अधिक बढ़ कर है। कानों में विद्यमान मकराकृत कुण्डलों से ऐसा लगता है मानो वहाँ कामदेव नित्य विलास करता रहता है। उनकी नासा की छवि को देख कर तोता, ग्रीवा की छवि को देखकर कपोत और दांतों की छवि को देखकर दाड़िम छिप जाते हैं। दोनों हाथ रूपी वाहन पर मुरली आकर (श्रीकृष्ण के अंगों की विजय की) दुहाई देती है। उनकी मुख-माधुरी को देखकर वृक्ष-पक्षी आदि स्थावर-जंगम मोहित हो गए तथा आकाश में देवताओं के विमान थकित हो गए तथा देवता लोग ऊपर से कुसुमांजलियों की वर्षा करने लगे। इस छवि पर सूरदास बलिहारी हैं।

विशेष—(क) यह वर्णन विवरणात्मक है जो भारतीय परम्परा का अनुकरण करने वाला है। सूर के पूर्ववर्ती विद्यापति और परवर्ती बिहारी आदि ने जिन उपकरणों का प्रयोग किया है उन्हीं को सूर ने भी ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ "स्त्रुति मंडल·······मदन सदाई" से बिहारी का भाव-साम्य द्रष्टव्य है—

"मकराकृत गोपाल के सोहत कुंडल कान।
धँस्यौ मनौ हिय-धरु समरु, ड्योढ़ी लसत निसान॥"

(ख) पद में प्रधान अलंकार व्यतिरेक है। शेष उत्प्रेक्षा, रूपक आदि उसी के सहायक हैं।

(ग) अन्य पदों की अपेक्षा इस पद में चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। "सारंग" आदि शब्दों का प्रयोग चमत्कार-प्रदर्शन का ही सूचक है। अतः भाषा अलंकारिक और रूढ़बिद्ध है।

(घ) शृंगार रस है।

X **नैन भए बस मोहन तें।**
ज्यौं कुरंग बस होत नाद के, टरत नहीं ता गोहन तें।
ज्यौं मधुकर बस कमल-कोस के, ज्यौं बस चंद चकोर।
तैसेंहि ये बस भए स्याम के, गुड़ी-बस्य ज्यौं डोर।
ज्यौं बस स्वाति-बूंद के चातक, ज्यौं बस जल के मीन।
सूरज-प्रभु के बस्य भए ये, छिनु छिनु प्रीति नबीन ॥१०७॥

शब्दार्थ—कुरंग=मृग। नाद=शब्द। गोहन=निकट। मधुकर=भौंरा। गुड़ी=पतंग।

प्रसंग—अवतरित पद भक्त शिरोमणि सूरदास के 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' प्रसंग के 'नेत्र-अनुराग' नामक प्रकरण से लिया गया है। प्रस्तुत पद में श्रीकृष्ण के अप्रतिम सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट गोपियों के नेत्रों की परवशता का चित्रण किया गया है।

व्याख्या—कोई गोपी कहती है कि मेरे नेत्र श्री मोहन प्यारे के वश में हो गए हैं। जिस प्रकार मृग वंशी की ध्वनि के वशीभूत होकर उसके निकट से नहीं टलता, जिस प्रकार भौंरा कमल-कोष के वश में, चकोर चन्द्रमा के वश में और पतंग डोरी के वश में होते हैं उसी प्रकार ये नेत्र भी श्याम के वश में हो गए हैं। जिस प्रकार स्वाति-बूंद के वश में चातक तथा जल के वश में मीन होते हैं, उसी प्रकार ये नेत्र भी क्षण-क्षण नूतन प्रीति को धारण कर सूरदास के प्रभु श्रीकृष्ण के वश में हो गए हैं।

विशेष—(क) कुरंग, मधुकर, चकोर आदि का नाद, कमल-कोष, चन्द्र आदि के प्रति स्वाभाविक अनुराग होता है ; अतः उपर्युक्त दृष्टान्तों का प्रयोग कर गोपियों के स्वाभाविक प्रेम की व्यंजना की गई है जिसमें क्षणे-क्षणे नित्य नूतनता एवं विलक्षणता है।

(ख) सम्पूर्ण पद में उदाहरणों का ही प्रयोग हुआ है।

(ग) भाषा सरल, सरस और सुमधुर है ; हाँ, उदाहरणों की भरमार से उसमें पुनरावृत्ति-दोष झलकने लगता है।

(घ) श्रृंगार रस है।

स्याम सौं काहे की पहिचानि।
निमिष निमिष वह रूप, न, वह छबि, रति कीजै जिय जानि।
इकटक रहति निरंतर निसि दिन, मन बुधि सौं चित सानि।
एकौ पल सोभा की सीवाँ, सकति न उर महँ आनि।
समुझि न परै प्रगट हीं निरखत, आनंद की निधि खानि।
सखि यह बिरह, संजोग, कि समरस, सुख दुख, लाभ कि हानि।
मिटति न घृत तें होम-अग्नि-रुचि, 'सूर' सु लोचन बानि ॥१०८॥

शब्दार्थ—निमिष=क्षण। रति=प्रेम। बानि=आदत।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास कृत 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' नामक प्रकरण से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में कवि ने श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी की नित्य नूतनता का दिग्दर्शन कराया है।

व्याख्या—कोई गोपी कहती है कि श्रीकृष्ण को कैसे पहचाना जा सकता है। प्रत्येक क्षण में न तो वह रूप रहता है ओर न वह छवि जिसे कि हृदय में धारण कर उससे प्रेम किया जा सके। भाव यह है कि बौद्धों के क्षणिकवाद की तरह कवि भी श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य में नित्य परिवर्तन देखता है। यद्यपि हम दिन-रात उस रूप-छवि को बड़े मनोयोग के साथ निर्निमेष दृष्टि से निरन्तर अपने चित्त में धारण करती हैं, तथापि एक पल की शोभा की सीमा को हम अपने हृदय में धारण नहीं कर पातीं। वह आनन्द की निधि शोभा यद्यपि प्रकट रूप से दृष्टिगोचर होती है तथापि समझ में नहीं आती, अर्थात् वर्णनातीत है। हे सखि ! प्रत्यक्ष-दर्शन की स्थिति में भी यह नहीं जान पड़ता कि यह विरह है, अथवा संयोग अथवा समरसता है, सुख है अथवा दुःख, लाभ है अथवा हानि। भाव यह है कि यह एक अनिर्वचनीय स्थिति है। सूरदासजी कहते हैं कि जिस प्रकार घी से होमाग्नि की प्रभा शान्त नहीं होती, ऐसी ही इन नेत्रों की आदत हो गई है। भाव यह है कि इन नेत्रों की प्यास कभी शान्त नहीं होती, उल्टे प्रेम-पिपासा और बढ़ती जाती है जिस प्रकार कि घी का होम करने से अग्नि की लौ बढ़ती रहती है।

विशेष—(क) सौन्दर्य नित्य आनन्द की वस्तु है, जैसा कि किसी अंग्रेजी कवि ने कहा है—"A thing of beauty is joy for ever." । किन्तु नित्य आनन्द की वस्तु नित्य कमनीय होती है और उसमें नित्य नूतनता दृष्टिगत होती है । संस्कृत में श्री हर्ष ने भी यही कहा है—"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप कमनीयताया:" अर्थात् जिसमें हर क्षण नवीनता आती रहती है वही वस्तु कमनीय होती है । कृष्ण की मूर्ति का कोई निश्चित रूप गोपियों के हृदय में नहीं आ पाता, क्योंकि उसमें प्रति-क्षण परिवर्तन होता रहता है । बिहारी की नायिका के चित्रकारों को भी तो उसका चित्र-निर्माण करने में असफलता हाथ लगी थी—

"लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर ।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥"

इस प्रकार श्रीकृष्ण का रूप मूर्त होने पर भी अमूर्त है, उसमें नित्य नवीनता है, अतः उसके प्रति किए जाने वाले प्रेम में कभी विराम नहीं आ सकता, उसमें नित्य नवीनता ही उपलब्ध होती रहती है ।

(ख) १. "सखि यह············हानि" में सन्देह अलंकार है ।
२. "मिटति न घृत············बानि" में दृष्टान्त अलंकार है ।

(ग) भाषा सरस, सरल, साहित्यिक और सुमधुर है ।

(घ) श्रृंगार रस है ।

मेरौ मन गोपाल हर्‌यों री ।
चितवत ही उर पैठि नैनमग, ना जानौं धौं कहा कर्‌यौ री ।
मातु-पिता-पति-बंधु-सजन-जन, सखि आँगन सब भवन भर्‌यौ री ।
लोक-बेद प्रतिहार, पहरुआ, तिन हूँ पें राख्यौ न पर्‌यौ री ।
धर्म धरि कुलकानि कुंजी करि, तिहिं तारौ दै दूरि धर्‌यौ री ।
पलक कपाट कठिन उर अंतर, इते हुँ जतन कछु वै न सर्‌यौ री ।
बुधि बिबैक बल सहित संच्यौ पचि, सु धन अटल कबहूँ न टर्‌यौ री ।
लियौ चुराइ चितै चित सजनी, 'सूर' सोच तनु जात जर्‌यौं री ॥१०६॥

शब्दार्थ—पैठि=प्रवेश कर । नैनमग=नेत्रों के मार्ग से । सजन=स्वजन, परिवारीजन । प्रतिहार=पहरेदार । कुंजी=कुंजी, चाबी । कपाट=किवाड़ ।

कछु वै न सर्‌यौ=कुछ नहीं सफलता मिली । संच्यौ=इकट्ठा किया । पचि=परिश्रम करके । चितै=देखकर ।

प्रसंग—अवतरित पद भक्त कवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' नामक प्रसंग से उद्धृत है । प्रस्तुत पद में कवि ने श्रीकृष्ण के सहज सौन्दर्य के प्रति गोपियों के सहज आकर्षण का वर्णन किया है ।

व्याख्या—कोई गोपी कहती है कि मेरा मन श्री गोपाल ने चुरा लिया है । दृष्टिपात करते ही नेत्रों के मार्ग से मेरे हृयय में प्रवेश कर न जाने उन्होंने क्या कर डाला है ? माता, पिता, पति, बंधु, स्वजन, सेवक आदि से मेरा आँगन भरा हुआ है तथा लोक-वेद रूपी पहरेदार प्रहरा दे रहे हैं, फिर भी हे सखी ! उनके द्वारा भी वह (मन) रोका नहीं जा सका । भाव यह है कि मैंने श्रीकृष्ण के प्रेम में अनुरक्त होकर लोक, वेद और कुल-गृह आदि सबकी मर्यादाओं को तोड़ डाला । यद्यपि मैंने अपने मन को धर्म, धैर्य और कुलकानि रूपी चाबी से ताला देकर उनसे दूर करना चाहा तथा पलकों के कठिन किवाड़ लगाकर उसे अपने हृदय में स्थान दिया, किन्तु इतने उपाय करने से भी कुछ सफलता न मिली । भाव यह है कि प्रेम में धर्म, धैर्य और कुल-मर्यादा का कोई बन्धन नहीं होता, वह तो निर्बन्ध है । मैंने बुद्धि, विवेक और बल के साथ बड़े परिश्रम से उसका संचय किया था और वह मन रूपी धन ऐसा अटल था कि मेरे पास से कभी नहीं टला; लेकिन हे सजनी ! एक बार मेरी ओर दृष्टि-पात कर उस चित्त को श्री गोपाल ने चुरा लिया । इसी सोच में मेरा शरीर जला जाता है ।

विशेष—(क) इस पद में 'प्रत्यक्ष-दर्शन' नामक पूर्वराग का चित्रण है जिसे अंग्रेजी में "Love at first-sight" कहते हैं । श्रीकृष्ण का एक बार दर्शन कर लेने पर ही गोपियों का मन उनकी ओर आकर्षित हो जाता है और वे विरह-दग्ध होकर लोक-वेद-कुल आदि समस्त मर्यादाओं को तिलांजलि देकर श्रीकृष्ण के नित्य-दर्शन के लिए व्यग्र होने लगती हैं । यह विरह-साधना ही मधुरा भक्ति का मूल बीज है जिसमें नित्य नवीनता और मार्मिकता है ।

(ख) पद में अनुप्रास अलंकार की छटा दर्शनीय है ।

(ग) भाषा अत्यन्त ही सरस, रोचक एवं माधुर्यगुण युक्त है ।

(घ) श्रृंगार रस है ।

स्याम अचानक आइ गए री ।
मैं बैठी गुरुजन बिच सजनी देखतहीं मेरे नैन नए री ।
तब इक बुद्ध करी मैं ऐसी बेंदी सौं कर परस कियौ री ।
आपु हँसे उत पाग मसकि हरि, अन्तरजामी जानि लियौ री ।
लैं कर कमल अधर परसायौ, देखि, हरषि पुनि हृदय धर्यौं री ।
चरन छुए दोउ नैन लगाए, मैं अपनै भुज अंक भर्यौरी ।
ठाढ़े रहे द्वार अति हित करि, तबही तैं मन चोरि गयौरी ।
'सूरदास' कछु दोष न मेरौ उत गुरुजन इत हेत नयौ री ॥११०॥

शब्दार्थ—गुरुजन=माता-पिता । नए=झुक गए । परस=स्पर्श । अन्तरजामी=अन्तर्यामी, हृदय की जानने वाले । अंक=गोद । हेत=प्रेम ।

प्रसंग—अवतरित पद कवि-शिरोमणि सूरदासकृत 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' नामक शीर्षक से उद्धृत है । इस पद में कवि ने गोपी-गोपाल की प्रेम भरी सांकेतिक भाषा का विवरण प्रस्तुत किया है ।

व्याख्या—कोई गोपी कहती है कि हे सखी ! मैं अपने माता-पिता के बीच में बैठी हुई थी कि श्रीगोपाल अचानक ही वहाँ आ गए जिन्हें देखते ही मेरे नेत्र नीचे की ओर झुक गए । नीचे की ओर नेत्रों का झुक जाना यह सूचित करता है कि गोपी कृष्ण से प्रेम तो करती है किन्तु गुरुजन-लज्जावश उसे अभिव्यक्त करने में असमर्थ है । लेकिन कृष्ण का दर्शन कर लेने के अनन्तर उनसे मिलने की उत्कण्ठा न हो, यह असम्भव है, अतः आँखें झुकाने से काम नहीं चलेगा । यही सोचकर गोपी कहती है कि तब मैंने एक युक्ति सोची कि मैंने अपने ललाट पर स्थित बेंदी से अपने हाथ का स्पर्श किया जिसके अभिप्राय को अन्तर्यामी हरि ने जान लिया और प्रत्युत्तर में वे अपनी पगड़ी को मसक कर हँसने लगे । तब उन्होंने हाथ में एक कमल लेकर उसका अधर से स्पर्श कराया, फिर उसे देख कर और प्रसन्न होकर उसे अपने हृदय पर रख लिया । उधर मैंने भी अपने दोनों चरणों का स्पर्श कर उन्हें अपने नेत्रों से लगाया और अपनी भुजाओं से अँकवार भरी । वे भी बड़े प्रेम के साथ द्वार पर खड़े रहे, बस तभी से वे मेरे मन को चुरा ले गए हैं । सूरदास के माध्यम से गोपी कहती है कि मेरा दोष ही क्या है ? क्योंकि मेरे लिए तो एक ओर गुरुजन का संकोच है और दूसरी ओर नवीन प्रेम है,

इसीलिए मैं द्विविधा में पड़ कर अवसर का लाभ नहीं उठा सकी, उलटे विरह में और जलने लगी।

विशेष—(क) प्राचीन शृंगारी कवियों की तरह सूर ने भी सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया है, जो नागर नरों के समझने की वस्तु है। बेंदी पर हाथ रखने का अभिप्राय यह है कि मैं तुमसे सूर्यास्त और चन्द्रोदय की वेला में मिलूँगी। पाग मसकने का अभिप्राय यह है कि मुझे आपका प्रस्ताव शिरोधार्य है। कृष्ण द्वारा कमल का हृदय से स्पर्श कराने और फिर उसे हृदय पर रखे जाने का अभिप्राय यह हैं कि मैं तुम्हारे मुखारविन्द का अधरामृत पान करना चाहता हूँ, तुम्हारी मूर्ति मेरे हृदय में विराजमान है। गोपी द्वारा चरण-स्पर्श कर नेत्रों से चरण-रज का लगाया जाना तथा अपनी भुजाओं से अपनी अँकवार भरने का अभिप्राय है कि मैं आपके चरण की रज को अपने नेत्रों में लगाना चाहती हूँ अथवा आपके चरणों की छवि को ही अपने नेत्रों में बसाना चाहती हूँ तथा आपके गाढ़ालिंगन की अभिलाषिणी हूँ।

(ख) यद्यपि पद में किसी भी अलंकार (अर्थालंकार) का प्रयोग नहीं हुआ है तथापि मम्मट की मान्यता—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"—के अनुसार यह एक उत्तम काव्य है।

(ग) भाषा सरस, सजीव, सारगर्भित और सुमधुर है।

(घ) शृंगार रस है।

मैं मन बहुत भाँति समुझायौ।
कहा करौ दरसनरस अँटक्यौ बहुरि नहीं घट आयौ।
इन नैननि कै भेद, रूपरस उर मैं आनि दुरायौ।
बरजत ही बेकाज सुपन ज्यौं, पलट्यौ नहिं जो सिधायौ।
लोक-बेद कुल निदरि, निडर ह्वै, करत आपनौ भायौ।
मुख छबि निरखि, चौंधि निसिखग ज्यौं, हठि अपुनपौ बँधायौ।
हरि कौं दोष कहा करि दीजै, यह अपनै बल धायौ।
अति बिपरीत भई सुनि 'सूरज' मुरझ्यौ मदन जगायौ॥१११॥

शब्दार्थ—बहुरि=लौटकर। घट=शरीर। बेकाज=व्यर्थ। पलट्यौ=लौटा। सिधायौ=चला गया। निदरि=निरादर करके। भायौ=अभीप्सित, मनचाहा। निसिखग ज्यौं=रात्रि के समय पक्षी की तरह। बिपरीत=अनर्थ। मुरझयौ=मुरझाया हुआ, प्रसुप्त, शान्त।

प्रसंग—अवतरित पद महाकवि सूरदास द्वारा प्रणीत 'सूरसागर' काव्य के 'रूप-माधुरी' प्रसंग से उद्धृत है। प्रस्तुत पद में कवि ने गोपियों की प्रेम-परवशता चित्रित की है।

व्याख्या—कोई सखी कहती है कि मैंने अपने मन को अनेक प्रकार से समझाया, किन्तु क्या करुँ, वह तो श्रीकृष्ण के दर्शनरूपी रस में उलझा (फँसा) हुआ है, इसलिए फिर लौटकर वह इस शरीर में नहीं आया। उसने इन नेत्रों के भेद से अर्थात् माध्यम से श्रीकृष्ण के रूप-रस को हृदय में लाकर छिपा दिया और स्वयं रोकने पर भी व्यर्थ ही स्वप्न की-सी तरह जो यहाँ से चला गया तो फिर लौटा ही नहीं। अब तो वह लोक, वेद और कुल की मर्यादाओं का उल्लंघन कर निःशंक भाव से अपने मनचाहा काम करता है और श्रीकृष्ण के मुख की छवि को देखकर तथा रात्रि के समय पक्षी की तरह उससे चौंधिया कर हठात् अपने आप उस छवि से बँध गया है। भाव यह है कि जिस समय रात्रि के समय प्रकाश-पुंज से चौंधिया कर पक्षी प्रकाश-पुंज की ओर ही आकृष्ट होकर बहेलिये के जाल में बँध जाता है उसी प्रकार मेरा मन भी मुख-छवि से आकृष्ट होकर श्रीकृष्ण के प्रेम-पाश में बँध जाता है। इस विषय में हरि को दोष भी क्या दिया जाए ? यह मन तो अपने बल-बूते पर ही उधर को दौड़ गया था। पर हे सूरज (सूरदास) सुनो। अब बड़ा अनर्थ हो गया कि हमारे हृदय में सोया हुआ कामदेव जाग्रत हो गया है।

विशेष—(क) श्रीकृष्ण का दर्शन कर लेने के अनन्तर गोपियों का मन हठात् उसी ओर आकृष्ट हो गया है और अब प्यारे कृष्ण-कन्हैया से मिलने की उत्कट अभिलाषा ने उनके हृदय में विरह-वेदना उत्पन्न कर प्रस्तुत मदन को जगा दिया है।

(ख) रूपक तथा उदाहरण अलंकार है।

(ग) भाषा सरस एवं माधुर्यगुण-युक्त है।

(घ) शृंगार रस है।

स्याम सखि नीकैं देखे नाहिं।
चितवत ही लोचन भरि आए, बार-बार पछितांहि।
कैसैहुं करि इकटक मैं राखति, नैंकहि मैं अकुलांहि।
निमिष मनौ छबि पर रखवारे, तातैं अतिहि डरांहि।

कहा करैं इनकौ कह दूषन, इन अपनी सी कीन्ही।
सूर स्याम-छबि पर मन अँटक्यौ उन सब सोभा लीन्ही ॥११२॥

शब्दार्थ—नीकैं=अच्छी तरह। नैकहि मैं=थोड़ी ही देर में। निमिष=पलक। दूषन=दोष, गलती।

प्रसंग—यह पद महाकवि सूरदास के 'सूरसागर' के 'रूप-माधुरी' प्रकरण के 'कृष्ण दर्शन' नामक प्रसंग से लिया गया है। यहाँ पर कृष्ण का एक बार दर्शन कर लेने वाली गोपी के पुनर्दर्शन के लिए मन की व्यग्रता चित्रित की गई है।

व्याख्या—हे सखि ! मैं श्रीकृष्ण को अच्छी तरह नहीं देख पायी। उनकी ओर दृष्टिपात करते ही ये नेत्र प्रेमाश्रुओं से भर आए और अब बार-बार पछताते हैं। उनका दर्शन करने के लिए मैं इन नेत्रों को किसी भी तरह निर्निमेष रखती हूँ लेकिन वे जरा-सी देर में अकुला जाते हैं। ऐसा लगता है मानो निमेष छवि के रखवाले हैं इसलिए उसका दर्शन कराते हुए अत्यन्त डरते हैं। क्या करें ? इनका कसूर ही क्या है ? इन्होंने तो अपनी-सी खूब की। किन्तु, सूरदास कहते हैं, यह मत श्रीकृष्ण की छवि पर अटका हुआ है और उन्होंने तो उनकी सारी शोभा को ग्रहण कर लिया है। भाव यह है कि श्रीकृष्ण की छवि मेरे नयनों में समायी हुई है, पर मन उनके वश में है।

विशेष—(क) प्रेम की अनन्यता तथा स्वाभाविकता का वर्णन है।
(ख) "निमिष मनौ·······डराहिं" में उत्प्रेक्षा अलंकार है।
(ग) भाषा सरस, सजीव और सुमधुर है।
(घ) श्रृंगार रस है।

आलोचनात्मक अध्ययन

(प्रश्नोत्तर रूप में)

प्रश्न १—उपलब्ध सामग्री के आधार पर सूरदास के जीवनवृत्त पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न २—अन्त:साक्ष्य और बहि:साक्ष्य के आधार पर सूरदान की जीवनी का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

प्रश्न ३—सूरदास के जीवनवृत के निर्माण में किन-किन आधारों से सहायता ली जाती है? सप्रमाण विवेचन कीजिए।

प्रश्न ४—सूरदास की जीवनी के सम्वन्ध में उपलब्ध सामग्री की प्रामाणिकता पर अपना मत दीजिए।

प्रश्न ५—अन्त:साक्ष्य तथा बहि:साक्ष्य के आधार पर सूर के जीवन की प्रमुख घटनाओं का क्रमबद्ध विवेचन कीजिए।

उत्तर—भारतीय ऋषि-मुनि, सुधारक, प्रचारक आदि प्राय: यशोलिप्सा एवं आत्म-प्रशंसा से बहुत ही दूर रहा करते थे। वे तो परमार्थ में ही आस्था रखा करते थे। वे अनन्य भक्त थे और अपने आराध्य के यशोगान में ऐसे डूब जाया करते थे कि उन्हें अपने बारे में कुछ भी कह सकने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती थी। इसी भावना का यह परिणाम निकला कि कवि लोग भी आत्मपरिचय एवं आत्मश्लाघा से पूर्णत: दूर रहे। इनकी कविता का प्रयोजन स्वान्त:सुखाय हुआ करता था। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसी तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया है—"भक्तिकाल के कवि केवल कवि ही नहीं थे, वे अपने आराध्य देव के महान् प्रेमी एवं भक्त थे। इनकी प्रेम-तन्मयता की पराकाष्ठा उच्च कोटि की थी, इन्हें जीवन भर अपने विषय में कहने का अवकाश ही न मिला। × × × यही बातें हमारे चरित्र नायक सूरसागर के रचयिता सूरदासजी के जीवन के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है।"

आचार्य वाजपेयी के कहने का अभिप्राय है कि पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इन प्राचीन कवियों के जीवन के विषय में कुछ भी कह सकना कठिन हो जाता है। महाकवि सूरदास भी इस कथन के अपवाद नहीं हैं।

इतना सब कुछ होते हुए भी हमें उनके जीवन के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती रहती है। उसीके समाधनार्थ हम यदा-कदा उन महान कवियों के जीवनवृत्त को जानने का प्रयास किया करते हैं। किसी भी कवि के जीवनवृत्त को जानने के लिए हम प्रायः दो साधनों का उपयोग किया करते हैं जो क्रमशः अन्त.साक्ष्य मौर बहिःसाक्ष्य के नाम से उच्चरित होते हैं।

(१) **अन्त.साक्ष्य**—अन्तःसाक्ष्य से अभिप्राय उस सामग्री से है जिसका उल्लेख कवि ने अपनी कृतियों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से किया हो। दूसरे शब्दों में हम इन्हें कवि के आत्म-विषयक कथन कह सकते हैं।

(२) **बहि साक्ष्य**—बहिःसाक्ष्य से अभिप्राय उस सामग्री से है जिसका उल्लेख कवि के समकालीन एवं परवर्ती कवियों, आलोचकों, टीकाकारों द्वारा किया जाता है। स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में जनश्रुतियाँ भी इस क्षेत्र में समाहित कर ली जाती हैं।

उपर्युक्त दोनों साधनों में अन्तःसाक्ष्य का जितना महत्त्व है, उतना बहिः-साक्ष्य का नहीं। बहिःसाक्ष्य में जो कुछ भी महत्त्व का हो सकता है, वह सम-कालीन विद्वानों एवं टीकाकारों का ही हो सकता है।

अन्तःसाक्ष्य—इस दृष्टि से **सूर सारावली** का एक पद, **साहित्य लहरी** के दो पद तथा **सूरसागर** के विनय सम्बन्धी अनेक पदों को हम प्रस्तुत कर सकते हैं।

बहिःसाक्ष्य—इस दृष्टि से प्रचुर उपलब्ध सामग्री को ही हम अपना आधार बनायेंगे।

उपलब्ध सामग्री का वर्गीकरण निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(१) वार्त्ता साहित्य, (२) साम्प्रदायिक साहित्य, (३) भक्त ग्रन्थ, (४) एतिहासिक ग्रन्थ, (५) जनश्रुतियाँ, (६) आधुनिक लेख, (७) खोज रिपोर्ट एवं हिन्दी साहित्य के विविध इतिहास तथा सूर-विषयक आलोचना-त्मक ग्रथ।

(१) **वार्त्ता साहित्य**—इसके अन्तर्गत निम्नलिखित सामग्रियाँ उपलब्ध हैं—

(क) **चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता।**

(ख) निजी वार्त्ता।

(ग) श्री हरिरायकृत भावप्रकाश।

(२) **साम्प्रदायिक साहित्य**—इसके अन्तर्गत निम्नलिखित सामग्रियाँ उपलब्ध हैं—

(क) वल्लभ दिग्विजय (रचयिता गोस्वामी यदुनाथ)।

(ख) भाव-संग्रह।

(ग) सम्प्रदाय कल्पद्रुम।

(घ) अष्ट सखामृत।

(ङ) वैष्णवान्हिक पद।

(च) धौल (रचयिता जमुनादास)।

(छ) संस्कृत वार्त्ता मणिमाला।

(३) **भक्त-ग्रन्थ**—इसके अन्तर्गत निम्नलिखित सामग्रियाँ आती हैं—

(क) नाभादासकृत—भक्तमाल।

(ख) प्रियादासकृत—भक्तमाल की टीका।

(ग) ध्रुवदासकृत—भक्त नामावली।

(घ) कवि मियासिंहकृत—भक्त-विनोद।

(ङ) नागरीदासकृत—नागर समुच्चय।

(च) ठा० रघुराजकृत—राम रसिकावली।

(४) **ऐतिहासिक ग्रन्थ**—इसके अन्तर्गत निम्नलिखित सामग्रियाँ आती हैं—

(क) आइने अकबरी।

(ख) मुंशियात अबुल फजल।

(ग) मुन्तखिब-उलतवारीख।

(५) **जनश्रुतियाँ**—इसके अन्तर्गत विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध कतिपय जनश्रुतियाँ आयेंगी।

(क) आधुनिक लेख, खोज रिपोर्ट एवं हिन्दी साहित्य के विविध इतिहास—

(क) **आधुनिक लेख**—(i) सूरसागर की भूमिका।

(ii) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का लेख।

(ख) खोज रिपोर्टं—नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा समय-समय पर प्रकाशित रिपोर्ट।

(ग) हिन्दी साहित्य के विविध इतिहास :

(१) गार्स द तासी कृत—इस्त्वार दै त्नालितेरा, त्यूर ऐन्दुवे ऐन्दुवे ऐन्दुस्तानी।
(२) शिवसिंह सेंगर कृत—शिवसिंह सरोज।
(३) सर जार्ज ग्रियर्सन कृत—माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान।
(४) मिश्रबन्धु विनोद।
(५) आचार्य रामचन्द्रशुक्ल कृत—हिन्दी साहित्य का इतिहास।
(६) डॉ० रामकुमार वर्मा कृत—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।
(७) डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत—हिन्दी साहित्य।

(७) सूर विषयक आलोचनात्मक ग्रन्थ—इसके अन्तर्गत विभिन्न विद्वानों द्वारा सूर के विषय में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध एवं आलोचनात्मक ग्रन्थ समाहित किये जायेंगे।

(१) श्री नलिनी मोहन सान्याल कृत—भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास।
(२) डॉ० जनार्दन मिश्र कृत—सूरदास।
(३) डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत—सूर साहित्य।
(४) डॉ० रामरतन भटनागर एवं श्रीवाचस्पति त्रिपाठी कृत—सूर साहित्य की भूमिका।
(५) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत—सूरदास।
(६) डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' कृत—सूर सौरभ।
(७) डॉ० दीनदयालु गुप्त कृत—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय।
(८) डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा कृत—सूरदास।
(९) प्रभुदयाल मीतल एवं द्वारिकादास पारीख कृत—सूर निर्णय।
(१०) आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी कृत—महाकवि सूरदास।
(११) डा० चन्द्रभान रावत कृत—सूर साहित्य : नव मूल्यांकन।

(१२) डा० हरवंशलाल शर्मा कृत—सूर और उनका साहित्य ।

जन्मकाल—सूर के विषय में अत्यधिक चिन्तन, मनन एवं शोध हो जाने पर उनके जन्मकाल, स्थान, वंश आदि के विषय में कुछ भी स्पष्टरूपेण नहीं कहा जा सकता है । अपने जन्मकाल के विषय में सूरदास जी पूर्णतया मौन हैं । परन्तु 'सूर सारावली' एवं 'साहित्य लहरी' के पदों के आधार पर प्रकारान्तर से कतिपय मनीषियों ने इनके जन्मकाल की अलग-अलग तिथियाँ निश्चित करने का प्रयास किया है । 'सूर सारावली' के निम्नलिखित पदानुसार यह सिद्ध होता है कि सूर सारावली की रचना के समय सूरदास की आयु ६७ वर्ष की थी । द्रष्टव्य—

'गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन ।'

इसी प्रकार साहित्य लहरी में भी एक ऐसा पद मिल जाता है, जो ग्रन्थ के रचनाकाल का समय बतलाता है, द्रष्टव्य—

मुनि पुनि रसन के रस लख ।
दसन गौरीनन्द को लिखि सुबल संवत पेख ।।
नन्द नन्दन मास छै ते हीन तृतीयावार ।
नन्द नन्दन जन्मते हैं बान सुख आगार ।।
तृतीय ऋक्ष, सुकर्म जोग बिचारि सूर नवीन ।
नन्द नन्दन दास रहित साहित्य लहरी कीन ।।

उपर्युक्त पद में साहित्य लहरी के रचनाकाल की ओर इंगित किया गया है । जो इस प्रकार निकलता हैं—मुनि=७, रसन अर्थात् रसना (वाक्)=१, रस=६, (षड् रस) दसन गौरीनन्द=१ ।

अंकों का क्रम सदैव विपरीत चलता है कहा भी गया है—"अंकानां वामतो गति" इस नियम से साहित्य लहरी का रचनाकाल संवत् १६१७ निकलता है । डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम' 'रसना' का अर्थ (वाक् एवं स्वाद से) दो मानते हैं । इस आधार पर इसका रचनाकाल १६२७ माना जाता है । अपने मत की पुष्टि के हेतु डा० शर्मा ने ज्योतिष का आश्रय लिया है । उनके मत में सुवल-(स्वबल) संवत् वृषभ-संवत् का पर्याय है और ज्योतिष की गणनानुसार वृषभ संवत् १६२७ में ही पड़ा था न कि १६१७ में । साहित्य

लहरी के इस पद से इतना तो कम-से-कम निश्चित ही है कि सूर संवत् १६२७ या १६१७ तक अवश्य जीवित थे।

कुछ विद्वान साहित्य लहरी के इस पद के अनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल संवत् १६०७ ही मानते हैं। उनके मतानुसार—मुनि का=७, रसन का रस से हीन=०, रस का=६, दसन गौरीनन्द का=१ अर्थ लिया गया है।

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के रचनाकाल के आधार पर ही कतिपय विद्वानों ने उनका जन्म समय संवत् १५४० निर्धारित किया है। विद्वानों का मत है कि इन दोनों ही ग्रन्थों की रचना कवि ने एक साथ ही या थोड़े-से समय के अन्तर से की होगी। इस आधार पर सूर सारावली का रचनाकाल यदि १६०७ मान लिया जाय और उस समय उनकी आयु ६७ वर्ष मानली जाय तो उनकी जन्मतिथि १६०७—६७=१५४० ठहरती है। इस तिथि को मानने वाले आचार्य शुक्ल एवं डा० रामकुमार वर्मा हैं। परन्तु मृत्यु संवत् के विषय में दोनों विद्वानों में मतभेद है। जहाँ आचार्य शुक्ल उनका मृत्युकाल सं० १६२० मानते हैं वहाँ डा० रामकुमार वर्मा सं० १३४२ मानते हैं।

शिवसिंह सरोज के रचयिता श्री शिवसिंह सेंगर के मत में भी सूरदास का जन्मकाल संवत् १५४० है। उन्होंने इस कथन का प्रतिपादन करते हुए कहा है—"सूरदास ब्राह्मण ब्रजवासी बाबा रामदास के पुत्र, बल्लभाचार्य के शिष्य सं १५४० में उत्पन्न।"[1]

डा० रामरतन भटनागर तथा श्री वियोगी हरि प्रभृति विद्वानों ने भी संवत् १५४० को ही सूरदास का जन्मकाल माना है।

इधर नयी शोधों एवं सूचनाओं के आधार पर श्री प्रभुदयाल मीतल एवं द्वारिकादास पारीख ने अपने ग्रन्थ—'सूर निर्णय' में सूर का जन्मकाल संवत् १५३५ माना है। उनका कथन है कि—"पुष्टि सम्प्रदाय में परम्परा से यह मान्यता चली आ रही है कि सूरदास श्री बल्लभाचार्य जी से आयु में दस दिन छोटे थे। आचार्य जी का जन्म दिवस संवत् १५३५ की बैशाख कृष्णा १० उपरान्त ११ रविवार निश्चित है. अतः सूरदास की जन्मतिथि संवत् १५३५ की वैशाख शुक्ल पंचमी मंगलवार हुई।"[2] इस तिथि की पुष्टि

---

१. शिवसिंह सरोज, संस्करण १९२६, पृ० ५०२।
२. सूर निर्णय, द्वि० सं० पृ० ५३।

गोकुलनाथ जी (जन्म सं० १६०८) की 'निजी वार्त्ता' तथा 'द्वारिकेशजी' के 'भाव संग्रह' से होती है।

निजी वार्त्ता—"सो सुरदास जी जब श्री आचार्यजी महाप्रभु को प्राकट्य भयो है। तब इनको जन्म भयो है। सो श्री आचार्य जी सों ये दस दिन छोटे हुते।"

भाव संग्रह—"सो सूरदास जी आचार्य जी महाप्रभुन ते दस दिन छोटे हुते।"

उपर्युक्त बहिःसाक्ष्य के अतिरिक्त अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी सूर का जन्मकाल संवत् १५३५ निश्चित हाता है। 'सूर निर्णय' के विद्वानों ने लिखा है कि—"वल्लभ सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली के इतिहास की संगति से 'सूर सारावली' का रचनाकाल सं० १६०२ स्पष्ट होता है। उस समय सूर की आयु ६७ वर्ष की थी। १६०२ में से ६७ कम कर देने से सं० १५३५ रहते हैं, अतः अन्तःसाक्ष्य से भी सूरदास का जन्म संवत् १५३५ ही सिद्ध होता है।'[१]

जन्मकाल के विषय में एक तीसरा वर्ग भी प्रचलित है जो उनका समय संवत् १५३० मानता है। इस मत के मानने वालों में बड़ौदा कालेज के संस्कृत के आचार्य श्री भट्ट जी ने महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म संवत् १५३० में माना है। उनका कहना है कि—"The evidence in support of year 1473 A. D. is earlier and stronger and can easily outweigh the evidence in support of 1479 A, D. which is decidely late and weak." वल्लभ सम्प्रदाय की मान्यतानुसार सूरदास जी महाप्रभु से दस दिन छोटे थे अतः यदि वल्लभाचार्य जी का जन्म संवत् १५३० सिद्ध हो जाता है तो यही समय अर्थात् संवत् १५३० ही सूर का माना जायगा।

परन्तु आचार्य श्री भट्ट जी का मत प्रामाणिक नहीं माना गया है। वल्लभाचार्य जी के विषय में अभी तक प्रामाणिक उपलब्ध ग्रन्थ 'वल्लभ दिग्विजय' ही है और उसमें उनका जन्मकाल संवत् १५३५ निश्चित किया गया है अतः निश्चय ही सूर का जन्मकाल भी संवत् १५३५ ही माना जायगा।

---

१. सूर-निर्णय, द्वि० सं० पृ० ५३

जन्मस्थल—सूरदास के जन्मकाल के समान ही इनके जन्मस्थल के बारे में भी विद्वानों में मत वैभिन्न्य है। इनके जन्मस्थल विभिन्न विद्वानों द्वारा निम्नलिखित माने जाते हैं—

(१) रुनकता (आगरा)
(२) सीही (दिल्ली)
(३) साही (आगरा)
(४) मथुरा प्रान्त का कोई ग्राम।
(५) गोपाचल।

(१) **रुनकता**—आचार्य शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास, डा० मुंशीराम शर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, मिश्रबन्धु, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि विद्वान सूर के जन्मस्थल के रूप में रुनकता को मानते हैं। यह रुनकता आगरा-मथुरा मार्ग पर स्थित है। दूसरे विद्वान इसे भ्रान्ति मानते हैं और इस भ्रान्ति का कारण बतलाते हुए वे कहते हैं कि सूरदासजी के गौघाट पर रहने के कारण रुनकता का भ्रम हुआ है। रुनकता का प्राचीन नाम रेणुका क्षेत्र है। रेणुका क्षेत्र रुनकता से दो मील दूर यमुना के किनारे अवस्थित है और यहाँ रेणुकाजी तथा परशुरामजी का मन्दिर है। गौ घाट भी यहाँ से थोड़ी ही दूर पर अवस्थित है।

(२) **सीही**—यह दिल्ली के समीप वल्लभगढ़ के समीप 'सीही' नामक ग्राम है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' के 'भाव प्रकाश' के अनुसार सूर का जन्मस्थल यही 'सीही' नामक ग्राम ठहरता है। यहाँ यद्यपि सूर-विषयक कोई भी स्मारक नहीं है तो भी यह जनश्रुति प्रचलित है कि सूरदास का जन्म यहीं हुआ था। इसके साथ ही साथ यह जनश्रुति भी प्रचलित है कि जन्मेजय ने इसी स्थान पर सर्प-यज्ञ किया था।

(३) **साही (आगरा)**—सीही की लोकप्रियता को देखकर कतिपय विद्वान आगरा के समीपस्थ 'साही' नामक ग्राम को सूर का जन्मस्थल मानने लगे हैं। यहाँ पर कुछ वर्षों से सूर जयन्ती समारोह भी मनाया जाने लगा है।

(४) **मथुरा प्रान्त का कोई ग्राम**—सूर-विषयक लीलाओं का वर्णन करने के कारण अधिकांश विद्वान सूर का जन्म-स्थल ब्रज-प्रदेश में ही मानते हैं।

'भक्त विनोद' के रचयिता मियासिंह ने सूरदास का जन्मस्थल मथुरा प्रान्त ही निश्चय किया है, उनका कथन है—

'मथुरा प्रान्त विप्रवर गेहा,
भो उत्पन्न भक्त हरि नेहा।

चौरासी वैष्णवन की वार्ता में भी सूरदास का स्थल गौघाट माना गया है—

'सो गऊघाट ऊपर सूरदास जी को स्थल हुतो।'

(५) **गोपाचल**—साहित्य लहरी के एक पद में ग्रन्थ के रचयिता का वंश-परिचय दिया गया है जिसमें उनके पिता का नाम आगरा के समीप गोपाचल नामक स्थान में माना गया है—

आगरे रहि गोपाचल में रह्यो ता सुत वीर।
पुत्र जन्मे सात ताके महा भट गम्भीर॥
× × ×
भयो सप्तो नाम सूरज चन्द मन्द निकाम।

परन्तु इस पद से यह सिद्ध नहीं होता है कि सूरदास का जन्म भी उसी समय हुआ था। जबकि उनके पिता गोपाचल में निवास करते थे डा० प्रेम-नारायण टण्डन के मत में गोपाचल का अर्थ गोवर्द्धन या ग्वालियर से हो सकता है।

निष्कर्ष—निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि डा० दीनदयालु गुप्त, डा० हरवंशलाल आदि के मत में सूर का जन्मस्थल सीही नामक ग्राम ही है। डा० सत्येन्द्र ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए अपने ग्रन्थ 'सूर की झाँकी' में कहा है कि—"जब तक अन्यत्र कोई बाह्य-अन्तःसाक्ष्य से पुष्ट अन्य स्थान उद्घटित नहीं होता, यह दिल्ली वाली सीही ही सूर का जन्म स्थान रहेगी। यह सीही वल्लभगढ़ के स्टेशन के पास है। यहाँ जन्मेजय के नागयज्ञ के अवशेष भी प्राप्त होते हैं। इस सीही का उल्लेख अकबरकालीन ऐतिहासिक प्रमाणों में भी मिलता है।"

वंश परिचय (अ) जाति—सूर किस जाति के थे, उनके माता पिता का क्या नाम था, इस बारे में भी विद्वानों में मतभेद है। साहित्यिक लहरी का निम्नलिखित पद द्रष्टव्य है--

प्रथम ही पृथु जगाते भे प्रकट अद्भुत रूप।
ब्रह्मराव बिचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप।।
तासु वंस प्रसंस में भौ चन्द चारन नवीन।
भूप पृथ्वीराज वीन्हों दिन्हें ज्वाला देस।।

उपर्युक्त पद के अनुसार सूर पृथ्वीराज के कवि चन्दवरदाई के वंशज ब्राह्मण भट्ट थे। चन्दकवि के कुल में हरीचन्द नाम के एक व्यक्ति हुए जिनके सात पुत्र थे उनमें से सबसे छोटे पुत्र का नाम सूरजदास या सूरदास था। इस मत का समर्थन करने वाले विद्वानों में सर जार्ज ग्रियर्सन, मुंशी देवी प्रसाद तथा एन्साइक्लोपीडिया आव ब्रिटेनिका के सम्पादक भी हैं। इतना ही नहीं, आगरा का 'एजुकेशनल गजट' एवं 'कल्याण' का योगांक भी उन्हें चन्द का ही वंशज घोषित करते हैं।

'चौरासी वैंष्णवन की वार्त्ता' में सूर की जाति का कोई उल्लेख हमें नहीं मिलता है। परन्तु पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय के अन्तर्गत उन्हें सारस्वव ब्राह्मण माना गया है। 'भावप्रकाश' के रचयिता गोसाईं हरिराम तथा 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' के रचयिता डॉ० दीनदयालु गुप्त ने भी इन्हें सारस्वत ब्राह्मण माना है। किन्तु अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उनकी जाति के विषय में कोई निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि यदि वे ब्राह्मण होते तो कम से कम ब्राह्मण जाति का इतना तिरस्कार न करते; यथा—

बाँभन मारैं नहीं भलाई
जर्बाहि बाँभन हरि ढिग आयौ।
महराने हैं पांडे आयो।

सूर का मत है कि ईश्वर भक्ति में जाति-पांति कोई बन्धन नहीं है अतः जाति के विषय में वे उदासीन थे।

दूसरे वर्ग के विद्वान् साहित्य लहरी के 'प्रथम ही पृथु जगाते' वाले पद को प्रक्षिप्त मानते हुए कहते हैं कि सूर 'ढाढी'' या जंगा' जैसी निम्न जाति के थे। इस मत के मानने वालों में डॉ ब्रजेश्वर वर्मा आदि प्रमुख हैं। उन्होंने अपने मत की पुष्टि हेतु कुछ पद प्रस्तुत किये हैं ;यथा—

(१) हौं तौ तेरे घर की ढाढी, सूरदास मोहिं नाऊँ ;

(·) नन्द उदै सुनि आयो हो, वृषभानु कौ जगा ।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सूर की जाति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, सर्वसम्मत मत कोई भी नहीं है । अतः हम कह सकते हैं सूर कृष्ण के अनन्य भक्त थे चाहे उनकी जाति कोई भी क्यों न रही हो ।

(आ) पिता—अन्य बातों के समान ही सूरदास के पिता के नाम के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है । पिता के नाम के विषय में अन्तःसाक्ष्य तो कोई उपलब्ध ही नहीं होता है । बहिःसाक्ष्य में केवल 'आइने अकबरी में ग्वालियर निवासी रामदास का नाम मिलता है और उनके एक पुत्र का नाम सूरदास । इसी आधार पर कुछ विद्वानों को यह भ्रम हुआ कि सूरदास के पिता का नाम रामदास ही होगा । वस्तुतः यह असत्य बात है, क्योंकि प्राप्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि सूर कभी भी अकबर के दरबार में नहीं रहे, अपितु उन्हें तो अकबर ने बुलाया था जिस पर सूर ने कह दिया था—'संतन कहा सीकरी सों काम ।' अतः 'आइने-अकबरी' में उल्लिखित रामदास हमारे कवि सूरदास के पिता नहीं हो सकते वे कोई अन्य सूरदास के पिता होंगे ।

गुरु-दीक्षा—सूर की वल्लभामाचर्य जी से भेंट का वर्णन'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' में मिलता है, जो इस प्रकार है—"तब सूरदासजी अपने स्थल में आयकै श्री आचार्य जी महाप्रभू के दर्शन को आये, तब श्री आचार्य जी प्रभून ने कह्या जो सूरदास आवो बैठो । तब सूरदासजी महाप्रभून के दर्शन करिकै आय बैठे ।" तत्पश्चात् आचार्य जी ने इनसे कुछ गाने के लिए कहा तो सूर ने ये पद सुनाये—

प्रभु हों सब पतितन को टीकौ ।
और पतित सब दिवस चारि के हौं तो जनमत ही कौ ।।

इसी प्रकार के अन्य दैन्य भावनाओं से ओत-प्रोत पदों को सुनकर आचार्य जी ने कहा—'सूर ह्वै कै ऐसौ काहे को घिघियात हो, कुछ भगवत लीला वर्णन करौ ।" कहा जाता है इसके पश्चात् वल्लभाचार्यजी ने उन्हें पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया तथा उन्हें कृष्णलीलाओं से परिचित कराया ।

कुछ काल उपरान्त वल्लभाचार्य जी सूर को ब्रज ले गए और वहां गोवर्धन पर्वत के श्री नाथ जी के मन्दिर के कीर्तन का भार इन्हें ही सौंप आये। यहीं रहकर सूरदास ने सहस्रों पदों का निर्माण किया। कालान्तर में ये अष्टछाप के सर्वश्रेष्ठ कवि माने गए।

निधन—सूरदास जी के निधन की तिथि के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है। आचार्य शुक्ल एवं मिश्र बन्धुओं के मतानुसार सूर का निधनकाल सं० १६२० है। अधिकांश विद्वानों के मतानुसार सूर का निधन काल संवत् १६४० ठहरता है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने सूर का निधन काल सं १६४२ माना है। पुष्टि सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार सूर का निधन गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के निधन के ही आस-पास हुआ होगा, क्योंकि सूर की मृत्यु के समय गोस्वामी विट्ठलनाथजी का जीवित होना सूचित होता है। कहा जाता है कि सूरदास के शरीरान्त होने के कुछ समय पूर्व श्री विट्ठलनाथ जी उनसे मिलने पहुँचे थे उस समय सूर ने यह पद गाया था—

> भरौसो दृढ़ इन चरनन केरौ।
> श्री वल्लभ नख चन्द छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो॥

आचार्य विट्ठलनाथ जी का निधन सं० १६४२ में हुआ था। अतः सूर का निधन निश्चय ही सं० १६४० के आस-पास हुआ होगा। सूरदास की इहलीला गोवर्द्धन के समीप पारसौली ग्राम में ही समाप्त हुई थी।

प्रश्न ६—सूर की जन्मान्धता के विषय में आपका क्या मत है?

प्रश्न ७—'भावप्रकाश' के रचयिता श्रीहरिराय ने कहा है कि—"सूरदास जी के जन्मत ही सों नेत्र नाहीं हैं।" —सूरसागर में उपलब्ध अन्तः साक्ष्य द्वारा इस कथन की पुष्टि कीजिए।

प्रश्न ८—सूर को जन्मान्ध कहा गया है। इस कथन के पक्ष में आप अपना मत दीजिए।

उत्तर—सूर के जीवन की अन्य घटनाओं के सदृश ही उनका अन्धत्व भी मतवैभिन्न्य लिये हुए है। विद्वानों का एक वर्ग जहाँ उन्हें जन्मान्ध सिद्ध करता है वहाँ दूसरा वर्ग इस बात का पक्षपाती है कि वे जन्म से ही अन्धे न होकर कालान्तर में (संभवतः वृद्धावस्था में) अन्धे हुए होंगे।

सर्वप्रथम हम द्वितीय वर्ग के विद्वानों के मतों को ही प्रस्तुत करना चाहेंगे।

१. नलिनी मोहन सान्याल के मतानुसार—"उनके काव्य से ज्ञात होता है कि संभवतः वह जन्मान्ध नहीं थे और पीछे अन्धे हो गये, ऐसा अनुमान होता है।"

२. मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी 'नवरत्न' में लिखा है कि—"सूरदास ने अपनी कविता में ज्योति के रंगों के और अनेकानेक हाव-भावों के ऐसे मनोरम वर्णन किए हैं तथा उपमाएँ ऐसी चुभती हुई दी हैं जिससे यह किसी प्रकार निश्चय नहीं होता कि कोई व्यक्ति बिना आँखों देखे, केवल श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञान से ऐसा वर्णन कर सकता है।"

३. डॉ० श्यामसुन्दरदास जी के शब्दों में "सूर वास्तव में जन्मान्ध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग-रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है, वैसा कोई जन्मान्ध नहीं कर सकता।"

४. डॉ० बेनीप्रसाद के शब्दों में, "प्राकृतिक दृश्य का अनुपम चित्र-चित्रण किसी प्रकार यह नहीं मानने देता कि वे जन्म से अन्धे थे। मिल्टन की तरह अवस्था बढ़ने पर ही वे नेत्र विहीन होगये थे।"

५. श्री वियोगी हरि के शब्दों में—"सूरदास जी जन्मान्ध नहीं थे, पीछे अन्धे होगए थे।"

६. डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के शब्दों में—यदि सूरदास को जन्मान्ध माना जाये तो इस विचार और तर्क के युग में भी हमें चमत्कारों पर विश्वास करना पड़ेगा।"

७. डॉ० रामरतन भटनागर के शब्दों में—"जहाँ-जहाँ कवि ने अपने पदों में नेत्र विहीनता का उल्लेख किया है। वहाँ-वहाँ अपनी वृद्धावस्था का भी उल्लेख किया है, इससे वे वृद्धावस्था में नेत्र विहीन हुए जान पड़ते हैं।"

८. डॉ० दीनदयालु गुप्त के शब्दों में—"एक ओर के बाह्य प्रमाण सूर को जन्मान्ध कहते हैं और दूसरी ओर यदि हम उनकी रचनाओं को अन्ध-विश्वास की आँखों को हटाकर साधारण बुद्धि की आँख से देखें तो हमें उनके

स्वाभाविक और सजीव भाव-चित्रों और वर्णनों के सहारे ज्ञात होगा कि कवि ने संसार के रूप-रंग को किसी अवस्था में अवश्य देखा होगा। बाह्य प्रमाण विरुद्ध होते हुए भी यदि यह मान लिया जाय कि सूरदास अपनी बाल्य-अवस्था में ही अन्धे हो गए थे तो इसमें सूर का महत्त्व कुछ कम नहीं होता। उनकी कल्पना-शक्ति इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि जिस संसार को उन्होंने अपरिपक्व बुद्धि से बाल्य-अवस्था में देखा, उसी को अन्धे होने पर अपनी कल्पना-शक्ति, अनेक ग्रन्थों के श्रवण द्वारा उपार्जित ज्ञान और अपनी कुशाग्र स्मरण-शक्ति के सहारे "प्रौढ़ और सजीव रूप में चित्रित कर सके।"

९. डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—"सूरदास की रचनाओं में प्रकृति का और मनुष्य के भावों के उतार-चढ़ाव का जैसा सूक्ष्म चित्रण है उसे देखकर यह कहने का साहस नहीं होता कि सूरदास ने बिना आँखों के देखे केवल कल्पना से यह सब लिखा है।"

१०. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"सूरदास का साहित्य कभी जन्मान्ध व्यक्ति का लिखा साहित्य नहीं हो सकता।"

११. डॉ० रामकुमार वर्मा ने—"सूर कहा कहि दुविध आँधिरौ बिना मोल को चेरौ" इस पद के आधार पर कहा है कि—'सूर ने दुविध आँधिरौ" का अर्थ चर्म-चक्षु ओर मानस चक्षु लिया है। इससे यह ज्ञात नहीं होता कि सूरदास जन्म से ही अन्धे थे पर इतना स्पष्ट है कि वे मृत्यु के समय अवश्य अन्धे हो गए थे।"

१२. 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' में सूर के दीक्षा लेने के प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि उस समय उनके नेत्र थे; यथा—'तब सूरदासजी अपने स्थल तें आयकैं श्री आचार्यजी महाप्रभु के दर्शन को आए तब श्री आचार्यजी प्रभुननैं कह्यौ जो सूरदास आवो बैठो। तब सूरदास श्री आचार्यजी महाप्रभु के दर्शन करि कैं आगे आय बैठे।"

१३. **कतिपय किंवदंतियाँ**—सूरदास के कालान्तर में अंधे होने के विषय में कतिपय किंवदंतियाँ भी प्रचलित हैं; यथा—एक किंवदंती यह है कि 'सूरदास ग्रीष्म ऋतु की दोपहरी में कहीं जा रहे थे। मार्ग में जब उन्हें अत्यधिक प्यास लगी तो वे एक कुएँ पर पहुँचे, वहाँ पर एक सुन्दरी कुएँ से

पानी खींच रही थी। सर्वप्रथम तो सूरदास ने उससे पीने को पानी माँगा और जब उसने पानी पिला दिया तो सूर उसके रूप-लावण्य पर मोहित हो उसके पीछे चल दिए। कुछ समय पश्चात् उसके मन में ग्लानि उठी और चाकू माँग कर अपने नेत्र फोड़ लिये।

द्वितीय किंवदन्ती यह है कि सूरदास के छह भाई थे जो मुसलमानों से युद्ध करते हुए मारे गए। सूरदास ने इसके पश्चात् वैराग्य ले लिया। वे कृष्ण के प्रेम में डूब गए और एक दिन भ्रमण करते हुए किसी कुएँ में जा गिरे। उस कुएँ से श्रीकृष्ण ने उन्हें निकाला और अपने दर्शन दिए। इसके पश्चात् उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण से यह वर माँग लिया कि जिन नेत्रों से मैंने आपकी इस रूप माधुरी का दर्शन किया है उससे अब पुनः मैं संसार को न देखूँ।

सूर की जन्मान्धता — दूसरे वर्ग के विद्वानों ने सूर को जन्मान्ध बनाने का प्रयास किया है।

सूर की जन्मान्धता के विषय में बाह्य एवं अन्तः दोनों ही साक्ष्य उपलब्ध होते हैं।

बाह्य साक्ष्य — (१) गोस्वामी हरिरामजी ने अपने 'भाव-प्रकाश' में सूरदास के जन्मान्ध स्वरूप की पुष्टि करते हुए कहा है — "सो सूरदासजी के जन्मत ही सो नेत्र नाहीं हैं और नेत्रन को आकार गढेला कछु नाहीं ऊपर भोंह मात्र हैं सो या भाँति सो सूरदासजी को स्वरूप है। जन्म पाछे नेत्र जायँ तिनको आँधरो कहिए, सूर न कहिए और ये तो सूर हैं।"

परन्तु गोस्वामीजी का यह कथन किंवदन्ती पर ही आधारित है; इसके लिए कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।

(२) इसी प्रकार का मत श्री नाथ भट्ट ने 'संस्कृतवार्त्ता-मणिमाला' में प्रस्तुत करते हुए कहा है— "जन्मान्धो सूरदासोऽभूत्।" यह विश्वास भी धार्मिकता का पुट लिए हुए है इसमें तर्क एवं विवेक को कोई स्थान नहीं है।

(३) भक्तमाल के रचयिता श्री नाभादासजी ने भी सूर के जन्मान्ध होने का मत प्रतिपादित किया है —

प्रतिबिम्बित दिवि दृष्टि हृदय हरि लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी।।

(४) भक्तमाल के टीकाकार महाराज रघुराजसिंह ने अपनी 'राम रसिकावली' में उपर्युक्त पंक्तियों की टीका करते हुए कहा है—

'जन्मत ते हैं नैनविहीना, दिव्यदृष्टि देखहि सुख भीना।'

(५) इसी प्रकार 'भक्त-विनोद' के रचयिता मियासिंह ने भी कहा है—

जनम अंध दृग ज्योति विहीना। जननि जनक कछु हरष न कीना।

अन्तःसाक्ष्य—बाह्य साक्ष्य के समान ही कतिपय अन्तःसाक्ष्य भी उपलब्ध हैं जिनसे सूर की जन्मान्धता सिद्ध होती है।

अन्तःसाक्ष्य के रूप में हमें उनकी रचनाओं के ही पदों को उद्धृत करना होगा।

१. रास रस रीति नहि वरनि आवैं।
यहै माँगौ बार-बार, प्रभु सूर के नयन द्वै रहे, नर देह पाऊँ।

२. किन तेरो गोंविन्द नाम धर्‌यो।
सान्दीपनि के सुत तुम ल्याये, जब विद्या जाय पढ्यौ।।
× × × ×
सूर की बिरियाँ निठुर होइ बैठे, जन्म अन्ध कर्‌यौ।।

३. हरि बिनु संकट में को काकौ।
तुम बिनु दीनदयाल कृपानिधि, नाम लेहुँ धौं काकौ।।
× × × ×
कोटि कोटि तुम पतित उधारे कह दूँ कथन कहाँ कौ।
रह्यौ जात एक पतित जनम कौ आँधरौ सूर सदा कौ।।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरदास अन्धे तो अवश्य थे परन्तु वे किस अवस्था में जाकर अन्धे हुए, इसका अभी तक कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका है। उनके जन्मान्ध होने के सम्बन्ध में कोई भी विशेष प्रमाण नहीं मिल सका है, इसके साथ ही सूर ने जिस रूप-रंग का चित्रण अपने काव्य में किया है, उसका वर्णन कोई भी व्यक्ति बिना अपने चर्म-चक्षुओं के देखे कर नहीं सकता है।

प्रश्न ९—सूरदास जी की कृतियों की प्रामाणिकता पर प्रकाश डालिये ।

प्रश्न १०—सूरदासजी के ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर अपने विचार प्रकट कीजिए ।

प्रश्न ११—आधुनिक शोधों के आधार पर सूरदासजी के ग्रन्थों का उल्लेख कीजिए एवं उनका संक्षिप्त वर्णन दीजिए ।

उत्तर - सूरदास जी निःसन्देह एक महान् भक्त एवं कवि थे। परन्तु उनके द्वारा कितने ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, इस पर विद्वानों में मत वैभिन्नय है। काशी नागरी प्रचरिणी सभा की खोज रिपोर्टों से अनुमार सूर कृत १६ ग्रन्थ हैं—१. सूरसागर. २. साहित्य लहरी, ३ सूर सारावली, ४. दशमस्कंध टीका, ५. पद संग्रह, ६. गोवर्धन लीला बड़ी, ७. नागलीला, ८. भागवत् भाषा, ९. प्राण प्यारी, १०. व्याहलो, ११. सूरसागर, १२. सूर पच्चीसी, १३. सूरसागर के स्फुट पद, १४. नल दमयन्ती, १५. रामजन्म तथा १६. एकादशी माहात्म्य ।

इनके अतिरिक्त नवीन शोधों, इतिहास ग्रन्थों एवं पुस्तकालयों में सुरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर नौ और नयी रचनाओं की सूचना उपलब्ध हुई है जो इस प्रकार है—१. कबीर, २. भंवर गीत ३. राधा रस केलिकौतुहल, ४. सूर साठी, ५. हरिवंश टीका, ६. दानलीला ७ मानलीला (मान सागर), ८. सूर रामायण, तथा ९. सेवा फल ।

इस प्रकार कुल उपलब्ध सूचना पच्चीस ग्रन्थों की है। परन्तु जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं इनकी संख्या के बारे में विद्वानों में मत भेद हैं।

कतिपय विद्वानों के मत अब हम प्रस्तुत करना चाहेंगे—

१: **डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा** के मतानुसार केवल सूरसागर ही प्रामाणिक रचना है। शेष अन्य नहीं ।

२. **डॉ० हरवंश लाल शर्मा** ने यद्यपि सूर के उपरिवर्णित पच्चीस ग्रन्थों का ही उल्लेख किया है परन्तु उनकी भी दृष्टि में सूर सागर, सूर सारावली और साहित्य लहरी ही प्रामाणिक कृतियाँ हैं।

३. **आचार्य शुक्ल** ने भी सूर सागर, सूर सारावली एवं साहित्य लहरी को ही प्रामाणिक रचना माना है।

४. **डॉ० राम कुमार वर्मा** ने सूरकृत १६ ग्रन्थों की चर्चा की है। जिनमें से पूर्ण प्रामाणिक तो केवल सूरसागर ही माना गया है। अन्य ग्रन्थों को वे सूरसागर का ही अंश मानते हैं।

५. सूर निर्णय के दो विद्वान् लेखकों प्रभुदयाल मीतल एव पारीख जी ने केवल ७ कृतियों का ही अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। जो इस प्रकार हैं—१. सूरसागर, २. सूर सारावली, ३. साहित्य लहरी, ४. सूर साठी, ५. सूर पच्चीसी, ६. सूर के स्फुट पद एवं ७. सेवाफल।

सूर की इन रचनाओं को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कतिपय विद्वान तो भागवत भाषा, गोवर्धन लीला, भँवरगीत, व्याहलो, सूर-शतक, सूरसागर-सार, सूर-रामायण, मान लीला, दानलीला आदि को सूर-सागर का ही अंश मानते हैं। डॉ० मोतीचन्द्र नल-दमयन्ती को सूरकृत मानते ही नहीं है। इसी प्रकार डॉ० जनार्दन मिश्र के मतानुसार-एकादशी माहात्म्य और रामजन्म भी सूर की रचनायें नहीं हैं।

इस प्रकार समग्र रूप से विवेचना करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि सूर की प्रामाणिक रचनायें केवल तीन ही ठहरती हैं जो क्रमशः—सूरसागर, सूर सारावली और साहित्य लहरी क नाम से जानी जाती हैं।

१. **सूर सारावली**—यह सूर की श्रेष्ठ पुस्तक है। परन्तु इसकी प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों मत भेद है। डॉ० मुन्शी राम शर्मा, डॉ० दीनदयालु गुप्त, डॉ० हरवंश लाल शर्मा, तथा सूर निर्णय के लेखक इस कृति को प्रामाणिक मानते हैं। इस रचना को प्रामाणिक मानने वालों में डॉ० गोवर्धन नाथ शुक्ल एव डॉ० मनमोहन गौतम का भी नाम आता है। इस कृति को अप्रामाणिक मानने वालों में डॉ० व्रजेश्वर वर्मा एवं डॉ० प्रेमनारायण टण्डन प्रमुख हैं।

सूर सारावली एक प्रामाणिक कृति—डॉ० गोवर्धन नाथ शुक्ल का कथन है कि—"वस्तु, भाव, भाषा और शैली तीनों दृष्टियों से सारावली

के सूरकृत होने में संदेह नहीं रह जाता। भाषा की दृष्टि से विचार करें तो सूरसागर और सारावली की भाषा बहुत कुछ मिलती है। सागर के के कृष्ण जन्म प्रसंग की पंक्तियाँ सूर सारावली की कृष्ण जन्म की पंक्तियों से बहुत मेल खाती हैं। इसके अतिरिक्त ब्रज वर्णन, ढाढ़ी, पूतनावध, चन्द्र-दर्शन बूढ़े बाबू दर्शन, नन्द निकेत, गण लीला, कनक, कमल, भ्रमर गीत ....आदि प्रसंगों में पंक्तियाँ की पंक्तियाँ मिलती हैं।'

डॉ० मुन्शीराम शर्मा भी सारावली को सूर सागर की ही छाया मानते हैं। थोड़ा बहुत हेर फेर अवश्य है शेष सब वही का वही। आपका कथन है कि सूर सागर के प्रथम पद और सारावली एक पद बिलकुल एक से ही हैं कहीं-कहीं थोड़ा बहुत शाब्दिक परिवर्तन एवं स्थान परिवर्तन अवश्य हो गया है। आपके मत में—"पद वही है जो सूरसागर के प्रथम स्कंध के प्रारम्भ में पाया जाता है। शब्दों में थोड़ा सा परिवर्तन है। सूर-सागर में पद की टेक है 'चरण-कमल बन्दौ हरि राई' और सारावली के पद की टेक है, 'वन्दौ श्री हरिपद सुखदाई।' अन्तिम पंक्ति में भी शब्दों का थोड़ा सा परिवर्तन है परन्तु यह पद सारावली का प्रथम पद नहीं है ....।''

डॉ० गोवर्धन नाथ शुक्ल ने एक स्थान पर सारावली को सूरसागर का संक्षिप्त रूप मानते हुए कहा है कि—'जिस प्रकार अठारह हजार श्लोक वाले श्रीमद्भागवत महापुराण को सुविधा की दृष्टि से आचार्य ने 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' के २५६ श्लोकों में बाँध दिया, उसी प्रकार सहस्रावधि (लक्षावधि) पद वाले अपने सागर को भी सूर ने सारावली के ११०७ युग्मों में संक्षिप्त कर दिया है।" इसी प्रकार डॉ० दीन दयाल गुप्त ने सूर सारावली को सूर सागर की एक भूमिका मानते हुए कहा है कि—"सारावली सूरसागर की एक भूमिका ही है।" इसी मत का पल्लवन करते हुए डॉ० मनमोहन गौतम ने कहा है कि—"सूरसागर की अपेक्षा इसकी रचना में कवि ने श्रीमद्भागवत और पुरुषोत्तम सहस्रनाम का आधार अधिक लिया, यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से तो सूरसागर का भी मूल भागवत् ही है। इसलिये तत्व रूप में यह ग्रन्थ सूरसागर का पूरक है। इसलिये सूरसागर के सम्पादन के पश्चात् सूरदास जी ने सूर सारावली को सूर सागर के आरम्भ में ही स्थान दिया।"

सूर-सारावली एक अप्रामाणिक रचना

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा तथा डा० प्रेमनारायण टण्डन ने सूरसागर एवं सूर-सारावली के भावपक्ष और कलापक्ष की तुलना करके यह सिद्ध किया है कि सारावली एक अप्रामाणिक रचना है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के मतानुसार तो सूर सारावली की कोई प्राचीन हस्तलिखित प्रति आज तक उपलब्ध नहीं हुई है। यह रचना स्वतंत्र रूप में अलग से न होकर बम्बई एवं लखनऊ से प्रकाशित सूरसागर की प्रतियों के आरम्भ में मिलती है। लेकिन यह किस हस्तलिखित प्रति का आधार है इसका कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इतना ही नहीं सूरसारावली की कथावस्तु भी सूरसागर से भिन्नता लिये हुये हैं। इन्हीं सब बातों को व्यक्त करते हुये डॉ० वर्मा ने कहा है कि "यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि कथावस्तु भाव, भाषा, शैली और रचना के दृष्टिकोण के विचार से 'सूर सारावली' सूरदास की प्रामाणिक रचना नहीं जान पड़ती।"

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा एव डॉ० टण्डन द्वारा सूर सारावली को एक अप्रामाणिक रचना माने जाने पर भी अधिकांश विद्वानों का मत उसे एक प्रामाणिक कृति मानता है। वस्तुतः सूरसारावली सूरसागर का ही सार है। डॉ० गोवर्धन नाथ शुक्ल के मतानुसार—'वस्तु, भाव भाषा और शैली तीनों दृष्टियों से सारावली के सूरकृत होने में सन्देह नही रह जाता।" इसकी रचना सं० १६०२ में हुई थी और यह ११०७ युग्मों में रचित है।

साहित्य लहरी—इस ग्रन्थ में ११८ पद हैं। यह सूरसागर का एक अंश सा जान पड़ती है। यत्र तत्र कुछ ऐसे भी पद हैं जिनका वर्ण्य विषय सूरसागर से मेल नहीं खाता है। वस्तुतः यह एक शास्त्रीय ग्रन्थ है जिसमें नायिका भेद के अन्तर्गत स्वकीया, परकीया, प्रौढ़ा, मुग्धा आदि का, अलंकारों के अन्तर्गत दृष्टान्त, निदर्शना, सहोक्ति, विनोक्ति, व्यतिरेक आदि का तथा साथ ही रस निरूपण आदि के उदाहरण देते हुये विभिन्न पद प्रस्तुत किये गये हैं।

इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० दीनदयालु गुप्त, डॉ० मुन्शीराम शर्मा, प्रभुदयाल मीतल, डॉ० चन्द्रभान रावत आदि विद्वान जहाँ इसे सूरकृत रचना मानते हैं वहाँ डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा इसे सूरकृत नहीं मानते हैं।

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के मतानुसार—"साहित्य लहरी में तो भक्ति भाव भी नहीं है। उसका उद्देश्य तो एक विशिष्ट गूढ़ शैली में नायिका भेद और अलंकार आदि काव्यांगों के लक्षण तथा उदाहरण देना है। ... .साहित्य लहरी की रचना सूरसागर के कवि सूरदास ने की ही नहीं। कृष्णदास या नन्ददास के लिये रचे जाने अथवा काव्यांगों के लक्षण उदाहरण देकर भक्ति काल के भाव प्रधान वातावरण में रीतिकालीन जैसी असमर्थ और शिथिल रचना कर डालने का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिये।" डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के मत के विपरीत डॉ० मुंशीराम शर्मा, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० दीन दयालु गुप्त आदि ने इसे सूर कृत माना है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि साहित्य लहरी सूरकृत है। सूर ने अपने दार्शनिक तथ्यों को स्पष्ट करने के लिये ही सम्भवत: इस ग्रन्थ का प्रणयन किया हो। साहित्य-लहरी की यह पंक्ति इस कथन का समर्थन करने वाली है—

"नन्द नन्दनदास हित साहित्य लहरी कीन।" अर्थात् इस साहित्य लहरी की रचना नन्द नन्दनदास के लिये की गई है। नन्द नन्दनदास का तात्पर्य कृष्ण भक्त से ही है। कहने का आशय यह है कि सूर ने इस ग्रंथ की रचना कृष्ण भक्तों को ही रससिक्त करने के लिये की है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में "साहित्य लहरी ११८ कूटपदों का संग्रह है, जिनमें किसी अलंकार, नायिका, या भाव का उल्लेख करके कूटशैली में अनेक उदाहरण दिये गये हैं।" डा० नगेन्द्र के शब्दों में "साहित्य लहरी दृष्टकूट और चित्रालंकारों का चक्रव्यूह है इसलिये एक तरह से वह रीति के अन्तर्गत अलंकार परम्परा में आता है।" कुछ भी हो यह एक प्रामाणिक रचना है।

सूरसागर—यह कृति वस्तुत: सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक है। यह एक ग्रन्थ नहीं अपितु कई ग्रन्थों का संग्रह है इसकी दो प्रकार की प्रतियाँ मिलती हैं। एक प्रकार की प्रतियों में विविध पदों का संग्रह मिलता है तो दूसरे प्रकार की प्रतियों में सम्पूर्ण कथा द्वादश स्कन्धों में विभक्त है। संग्रहात्मक पदों का भी विभाजन पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के रूप में किया गया है। पूर्वार्द्ध में जो पद उपलब्ध होते हैं उनका क्रम निम्नलिखित प्रकार से है—

(१) विनय, वैराग्य, गुरु महिमा, सत्संग आदि के पद।
(२) बाल लीला सम्बन्धी पद।
(३) प्रेम लीला ,,
(४) दान लीला ,,
(५) मान लीला ,,
(६) छोटी मान लीला ,,
(७) विरह लीला ,,
(८) दो भ्रमर गीत ,,
(९) श्रीमद् भागवत कथा का अनुवाद

इसके उत्तरार्द्ध में नन्द-यशोदा एवं राधा-माधव मिलन विषयक पदों का संग्रह है। इसमें कृष्णलीला के प्रेममय रूप का ही अंकन किया गया है। यह वर्गीकरण भागवत् के दशम स्कन्ध के अनुसार है। ये प्रतियाँ प्राचीन हैं।

द्वितीय प्रकार के वर्गीकरण में यह रचना द्वादश स्कन्धों में विभक्त है। जिसमें कुल ४९३६ पद हैं। परिशिष्ट भाग में ४७३ और पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में ५४०९ पद हैं। यह पद संख्या नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित सूरसागर की है। इसके द्वादश स्कन्धों को देखकर ही कुछ लोग इसे भागवत् का अनुवाद मानने लगते हैं जो ठीक नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण भागवत् की कथाओं की इसमें सम्भावना नहीं है इसके अतिरिक्त इसमें कुछ ऐसी घटनायें एवं लीलायें भी हैं जिनका भागवत् में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता" के अनुसार सूरदास जी ने सहस्रों पद रचे थे। किम्वदन्ती यह है कि सूरदास ने सवालाख पदों का निर्माण किया है परन्तु अभी तक जो पद उपलब्ध हुये हैं उनकी संख्या लगभग पाँच हजार के आसपास ही ठहरती है।

सूर सागर में एक पद मिलता है—

व्यास कहे शुकदेव सों द्वादस स्कन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ॥

अर्थात् सूरदास ने उन्हीं द्वादश स्कन्धों की कथा को अपने ग्रन्थ में गाया है जिनको कि उसने व्यास और शुकदेव से सुना था।

सूर सागर के द्वादश स्कन्धों का वर्ण्य-विषय निम्न प्रकार है—

प्रथम स्कन्ध—इसके अन्तर्गत प्रारम्भ में विनय और मंगला चरण है तत्पश्चात् शुकदेव की जन्म कथा। फिर कौरव-पाण्डवों आदि का वर्णन।

द्वितीय स्कन्ध—इसके अन्तर्गत नाम, सत्संग-महिमा, भक्ति-वैराग्य आदि के वर्णन के पश्चात् ब्रह्मा जी की उत्पत्ति का उल्लेख है।

तृतीय स्कन्ध—इसके आदि में शुकदेव जी का प्रवचन तत्पश्चात् उद्धव प्रायश्चित, स्वयंभूमनु-उत्पत्ति, वाराह-अवतार आदि का उल्लेख है।

चतुर्थ स्कंध—इसके अन्तर्गत दत्तात्रेय अवतार एवं ध्रुव भक्त की कथायें वर्णित हैं।

पंचम स्कंध—इसके अन्तर्गत ऋषभदेव के अवतार तथा जड़ भरत की कथा का उल्लेख है।

षष्ठ स्कंध—राजा परीक्षित के प्रश्न, शुकदेव जी के उत्तर, अजामिल और अहिल्या की कथायें वर्णित हैं।

सप्तम स्कंध—इसके अन्तर्गत—नृसिंह-अवतार एवं नारद जन्म की कथाये वर्णित हैं।

अष्टम स्कंध—इसके अंतर्गत कूर्म, वामन, तथा मत्स्य अवतार की कथा का उल्लेख है।

नवम स्कंध—इसके अन्तर्गत पुरुरवा एवं च्यवन ऋषि की कथा है। इसके पश्चात् परशुराम एवं राम—अवतार का वर्णन है।

दशम स्कंध—यही स्कंध सबसे बड़ा है इसके पूर्वार्द्ध में कृष्ण जन्म, उनकी लीलायें, पूतना-वध, एवं भ्रमरगीत आदि की कथायें हैं। तथा उत्तरार्द्ध में—कृष्ण के द्वारिका-वास, सुदामा-मिलन एवं कौरव पाण्डवों के साथ कृष्ण कथा का वर्णन है। यही स्कंध सूरसागर का प्राण है।

एकादश स्कंध—इस स्कंध में नारायण एवं हंस अवतार का वर्णन है।

द्वादश स्कंध—इसके अन्तर्गत बुद्ध, कल्कि के अवतार की कथा तत्पश्चात् जन्मेजय की कथा वर्णित है।

अब हम सूरसागर के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों के मत उद्धृत करना चाहेंगे—

१. **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** के शब्दों में—"सूरसागर वास्तव में एक महासागर है जिसमें हर एक प्रकार का जल आकर मिला है। जिस प्रकार उसमें मधुर अमृत है उसी प्रकार कुछ खारा, फीका और साधारण जल भी।"

२. **सूर पंचरत्न के लेखक द्वय लाला भगवानदीन एवं मोहन वल्लभ पन्त** के शब्दों में—"सूरदास जी का सूरसागर वास्तव में एक अपूर्व ग्रन्थ है। ग्रन्थ नहीं किन्तु प्रेम, कविता एवं संगीत रूपी सरिताओं के सलिल से सम्पूरित सचमुच सागर ही है। एक-एक पद उस सागर का एक-एक अमूल्य रत्न है।"

३. **आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी** के शब्दों में—"सूरदास जी का सूर-सागर केवल काव्य ही नहीं, यह धार्मिक काव्य है।"

४. **डॉ० मुन्शीराम शर्मा 'सोम'** के शब्दों में—"आचार्य बल्लभ से दीक्षित होने के पश्चात् तो मानो साक्षात् वीणापाणी सरस्वती ही उसकी जिह्वा पर आकर बैठ गई। उस समय गीतियों की जो अजस्र सरस धारा प्रवाहित हुई, उससे सूर का सागर लबालब भर गया।"

५. **अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'** के शब्दों में—"उसका सूर-सागर भाव का सुमेरु, मधुरता का मन्दिर, कान्त कवितावली का निकेतन, वाणी विलास का विकास-भवन और वर्णना का क्रीड़ा-स्थल है।"

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सूर की प्रामाणिक रचना तीन ही ठहरती हैं जो क्रमशः सूरसागर, सूर सारावली एवं साहित्य लहरी हैं। इन सबमें सूरसागर ही सूर की अमर कीर्ति का स्तम्भ है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी सूरसागर को ही सूर की सर्वश्रेष्ठ कृति माना है। उनका कथन है कि—"सूर सारावली ११०७ छन्दों का खण्ड काव्य सा है, जिसमें भगवान की कथा को ही संक्षिप्त वर्णनात्मक रूप दिया गया है। इसमें कोई काव्य सम्बन्धी सौन्दर्य भी नहीं है।" उनकी दृष्टि में—"महाकवि की एकमात्र प्रामाणिक और महत्वपूर्ण रचना सूरसागर ही रह जाती है।" निस्संदेह सूर सागर एक प्रबन्धात्मक मुक्तक काव्य है जो अनन्त काल तक मानव हृदय को अनुपम काव्य रस का आस्वादन कराता रहेगा।

प्रश्न १२—क्या सूरसागर को भागवत् का अनुवाद कहा जा सकता है ? प्रमाण सहित अपने मत की पुष्टि कीजिये तथा सूर की मौलिकता का भी निर्देश कीजिये ।

प्रश्न १३—भागवत् का अनुसरण करते हुये सूर ने सूरसागर में अपनी मौलिकता को बनाये रखा है। इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ? सोदाहरण स्पष्ट कीजिये ।

प्रश्न १४— "सूरसागर में अनेक कथायें हैं, परन्तु कृष्ण की कथा के अतिरिक्त अन्य कथाओं के वर्णन में सूरदास ने अभिरुचि नहीं दिखाई है ।" इस कथन की सत्यता पर प्रकाश डालिये ।

उत्तर—सूरसागर के सम्वन्ध में प्राय: यह भ्रान्ति उत्पन्न हुआ करती है कि यह ग्रन्थ 'भागवत्' का अविकल अनुवाद है । इस भ्रान्ति का कारण दोनों ही ग्रन्थों का बाह्य रूप है अर्थात् जिस प्रकार भागवत् की कथा द्वादश स्कंधों में विभक्त है उसी प्रकार सूरसागर की कथा भी द्वादश स्कंधों में विभक्त है । अत: साक्ष्य के आधार पर भी इस मत की पुष्टि होती है कि सूर ने भागवत् से ही कथा ली है । यथा—

श्री मुख चारि श्लोक दिए ब्रह्मा को समुझाइ ।
ब्रह्मा नारद सों कहे, नारद व्यास सुनाइ ।
व्यास कहे सुकदेव सों, द्वादस स्कंध बनाइ ।
सूरदास सोई कहै, पद भाषा करि गाइ ॥

इसी प्रकार अन्यत्र भी कवि ने कहा है—

सूर कहौ क्यों कहि सकें, जन्म कर्म अवतार ।
कहै कछुक गुरु कृपातें, श्री भागवत अनुसार ॥

कवि के स्वयं कथन के अतिरिक्त बाह्य साक्ष्य से भी इस बात की पुष्टि होती है कि सूरदास ने सूरसागर की कथावस्तु 'श्री मद्भागवत्' से ली है । यथा—चौरासी वैष्णवन की वार्ता में कहा गया है कि—"श्री आचार्य जी ने सूरदास कूँ पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनायों, तब सगरे श्री भागवत की लीला सूरदास के हृदय में स्फुरी, सो सूरदास ने प्रथम स्कंध श्री भागवत

से द्वादश स्कंध पर्यन्त कीर्तन वर्णन किये। तामें अनेक दानलीला, मान-लीला आदि वर्णन किये हैं।''

अन्तः साक्ष्य एवं बाह्य साक्ष्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरसागर पर श्री मद्भगवत का प्रभाव है परन्तु अब हमें यह देखना है कि क्या यह भागवत् का अविकल अनुवाद है या उसकी छाया मात्र। साथ ही कवि ने कुछ मौलिक उद्भावनायें भी की हैं या नहीं। इन सबका सम्यक् विवेचन अब हम आघे करेंगे।

निःसन्देह सूर पर श्रीमद्भागवत का अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। महाप्रभु वल्लभाचार्य से भेंट होने एवं पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो जाने के पश्चात् महाप्रभु की ही आज्ञा से सूर ने श्रीमद्भागवत् के आधार पर ही भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं में अपनी चित्तवृत्ति को रमाया था। निश्चय ही सूरसागर का स्रोत श्रीमद्भागवत् रहा है।

सूरसागर पर श्रीमद्भागवत् का प्रभाव होने पर भी हम उसे भागवत् का अविकल अनुवाद नहीं कह सकते। दोनों के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि सूरसागर भागवत् का अनुवाद न होकर एक स्वतन्त्र रचना है। पदों की संख्या की दृष्टि से, कथाक्रम की दृष्टि से या अन्य बातों पर विचार कर यह कहा जा सकता है सूरसागर पर भागवत् का प्रभाव तो अवश्य है परन्तु उसे मात्र अनुवाद हम किसी भी स्थिति में नहीं मान सकते हैं।

सूरसागर तथा श्रीमद्भागवत् में अन्तर

१. विषय वस्तु की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर है। सूरसागर के प्रथम स्कंध में शुकदेव जन्म कथा, विदुर और द्रौपदी आदि की कथायें मिलती हैं जबकि भागवत् में इनका कोई उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार भागवत के अवतारों की गणना, भागवत धर्म का विस्तार आदि का उल्लेख सूरसागर में देखने को नहीं मिलता है।

२. पदों की संख्या की दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। भागवत में जहाँ १४६१५ श्लोक हैं वहाँ सूरसागर में लगभग ५००० ही मिलते हैं।

३. द्वितीय स्कंध के प्रारम्भ में तो दोनों की कथा एक ही है परन्तु आगे चलकर पूर्ण कथा एवं प्रसंगों का समान रूप में निर्वाह नहीं हुआ है।

४. भागवत् के तृतीय स्कंध की कथा में जहाँ उद्धव और विदुर की भेंट का उल्लेख हुआ है वहाँ सूरसागर में उद्धव के पाश्चाताप का उल्लेख है।

५. भागवत् के चतुर्थ स्कंध की कथा में जहाँ वंशावली, आध्यात्मिक संकेतों के साथ कथाओं आदि का उल्लेख मिलता है वहाँ सूरसागर में इनका कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

(६) भागवत् के पञ्चम स्कन्ध में जहाँ अनेक ऐतिहासिक कथाओं, धार्मिक उपदेशों एवं नाना लोकों आदि का वर्णन मिलता है वहाँ सूरसागर में इनका कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

(७) भागवत् में जहाँ रामवतार की कथा संक्षेप में वर्णित है वहाँ सूरसागर में वह अधिक विस्तार के साथ वर्णित है।

(८) भागवत् में जहाँ कृष्ण की आलौकिक लीलाओं का वर्णन किया गया है वहाँ सूरसागर से कृष्ण की लौकिक लीलाओं का ही वर्णन मिलता है।

(९) भागवत् में इन्द्रकोप तथा जल वर्षण का वर्णन जहाँ वर्णनात्मक शैली में हुआ है वहाँ सूरसागर में वह अत्यन्त भावात्मक एवं चित्रात्मक है।

(१०) भागवत् के कृष्ण जहाँ दार्शनिक तर्कों के आधार पर व्रजवासियों को इन्द्रपूजा से रोकते हैं वहाँ सूर के कृष्ण सरल एवं सीधेरूप में अपने स्वप्न का हाल सुनकर उन्हें गोवर्धन-पूजा की बात कहते हैं।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि सूर सागर पर भागवत् का प्रभाव होते हुये भी हम उसे भागवत् का अक्षरशः अनुवाद नहीं कह सकते हैं।

सूर की मौलिक उद्भावनाएँ

सूर सागर में भागवत से भिन्नता होते हुये भी कतिपय स्थलों पर कवि ने अपनी मौलिक सूझ एवं प्रतिभा का परिचय दिया है।

कवि की मौलिक उद्भावनाएँ निम्नलिखित प्रकार से हैं—

(१) श्रीमद् भागवत् में जहाँ राधा का कोई उल्लेख नहीं मिलता है वहाँ सूर सागर में कवि ने राधा सम्बन्धी अनेक पद रचे हैं।

(२) इसी भाँति राधा कृष्ण मिलन प्रसंग, पनघट वर्णन, दानलीला आदि पूर्णतया मौलिक हैं। इनका भागवत् में कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

(३) माया, गुरु महिमा, तथा भक्ति सम्बन्धी पद भी सूरदास की निजी उद्‌भावनायें हैं इनका भागवत् में कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

(४) सूर ने उद्धव प्रसंग को भी बिल्कुल नये ढग से प्रस्तुत किया है। भागवत् के उद्धव जब गोकुल पहुँच कर कृष्ण का संदेश गोपियों को देते हैं तो गोपियाँ उसको सुनकर अपनी विरह व्यथा को शान्तकर लेती हैं पर सूरसागर में यह प्रसंग पूर्णतया नये रूप में है। वहाँ गोपियाँ उद्धव को जली कटी सुनाती हैं तथा एक प्रकार से वहाँ निर्गुण-सगुण का द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है।

(५) ललिता, चन्द्रावली एवं वृषभानु की सेविका 'बदरौला' का वर्णन सूर की अपनी निजी सूझ है। भागवत् में इसका कोई संकेत तक नहीं है।

अपने इस तर्क की पुष्टि हेतु हम डॉ० मुन्शीराम शर्मा के कथन को उद्‌धृत करना चाहेंगे। डॉ० शर्मा ने कहा है कि "सूर सागर कथावस्तु में भागवत् का पूर्णतया अनुसरण नहीं करता। भागवत् में अनेक विषयों की जो विस्तृत समीक्षा की गई है, उसका सूर सागर मे अभाव है। यह भी विचारणीय है कि जहाँ कहीं सूरदास को घटना सम्बन्धी कथानकों का अनुवाद करना पड़ा है, वहाँ उनकी लेखन-शैली शिथिल और अरोचक है। सूर का मन लीला के ऐतिहासिक अंशों में रमण करता नही जान पड़ता। लीला के भावना प्रधान अंश ही सूर के मानस के निकट और उनकी वृत्ति को तन्मय करने वाले हैं। भागवत से चीर हरण, रासलीला तथा भ्रमर गीत की कथाएँ लेकर भी सूर ने अपनी भावना का पुट चढ़ाकर उन्हें अत्यन्त मौलिक और स्वतन्त्रं रूप प्रदान किया है। सूर सागर की कुछ लीलायें ऐसी भी हैं जो भागवत में नहीं मिलती जैसे राधा-कृष्ण की संयोग लीलाएं, पनघट प्रस्ताव, दानलीला, खण्डिता के पद, मान लीला,

बसंत हिंडोल और फाग। यद्यपि ये लीलायें परम्परागत गीतों का प्रभाव सूचित करती हैं, फिर भी सूर ने उनमें अपनी मौलिकता का पूर्ण सन्निवेश कर दिया है। इन लीलाओं को स्वतन्त्र रचनाओं का रूप दिया जा सकता है। कुछ लीलायें सूर ने दो-दो तीन-तीन बार भी लिखी हैं। स्कंधों में आई हुई घटनाओं का चुनाव भी कवि ने अपने ढग पर किया है।"

सूर ने भागवत की कथा को कितने नये एवं मौलिक रूप में प्रकट किया है इसको जानने के लिये हम डॉ० हरवंश लाल शर्मा के कथन को उद्धृत करना चाहेंगे। डॉ० शर्मा ने कहा है कि—"जहाँ भागवत में उद्धव को ब्रज भेजने का उद्देश्य केवल नन्द यशोदा को संदेश देकर सुखी करना और गोपियों को सान्त्वना देना बतलाया गया है, वहाँ सूर ने उद्धव के पांडित्य एवं ज्ञान-गर्व को खण्डित कर उन्हें प्रेमभक्ति में दीक्षित करना ही उद्देश्य माना है। इसके अतिरिक्त सूर ने और कई कल्पनायें की हैं, जो सर्वथा मौलिक और भागवत से स्वतन्त्र हैं, जैसे—कृष्ण का अपने माता, पिता और गोपियों को पत्र लिखना, कुब्जा का राजा को सन्देश, तथा उद्धव और ब्रजवासियों की भेंट। उद्धव के ब्रज आने पर तो मानो सूर की कल्पना पंख लगाकर उड़ने लगी। श्रीमद् भागवत में ४७ वें अध्याय में उद्धव और गोपियों की बातचीत और भ्रमर गीत का वर्णन है। भ्रमर-गीत का प्रसंग सूर ने भी रखा है। सूर का भ्रमर-गीत सगुण-भक्ति का पोषक एक अकाट्य शास्त्र है, जिसमें भक्ति और ज्ञान का सन्तुलन करके भक्ति को सर्वोपरि बतलाया है और योग तथा कर्मकांड का व्यंग्यात्मक रूप से खंडन किया है। × × × ×............ इसलिये भक्ति की श्रेष्ठता के प्रतिपादन में भागवत के भ्रमर-गीत की अपेक्षा सूर के भ्रमर-गीत का अधिक महत्त्व है।"

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि सूर सागर पर निश्चय ही श्रीमद्भागवत् का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है परन्तु कवि ने अपनी प्रतिभा के बल पर उसमें अनेकानेक नवीन उद्भावनायें कर सहृदय जन को काव्यानुभूति कराने में अद्वितीय सफलता प्राप्त की है। सूर सागर भागवत् का अविकल अनुवाद न होकर एक स्वतन्त्र एवं मौलिक रचना है।

प्रश्न १५— सूरदास के समान 'शिशु और वात्सल्य' पर लिखने वाला कोई कवि नहीं हुआ ।" इस कथन का सतर्क परीक्षण कीजिये ।

प्रश्न १६—सूरदास के वात्सल्य-भाव-चित्रण पर अपने विचार प्रकट कीजिये ।

प्रश्न १७ - सूर के वात्सल्य वर्णन का काव्यात्मक सौन्दर्य स्पष्ट करते हुये उसका आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये ।

प्रश्न १८ – " 'बाल मनोवृत्तियों' के निरूपण में सूरदास हिन्दी-साहित्य में अप्रतिम है ।" इस तथ्य की सोदाहरण व्याख्या कीजिये ।

प्रश्न १९—'वात्सल्य के क्षेत्र का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया, उतना और किसी ने नहीं । वे उसका कोना-कोना झाँक आये हैं ।' इस कथन का युक्तियुक्त विवेचन कीजिये ।

प्रश्न २०—"सूर वात्सल्य के स्रष्टा ही नहीं उसके प्रबल पोषक एवं उन्नायक हैं ।" इस कथन की स्पष्ट व्याख्या कीजिये ।

उत्तर—सूर साहित्य की महत्ता का सबसे बड़ा मानदण्ड उसका वात्सल्य वर्णन ही है । बालक कृष्ण की चेष्टाओं का जैसा सजीव एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण सूर ने किया है वैसा विश्व साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है । वात्सल्य वर्णन के क्षेत्र में निस्संदेह सूरदास जी एक अद्वितीय कवि हैं ।

सूरदास जी ने अपने ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर वात्सल्य के विविध मनोवैज्ञानिक चित्र सँजोये हैं । कृष्ण का पालने में झूलना, घुटनों के बल चलना, चन्द्र खिलौना माँगना, माखन चोरी, गोचारण आदि ऐसे ही अनेक प्रसंग हैं जहाँ सूर ने वात्सल्य भाव के अनुपम चित्र प्रस्तुत किये हैं । इसी बात को व्यक्त करते हुये डॉ० रामकुमार वर्मा ने कहा है कि—'सूर ने शिशु और बाल-जीवन की प्रत्येक भावना का इतना गम्भीर अध्ययन किया है कि वे प्रत्येक परिस्थिति के चित्र बड़ी कुशलता और स्वाभाविकता से उतार सके हैं । उन्होंने बालकृष्ण और माँ यशोदा के हृदयों की भावनाओं को इतने सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत किया है कि वे चिरन्तन और सत्य हैं । विविध मानसिक अवस्थाओं के जो चित्र खींचे गये हैं वे मानवी भावनाओं

के इतिहास में कभी पुराने न होंगे, बालक के सरल से सरल कार्य को वे बालक बनकर ही वर्णन करते हैं और उसका अपार सौन्दर्य पाठकों के समक्ष बिखेर देते हैं।

इसी क्रम में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो इस क्षेत्र का सूर को सम्राट तक कह देते हैं। उनका कथन है कि—"जिस क्षेत्र को सूर ने चुना है उस पर उनका अधिकार अपरिमिति है, उसके वे सम्राट हैं।"

वात्सल्य रस क्या है ? इस विषय में हमें कुछ जान लेना चाहिये प्रत्येक रस के भाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि आदि होते हैं और उन्हीं के संयोग से वह रस नाम की संज्ञा धारण करते हैं। वात्सलय रस का स्थायी भाव—संतान विषयकरति, आलम्बन—सन्तान, आश्रय—माता-पिता, उद्दीपन—सन्तान का क्रीड़ाएँ, शारीरिक सौन्दर्य एवं बुद्धि कौशल आदि। अनुभाव—चूमना, पुचकारना, गोद में उठा लेना, हंसना आदि। व्यभिचारिभाव—हर्ष, पुलक आदि। सूर द्वारा प्रस्तुत वात्सल्य रस में भी उपर्युक्त सभी अंगों का सुन्दर परिपाक हमें देखने को मिल जाता है। सूरकाव्य में स्थायी भाव—सन्तान विषयक रति ही है। आलम्बन—कृष्ण हैं, आश्रय—यशोदा माता, उद्दीपन—कृष्ण की शारीरिक चेष्टायें, क्रीड़ायें आदि। अनुभाव—माता यशोदा का आनन्दित होकर कृष्ण का मुख चूम लेना, गोद में उठा लेना आदि तथा व्यभिचार—हर्ष, पुलक एवं स्मृति आदि हैं।

वात्सल्य रस का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन करने के पश्चात् अब हम अपने प्रतिपादन विषय पर आना चाहेंगे। सूर द्वारा वर्णित वात्सल्य के पदों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. संयोग वात्सल्य।
२. वियोग वात्सल्य।

१. **संयोग वात्सल्य** के अन्तर्गत वे पद आते हैं जब कृष्ण ब्रज में थे।

२. **वियोग वात्सल्य** के अन्तर्गत कृष्ण के मथुरा गमन के पश्चात् के पद आते हैं।

संयोग वात्सल्य—कृष्ण जन्म की आनन्द बधाइयों के अनन्तर कृष्ण की बाल लीलाओं के चित्रण में ही हमें संयोग वात्सल्य के अनुपम एवं अभिनव

चित्र देखने को मिलते हैं। बालक की चेष्टाओं एवं मातृ हृदय के मनोवैज्ञानिक चित्रण में सूर अपना सानी नहीं रखते हैं। डॉ० श्री निवास शर्मा ने अपने शोध-प्रबन्ध—'हिन्दी काव्य में वात्सल्य रस' में सूर के संयोग वात्सल्य सम्बन्धी पदों की संख्या ४९१ निर्धारित की है। इतना ही नहीं उन्होंने इन पदों को विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत भी वर्गीकृत किया है, जो इस प्रकार है—

१. पुत्र जन्म के आनन्दोल्लास सम्बन्धी पद	४४
२. विभिन्न संस्कारों के अवसर के पद	१०
३. बाल छवि वर्णन के पद	३५
४. बाल स्वभाव वर्णन के पद	४९
५. बाल क्रीड़ा एवं चेष्टाओं के पद	७६
६. उपालम्भ विषयक	८२
७. मातृ हृदय से सम्बन्धित	१९५
	४९१

कृष्ण जन्मोपरान्त उनकी बाल क्रीड़ाओं के अंकन में सूर निराले हैं। उन्होंने बड़े ही सजीव एवं मनमोहक चित्र प्रस्तुत किये हैं। इसी सन्दर्भ में डा० मनमोहन गौतम ने अपनी पुस्तक 'सूर की काव्यकला' में विस्तार से विवेचन करते हुए कहा है कि—"कृष्ण का पालने में शयन करना, घुटरुनों चलना, पाँवों चलना अपार आनन्द का सृजन करता है। उनकी बाल छवि का विस्तृत वर्णन सूरदासजी करते हैं। कृष्ण के बढ़ने के साथ ही नन्द-यशोदा और गोप-गोपियों में कृष्ण के निरापद जीवन के लिए अभिलाषायें उत्पन्न होती हैं। माँ अपने लाल के बड़े होते की, उसे माँ कहने की, तोतली वाणी से बोलने और आँचल पकड़कर हठ करने की अभिलाषायें करती हैं—

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरौ लाल घुटरुवनि रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दंत दूध के देखौं कब तुतरे मुख बैन झरै।
कब नन्दहिं कहि बाबा बोलै कब जननी कहि मोहिं रौ।
कब मेरौ अँचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि मोसौं झगरै।

कब धौं तनक तनक कछु खैहै अपने कर सौं मुखहिं भरै।
कब हँसि बात कहैगो मोसौं जा छबि तैं दुख दूरि हरै॥

कनक छेदन के अवसर पर माँ का हृदय काँप उठता है। जब कृष्ण पूतना, तृणावर्त, शकटासुर, आदि का निपात कर देते हैं तब यशोदा का मातृ-हृदय भय से त्रस्त हो उठता है। माखन चोरी का प्रसंग मातृ हृदय के चित्रण का अनुभव स्थल है। कृष्णरूप की प्यासी गोपियाँ अभिलाषा करती हैं कि कभी कृष्ण हमारे घर माखन चोरी निमित्त आवें—

ब्रज जुवती इक पाछै ठाढ़ी, सुनत श्याम की बात।
मन-मन कहति कबहुँ अपने घर, देखौं माखन खात॥

जब कृष्ण उनके यहाँ चोरी करते हैं तो छिपकर गोपियाँ दर्शन लाभ करती हैं और फिर फूली हुई इतराती फिरती है—

फूली फिरति ग्वालि मन में री।
पूछति सखी परस्पर बातें पायौ पर्यो कछु कहुँ तैं री
पुलकित रोम-रोम गद्‌गद्‌ मुख बानी कहत न आवै।
× × ×
सूरदास वह ग्वालि सखिन सौ देख्यौ रूप अनूप॥

इस आनन्द की प्रतिक्रिया घर-घर में होती है और माखन चोरी के व्यापक रूप-उपालम्भ, यशोदा और गोपियों की नोक झोंक, कृष्ण की खीझ बाल-सुलभ चेष्टायें, प्रेम ठगौरी, उत्तर-प्रत्युत्तर गोपियों और यशोदा की विवशता, यशोदा की खीझ, ऊखल बन्धन, गोपियों की आलोचना तथा यशोदा की ग्लानि पर एक से एक बढ़कर पद मिलते हैं।"[1]

इतना ही नहीं कृष्ण की रूप छवि पर मोहित होकर व्रज बालायें तो क्षण मात्र को भी उनका समीप्य नहीं छोड़ना चाहती हैं; देखिए—

हौं बलि जाऊँ छबीले लाल को।
छिटकि रही चहुँ दिसि जो लटुरिया, लटकन-लटकनि भाल को।
मोतिन सहित नासिका नथुनी, कंठ कमल दल माल को।
सूर सो प्रभु के प्रेम मगन भई, ढिग न तजहि ब्रज बाल को॥

१—देखिए पृ० २८ द्वितीय सं०,

आँगन में खेलते हुए कृष्ण के सुन्दर रूप को देखकर यशोदा माता फूली नहीं समाती हैं। वे इतनी आनन्द विभोर हो उठती हैं कि इस आनन्द में अपने पति को भी सम्मिलित किए बिना नहीं रह सकती हैं :—

किलकत कान्ह घुटुरुवन आवत।
मनिमय कनक नंद के आँगन मुख प्रतिविम्ब पकरिबे धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह को पकरन को चित चाहत।
किलकि हँसति राजति है दतियाँ पुनि पुनि तिहि अवगाहत।

× × ×

बाल दसा-सुख निरखि यशोदा, पुनि पुनि नन्द बुलावत।
अंचरा तर लौं ढाँकि 'सूर' प्रभु जननी दूध पियावत॥

इसी भाँति भोजन करते हुए कृष्ण की छवि का एक चित्र देखिए—

जेंवत कान्ह नन्द इक ठौरे।
कछुक खात लपटात दुहुँ कर बाल-केलि अति भोरे।
बड़ौ कौर मेलत मुख भीतर मिरिच दसन टुक तोरे॥
तीछन लगी नैन भरि आए रोवत बाहर दौरे।
फूँकति बदन रोहिनी टाढ़ी लिए लगाइ अंकोरे।
सूर स्याम कौं मधुर कोर दै कीन्हे तात निहोरे॥

सूर ने केवल बाह्य चेष्टाओं एवं रूपों तक ही अपना यह वर्णन सीमित नहीं रखा है अपितु बालक की अन्तः प्रकृति के भी विविध रूपों का सुन्दर अंकन किया है।

बालक कृष्ण में स्पर्द्धा की बड़ी ही प्रबल भावना सन्निहित है, वे अपनी चोटी को बलराम से बढ़ाना चाहते हैं और इसी लालच में मनचाहे रूप में भी दूध पीते जाते हैं लेकिन जब बहुत समय तक दूध पीने पर भी उनकी चोटी नहीं बढ़ती है तो वे माता यशोदा से पूछ बैठते हैं :—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहुँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।
काढ़त गुहति न्हावति जैहैं नागिन सी भुइँ लोटी॥

कृष्ण और बलराम साथ-साथ खेलने जाते हैं, वहाँ दोनों में किसी बात पर झगड़ा हो जाता है। बलराम कृष्ण को मोल लिया हुआ बताकर चिढ़ाते हैं तो कृष्ण अपनी माँ से बलराम की शिकायत करते हुये कहते हैं—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो।
मोसों कहत मोल को लीनों तू जसुमति कब जायो।
कहा कहौं इहि रिस के मारे, खेलन हौं नहि जात॥

वियोग वात्सल्य—संयोग वात्सल्य के पश्चात् अब हम वियोग वात्सल्य का वर्णन करना चाहेंगे। डॉ० श्री निवास शर्मा ने इस प्रकार के पदों की संख्या ८९ बताई है। वियोग वात्सल्य के उपलब्ध पदों को हम चार शीर्षकों के अन्तर्गत विभक्त कर सकते हैं—

(१) कृष्ण के मथुरा गमन के समय के पद।
(२) मथुरा में कृष्ण के रहने के समय के पद।
(३) मथुरा से लौटते हुये समय के पद।
(४) करुण वियोग के पद।

जिस समय अक्रूर मथुरा से कृष्ण और बलराम को लेने के लिये आता है उस समय सम्पूर्ण व्रज प्रदेश में खलबली मच जाती है। यशोदा माता को यह बात पूर्णतया असह्य है कि कोई भी उनके लाड़लों को उनके नेत्रों के सामने से हटाये। लेकिन जब अक्रूर कृष्ण और बलराम को साथ में लेकर चलने लगे तो वेवश एवं असहाय बनी हुई यशोदा माता कहने लगती है—

जसोदा बार-बार यों भाखै।
है कोऊ व्रज में हितू हमारो, चलत गोपालहि राखै।

इसी प्रकार जब कृष्ण और बलराम राज काज में इतने उलझ जाते हैं कि उन्हें व्रज लौटने की फुर्सत ही नहीं मिलती तो यशोदा माता कृष्ण सखा उद्धव के द्वारा देवकी से यह सन्देश कहलवाती है—

सन्देसौ देवकी सौं कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो।

× × ×

तुम तो टेव जानितिहि ह्वै हौ तऊ मोहि कहि आवै॥
प्रात उठति मेरे लाल लड़ैतेहि माखन रोटी भावै॥

मातृ-हृदय की कैसी सुन्दर झाँकी हमें इस पद में देखने को मिलती है।

इसी भाँति जब व्रज में कृष्ण और बलराम के प्रवास से लौटने का समाचार मिलता है तो यशोदा नन्द एवं सभी ग्वाल बाल कैसे उत्कंठित हो उठते हैं द्रष्टव्य है—

नन्द जसोदा सब ब्रजवासी।
अपने अपने सकट साजि कै, मिलन चले अविनासी।
कोउ गावत कोउ बेनु बजावत कोउ उतावल धावत।
हरि दरस की आसा कारन, बिबिध मुदित सब आवत।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सूर की अन्तर्भेदिनी दृष्टि से बाल्यावस्था का कोई भी कोना अछूता नहीं रहा है। सूर का वात्सल्य-वर्णन निश्चय ही बाल मनोविज्ञान का एक सुन्दर एवं उत्कृष्ट अध्याय है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सूर के वात्सल्य वर्णन के महत्व को अंगीकृत करते हुये कहा है कि—"यशोदा के वात्सल्य में सब कुछ है, जो माता शब्द को इतना महिमामय बनाये हुये है। यशोदा के बहाने सूरदास ने मातृ-हृदय का ऐसा स्वाभाविक, सरल एवं हृदयग्राही चित्र खींचा है कि आश्चर्य होता है। सूरदास जहाँ पुत्रवती जननी के प्रेम पोषक हृदय को छूने से समर्थ हुये हैं, वहाँ वियोगिनी माता के करुण-विगलित हृदय को छूने में भी समर्थ हुये हैं।"

निस्संदेह वात्सल्य वर्णन के क्षेत्र में सूर का कोई प्रतिद्वन्दी नहीं है। बाल स्वभाव का जैसा सूक्ष्म एवं सजीव चित्रण सूर ने किया है वैसा हिन्दी ही क्या संसार की किसी भी भाषा में आज तक उपलब्ध नहीं हुआ है। डॉ० प्रेमनारायण टण्डन ने भी सूर के वात्सल्य वर्णन की चिरन्तनता एवं सर्वकालीनता की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुये कहा है—"सूर के वात्सल्य वर्णन की अन्य प्रमुख विशेषताओं की ओर से यदि आँख मूँद भी ली जाय तो भी स्वाभाविक और यथातथ्य चित्रों के कारण सूर काव्य का यह अंश चिरंतन और सर्वकालीन रहेगा।"

प्रश्न २१—सिद्ध कीजिये कि सूरदास ने पूर्णरूप से वल्लभीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

प्रश्न २२—'क्या सूर की भक्ति पुष्टिमार्गीय भक्ति के मेल में है।" सोदाहरण स्पष्ट कीजिये।

प्रश्न २३—गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने सूरदास को 'पुष्टिमार्ग का जहाज' कहा था। पुष्टि मार्ग के मुख्य सिद्धान्तों का परिचय देते हुये बताइये कि उपर्युक्त कथन कहाँ तक समीचीन है ?

प्रश्न २४—पुष्टि के भेदों का निरूपण करते हुये उनके दार्शनिक पक्ष का उद्घाटन कीजिये और अपने कथन की सोदाहरण पुष्टि कीजिये।

प्रश्न २५—पुष्टि मार्ग क्या है ? क्या सूरदास जी ने उसका पूर्णतया परिपालन अपने सूरसागर में किया है ?

प्रश्न २६—आचार्य वल्लभ के पुष्टिमार्ग को महात्मा सूरदास कहाँ तक आत्मसात् कर सके हैं ? अपने कथन की पुष्टि सोदाहरण कीजिये।

प्रश्न २७—'शुद्धाद्वैतवाद' के सिद्धान्तों का संक्षेप में विवेचन करते हुये सिद्ध कीजिये कि उनका प्रभाव सूर के काव्य पर दृष्टिगोचर होता है।

उत्तर—'पुष्टिमार्ग' के प्रवर्तक गोस्वामी वल्लभाचार्य जी माने जाते हैं। उनका यह मत सिद्धान्ततः 'शुद्धाद्वैतवाद' 'अविकृत परिणामवाद' एवं 'ब्रह्मवाद' के नामों से भी जाना जाता है। आचार्य वल्लभ को इस सम्प्रदाय के नामकरण हेतु प्रेरणा श्रीमद्भागवत् के द्वितीय स्कन्ध के दशम अध्याय के चतुर्थ श्लोक से प्राप्त हुई है। इस श्लोक में भगवत् अनुग्रह को पोषण या पुष्टि के नाम से अभिहित करते हुए कहा गया है, यथा—'पोषणं अनुग्रह'। इसका अभिप्राय यह है कि सांसारिक जीव को तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है जब तक कि उस पर 'भगवत् अनुग्रह' (कृपा) न हो। भगवत् अनुग्रह (पुष्टि, कृपा) को ही महत्व देने के कारण यह मत 'पुष्टिमार्ग' के नाम से विख्यात हुआ।

इस सम्प्रदाय में कार्य कारण रूप ब्रह्म माया विहीन माना गया है अतः वह शुद्ध है। ब्रह्म रूप का प्रतिपादन होने से ही यह 'शुद्धाद्वैतवाद' कहलाता है। महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने कहा कि—श्री वल्लभाचार्य का सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इस शुद्धाद्वैत् शब्द का अर्थ है कि उस सम्प्रदाय में मूल तत्व एकमात्र पर-

ब्रह्म को ही माना जाता है। श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त में जिस प्रकार परब्रह्म के साथ एक अनिर्वचनीय शक्ति मान ली गई है उसी प्रकार उस माया शक्ति को भी उस सम्प्रदाय में अनादि नहीं कहते। उसका भी परब्रह्म से ही प्रकट होना माना जाता है।"

आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म के स्वरूप को सत्-चित्-आनन्द समन्वित माना है। इसी प्रकार वे 'जीव' और 'जगत' को भी ब्रह्ममय मानते हैं। उनके मत में जीव भी ब्रह्म स्वरूप ही है परन्तु उसमें 'सत्' और 'चित्' इन्हीं दो तत्वों का योग है आनन्द का वहाँ अभाव है। इसी भाँति 'जगत' को भी वे ब्रह्ममय मानते हैं पर उसमें केवल एक तत्व अर्थात् 'सत्' तत्व का समावेश है शेष दो तत्वों अर्थात् 'चित्' और 'आनन्द' का नहीं। 'ब्रह्म' 'जीव' एवं 'जगत' तीनों को ब्रह्म रूप मानने के ही कारण उनके द्वारा प्रचारित एवं प्रसारित इस सम्प्रदाय का नाम **'ब्रह्मवाद'** भी पड़ा। इसी सम्प्रदाय को **'अविकृत परिणामवाद'** के नाम से भी जाना जाता है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि जिस प्रकार कनक बिना किसी विकार (दोष) के कुण्डल के रूप में परिणत हो जाता है उसी प्रकार निर्गुण निराकार ब्रह्म भी अविकृत भाव से दृश्य जगत के रूप में परिणत हो जाता है।

अब हम 'पुष्टिमार्ग' की विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गईं परिभाषायें उद्धृत करना चाहेंगे—

१. **सिद्धान्त मुक्तावली** के रचयिता के अनुसार—'अनुग्रहः पुष्टि मार्गे नियामक इति स्थितिः।' अर्थात् पुष्टि मार्ग में भगवद् कृपा ही मूल तत्व है।

२. **अणुभाष्य** के रचियता द्वारा दी गई परिभाषा इस प्रकार है—'पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः।' अर्थात् पुष्टि मार्ग केवल अनुग्रह से ही साध्य है।

३. **अन्य विद्वान्** के अनुसार—'कृष्णानुग्रह रूपाहि पुष्टि कालादिबाधका।' अर्थात् कालादि का बाधाओं की रोकने वाली श्रीकृष्ण की कृपा ही पुष्टि है।

४. इसी प्रकार अन्यत्र भी एक अन्य विद्वान् ने कहा है—

समस्त विषयत्यागः सर्वभावेन यत्र वै ।
समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥

अर्थात् जिस मार्ग में सर्वभावेन अर्थात् पूर्णतया सांसारिक विषयों का परित्याग है और उन भावों के साथ देहादि का समर्पण है, वही मार्ग पुष्टि मार्ग के नाम से जाना जाता है।

ईश्वर प्राप्ति के दो मार्ग प्रचलित हैं—ज्ञान और भक्ति। आचार्य वल्लभ ने ज्ञान मार्ग को दुरुह बताया है जबकि भक्तिमार्ग को सुगम। अन्य मनीषियों एवं विद्वानों ने भी इसी तथ्य को स्वीकारा है। तुलसी तो ज्ञानमार्ग को 'तलवार की धारा पर चलने के सदृश मानते हुये कहते हैं— 'ज्ञान के पन्थ कृपान कै धारा।' भक्ति मार्ग में प्रेम का महत्व सन्निहित रहता है। प्रेम के माध्यम से ही भक्त ईश्वर का सामीप्य प्राप्त किया करता है। पुष्टि मार्ग भी इसी प्रेम पर आधारित है। इसी कारण आचार्य वल्लभ ने इस 'पुष्टि मार्ग' को भक्तजनों के लिये सुगम एवं श्रेयस्कर बताया है।

पुष्टि के भेद—पुष्टि मार्ग के चार भेद माने गये हैं—

१. प्रवाह पुष्टि।
२. मर्यादा पुष्टि।
३. पुष्टि पुष्टि।
४. शुद्धि पुष्टि।

१. प्रवाह पुष्टि भक्ति—इस पद्धति के अनुसार भक्त संसार में रहते हुये भी श्री कृष्ण की भक्ति में रत रहता है—"Pravaha-Pusti Bhakti is the path of those who, while engaged in a worldly life with its me and mine, which is compared to a stream (Pravaha), do acts calculated to bring about the attainment of God."

२. मर्यादा पुष्टि—इस पद्धति के अनुसार भक्त सांसारिक सुखोपभोगों से विरक्त होकर श्रीकृष्ण के गुणगान एवं कीर्तनादि के द्वारा उनकी भक्ति करता है—"Maryada Pusti Bhakti is of those who withdrawing

their minds from worldly enjoyments, devote themselves to God by hearing discourses about Him, singing His name and such other processes"

३. पुष्टि पुष्टि—इस पद्धति के अनुसार भक्त को श्रीकृष्ण का अनुग्रह तो प्राप्त हो जाता है परन्तु इसके साथ ही उसकी साधना भी अनवरत रूप से चलती रहती है बन्द नहीं होती है—"Pusti-pusti Bhakti is of those who already enjoy God's grace are made by another grace competent to acquire knowledge useful for a devotion and thus came to know all about the ways of God."

४. शुद्धि पुष्टि—इस पद्धति के अनुसार भक्त श्रीकृष्ण पर पूर्णतः आश्रित हो जाता है। वह श्री कृष्ण की लीलाओं से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इहलीला की समाप्ति के पश्चात् भक्त गोलोक में पहुँच जाता है। वल्लभ सम्प्रदाय में यह पद्धति परमोच्च मानी जाती है—Sudh Pusti Bhakti is of those who through more love devote themselves to the Singing and Praising of God as if it were a haunting Passion."

पुष्टि मार्ग में सेवा का महत्व—

पुष्टि मार्ग में सेवा का सर्वाधिक महत्व प्रतिपादित किया गया है। सेवा का तात्पर्य साधारण पूजा या उपासना से नहीं होता है अपितु भावना की प्रधानता से होता है।

पुष्टि मार्ग में सेवा की तीन अवस्थायें हैं—

१. स्वरूपासक्ति
२. लीलासक्ति
३. भावासक्ति।

कृष्ण सेवा के आचार्य वल्लभ ने दो भेद किये हैं—
(१) क्रियात्मक और (२) भावात्मक।

क्रियात्मक सेवा—यह सेवा विधि-विधान पर आश्रित होने के कारण विस्तृत है। इसके भी दो भेद हैं—गुरु आश्रय सेवा–विधि तथा नित्य की सेवा-विधि।

नित्य की सेवा-विधि के भी आगे चलकर दो भेद हो जाते हैं—

(क) प्रातः काल से शयन पर्यन्त की सेवा।

(ख) वर्षोत्सव आदि की सेवा।

भावात्मक सेवा—यह सेवा पद्धति शुद्ध पुष्टि का रूप मानी जाती है इसमें विशुद्ध प्रेम की प्रधानता मानी जाती है।

(क) प्रातः काल से शयन पर्यन्त की सेवा—इसके अन्तर्गत श्री कृष्ण को जगाने से लेकर शयन तक की आठ विधियों का वर्णन रहता है। ये आठों विधियाँ क्रमशः (१) मंगला, (२) शृङ्गार, (३) शृङ्गार-भोग, (४) राजभोग, (५) उत्थापन, (६) भोग, (७) संध्या-आरती तथा (८) शयन नाम से जानी जाती हैं।

उपरि वर्णित सभी सेवा विधियों का उल्लेख हमें सूर काव्य में देखने को मिल जाता है। अब हम प्रत्येक का सोदाहरण विवेचन करना चाहेंगे—

१. **मंगला**—इस सेवा विधि के अन्तर्गत भगवान् श्री कृष्ण के तीन रूपों का वर्णन आता है जो क्रमशः (i) जगाना, (ii) कलेऊ (मंगल भोग) कराना और (iii) आरती के नाम से जाने जाते हैं—

(i) जगाना—

जागिये गुपाल लाल, आनन्द निधि नन्दलाल।
जसुमति कहै बार बार, भोर भयौ प्यारे॥

(ii) मंगल भोग (कलेऊ) कराना—

अब ही जसोदा माखन लाई।
मैं मथि कै अब ही जू निकार्‌यौ तुम कारन मेरे कुँवर कन्हाई।

(iii) आरती—

व्रज मंगल की मंगल आरती।
रतन जटित सुभ कनक थार लै ता मधि चित्र कपूर लै वारती।

२. **शृङ्गार**—इसके अन्तर्गत श्री कृष्ण का स्नान कराना, उबटन आदि का वर्णन आता है, यथा—

जसुमति जबहि कह्यौ अन्हवावन रोइ गये हरि लोटत री।
लेत उबटनों आगे दधि करि लालहि चोटत पोटत री॥

३. **शृङ्गार-भोग**—श्री कृष्ण के शृङ्गार-सज्जित हो जाने के पश्चात् जो भोग आता है उसे शृङ्गार-भोग कहा जाता है। इसमें दुग्ध फेन से निर्मित पदार्थ आते हैं, यथा—

दै मैया री दोहिनी, दुहि लाऊँ गैया।
दुहि लाऊँ मैं तुरत ही, तब मोहि दै धैया॥

४. **राजभोग**—दोपहर के समय जो भोग आता है उसे राजभोग कहते हैं। इस भोग के अनन्तर दोपहर को कृष्ण सो जाते हैं। इस भोग के अन्तर्गत, दही, लौनी एवं मिष्ठान्न आदि होते हैं—

जें सब ग्वाल गये घर-घर कों, तिनसों कहि तुम छाक मँगाई।
लौंनी, दधि, मिष्ठान्न जोरि कें, जसुमति मेरे हाथ पठाई॥

५. **उत्थापन**—मध्याह्नोपरान्त श्री कृष्ण को जगाना ही उत्थापन कहलाता है। इससे सम्वन्धित भी कतिपय उद्धरण सूर काव्य से प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

(६) **भोग**—उत्थादन के पश्चात् श्री कृष्ण को फल फूल आदि जो दिये जाते हैं वे ही भोग कहलाती हैं। इसी के पश्चात् फिर भगवान के दर्शनार्थ पट खोल दिये जाते हैं।

(७) **संध्या आरती**—वन से गायें चराने के पश्चात् लौटने के समय जो श्री कृष्ण की आरती की जाती है वह सन्ध्या आरती कहलाती है। यथा—

करत आरती मात जसोदा, सुरदास बलि जावै।

(८) **शयन**—सन्ध्या-आरती के पश्चात् व्यारू भोग आता है। व्यारु-भोग के पश्चात् उनकी दर्शन आरती होती है इसके वाद उन्हें शयन कराया जाता है, यथा—

तब हरि उठि कै करी बयारू, भक्तन प्रान पियारे।
सूरदास प्रभु भोजन करिकै सुचि जल सो वदन पखारे।

अन्यत्र

'सोवत नींद आय गई स्यमहिं।'

(ख) **वर्षोत्सव आदि की सेवा**—इसके अन्तर्गत श्री कृष्ण के नित्य एवं अवतार लीलाओं सम्बन्धी उत्सवों का आयोजन, षड् ऋतुओं, पर्वों (लौकिक

एवं वैदिक) तथा अन्य अवतार सम्बन्धी जयन्तियाँ आती हैं। उपर्युक्त सभी विषयों से सम्बन्धित पद हमें सूर काव्य में देखने को मिल जाते हैं।

पुष्टि मार्ग के आराध्य देव श्रीकृष्ण माने जाते हैं और उनकी सेवा पद्धति ही भगवद्-भक्ति है। इस सेवा पद्धति के तीन स्तर हैं जो क्रमशः गुरु, सन्त एवं प्रभु सेवा के नाम से जाने जाते हैं।

गुरु सेवा—कबीर ने गुरु एवं गोविन्द दोनों की आराधना करते हुये भी गुरु को उच्च माना है—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागौं पाय।
बलिहारी गुरु आपनी जिन गोविन्द दियो बताय।
कबिरा हरि के रूठतें गुरु की सरने जाय।
कहि कबीर गुरु रूठतें हरि नहिं होत सहाय॥

लेकिन वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित पुष्टि मार्ग के अनुयायी सूरदास गुरु और भगवान में कोई अन्तर नहीं मानते वे तो दोनों को ही एक रूप में देखते हैं। अन्तः साक्ष्य से यह बात पूर्ण रूपेण पुष्ट हो जाती है—

(क) **भरोसो दृढ़ इन चरनन केरौ।**
श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग माँझ अन्धेरौ।

(ख) **गुरु बिनु ऐसी कौन करै**
भवसागर ते बूड़त राखै दीपक हाथ धरै।

(ग) **हरि लीनों अवतार कहत सारद नहिं पावै।**
सद् गुरु कृपा प्रसाद कछुक तातें कहि आवै।

सन्त सेवा—इसके अन्तर्गत सन्तों का सत्संग, दुर्जनों का परित्याग आदि का उल्लेख होता है। भगवद् भक्ति की प्राप्ति हेतु सत्संगति करना, सन्त जनों की सेवा करना आदि आवश्यक तत्व हैं। सूर ने अपने काव्य में इसे स्थान देते हुये सन्तों के दर्शन को करोड़ों तीर्थों से प्राप्त पुण्य से भी अधिक माना है—

जा दिन सन्त पाहुने आवत।
तीरथ कोटि सनान करै फल जैसौ दर्शन पावत।

सन्तों की संगति जहाँ स्वीकार्य है वहाँ इस मत में दुर्जन संगति परिहार्य भी है सूर ने कहा है—

तजौ मन हरि विमुखन कौ संग ।
जाके संग कुबुधि उपजति है, परत भजन में भंग ।।

प्रभु सेवा—इस साधना पद्धति (पुष्टि मार्ग) में भक्त द्वारा प्रभु सेवा ही सर्वस्व है । सर्व प्रथम भक्त अपना सर्वस्व प्रभु की सेवा में समर्पित कर देना चाहता है । समर्पण मंत्र के अन्तर्गत वह शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, स्त्री, संतान, धन आदि सभी प्रभु सेवा में समर्पित कर देता है । सूर ने अपने काव्य में भी इस मत का प्रतिपादन स्थल स्थल पर किया है, यथा—

"सब तजि तुव शरणागत आयौ निजकर चरण गहेरे ।"

भक्त को प्रभु के चरणों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं कोई सुख ही नहीं मिलता है, यथा—

"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पै आवै ।"

पुष्टि मार्गीय सेवा के प्रमुख अंग तीन माने गये हैं जो क्रमशः भोग, राग (संकीर्तन) और शृंगार कहलाते हैं । सूरदास ने अपने काव्य में इन तीनों का भी विधिवत् रूप में उल्लेख किया है यथा—

भोग—पूर्व प्रसंग में 'प्रातः काल से शयन पर्यन्त सेवा' शीर्षक के अन्तर्गत हम इसका विशद उल्लेख कर चुके हैं । भगवान् कृष्ण हेतु जो शुद्ध पवित्र खाद्य सामग्री तैयार की जाती है वह 'भोग' के अन्तर्गत आती है । पुष्टि मार्ग में भगवान् को चार समयों पर भोग का उल्लेख है अर्थात् शृंगार के पश्चात् का **शृंगार भोग**, मध्यान्तर का **राजभोग** दोपहर के विश्रामोपरान्त जागने के पश्चात् का **भोग** एवं तदनन्तर **ब्यारू भोग** का उल्लेख मिलता है । सूरकाव्य में इन चारों ही भोगों का उल्लेख मिल जाता है, यथा—

"लौंनी, दधि, मिष्ठान जोरि कें जसुमति मेरे हाथ पठाई ।"

तथा

"तब हरि उठि कै करी बयारू, भक्तन प्रान पियारे ।
सूरदास प्रभु भोजन करिकै सुचि जल सो वदन पखारे ।।

राग (संकीर्तन)—भगवद् नाम के संकीर्तन का इस उपासना पद्धति में विशेष महत्व है। इस संकीर्तन के द्वारा ही भक्त एकाग्र चित्त हो भगवान् का स्मरण कर पाता है। अनेक प्रकार के वाद्य-यंत्रों के साथ भक्त गण भगवान् का संकीर्तन किया करते हैं जिसमें भगवान के यश और गुणों का ही विशेष रूप से उल्लेख रहता है। सूरकाव्य इस प्रकार के अनेकों पदों से भरा हुआ है। यथा—

"जो सुख होत गोपालहिं गाए।
सो नहिं होत जपतप व्रत कीन्हें कोटिक तीरथ न्हाये।"

उपरि वर्णित पद में सूरदास ने यहाँ तक कह दिया है कि श्री कृष्ण के संकीर्तन से जैसी आनन्दानुभूति होती है वैसी तो करोड़ों तीर्थों में स्नान करने तथा जप-यज्ञ करने आदि से भी नहीं होती है।

श्रृंगार—आचार्य वल्लभ ने इस सम्प्रदाय में श्रृंगार को भी स्थान दिया है। इस श्रृंगार के अन्तर्गत मस्तक, कण्ठ, हस्त, कटि, चरण आदि सभी का वर्णन मिलता है। कहीं-कहीं वस्त्र-श्रृंगार का भी वर्णन मिलता है। गोस्वामी विट्ठल नाथ ने श्री कृष्ण के जिन आठ श्रृंगारों का उल्लेख किया है उनमें सभी श्रृंगार मस्तक के हैं यथा—१. मुकुट, २. सेहरा, ३. टिपारा, ४. कुल्हे, ५. पाग, ६. दुमाला, ७. फेंटा एवं ८. पगा। सूरसागर में इन आठों श्रृंगारों का उल्लेख मिलता है।

उपरि वर्णित पुष्टि मार्गीय उपासना पद्धति के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ थे। सूरदास आचार्य जी के शिष्य थे फलतः उनके काव्य पर आचार्य जी की उपासना पद्धति (पुष्टि मार्ग) का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। स्वयं सूरदास ने अपने काव्य में इस तथ्य को स्वीकार करते हुये कहा है—

"हरि मैं तुमसों कहा दुराऊँ।
जानत को 'पुष्टि पथ' मोसों कहि कहि जस प्रगटाऊँ।"

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुये डा० रामकुमार वर्मा ने कहा है कि—"पुष्टि में कीर्तन का विशेष स्थान है। सूरदास पुष्टिमार्गी थे अतः वे श्रीनाथ और नवनीत प्रिया जी के समक्ष कीर्तन किया करते थे। इस कीर्तन में सूरसागर के अनेक पदों की रचना हुई। अतः पुष्टि मार्ग में श्रीकृष्ण का दैनिक कार्यक्रम प्रभाती से उठना, श्रृंगार करना, गो चारण, भोजन, शयन

आदि पदों में वर्णित होने के कारण श्री कृष्ण के स्वाभाविक ग्रामीण जीवन को और भी स्पष्ट करता था। जहाँ मन्दिर की मूर्ति के सामने भजन करने की भावना थी, वहाँ श्री कृष्ण के जीवन की ललित लीलाओं को वर्णन करने की भी भावना थी। × × × इस प्रकार इन पदों में जहाँ श्रीकृष्ण की लीला-गान करने का उद्देश्य था वहाँ साथ ही साथ पुष्टिमार्ग के साम्प्रदायिक आचार 'कीर्तन' की भी पूर्ति थी। इसीलिये अनेक स्थानों पर श्रीकृष्ण की भोज्य सामग्री में अनेक प्रकार के व्यञ्जनों का वर्णन है क्योंकि पुष्टिमार्ग के आचार में श्री कृष्ण की 'भोग समर्पण' की प्रथा है और उस 'भोग' में अनेक प्रकार के व्यन्जनों का रहना आवश्यक है।"

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त पुष्टिमार्ग में हरिलीला, भक्ति की महत्ता, उपासना पद्धति, माया का स्वरूप, जगत् एवं मोक्ष सम्बन्धी बातों का भी उल्लेख मिलता है। ये सभी बातें 'भगवद् अनुग्रह' के लिये नितान्त आवश्यक हैं। इनके अतिरिक्त इस सम्प्रदाय में यमुना जी का भी विशेष महत्व वर्णित है। वल्लभाचार्य ने स्वयं यमुनाष्टक में यमुना जी के महात्म्य का वर्णन किया है। यमुना जी वैसे तो सूर्य की पुत्री एव यम की बहिन मानी जाती हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में वे कृष्ण की प्रिया मानी गई है।

सूरदास का पुष्टि मार्ग से बड़ा ही प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है। उनका सम्बन्ध इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ एवं उनके उन्नायक गोस्वामी विट्ठलनाथ से रहा है। अत: उनके काव्य पर दोनों का ही स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। डॉ० मुन्शीराम शर्मा ने कहा है कि—'आचार्य वल्लभ ने भगवान के बाल रूप की उपासना को ही प्रमुख स्थान दिया था, परन्तु उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इस उपासना-पद्धति को शृङ्गार-सज्जा से और भी अधिक मण्डित कर दिया। सूर का सम्पर्क आचार्य वल्लभ के साथ कुछ वर्षों का ही है, परन्तु गोस्वामी विट्ठलनाथ के साथ यह सम्पर्क दीर्घकाल व्यापी है। सूरदास की अष्टछाप में स्थापना भी गोस्वामी विट्ठलनाथ ने ही की है, अत: उनके द्वारा पुष्टि मार्ग के सम्बर्द्धित सिद्धान्तों का प्रयोग भी सूरसागर में अधिक मात्रा में हुआ है।"

सूरदास जी ने आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित पुष्टि मार्ग का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक एवं विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसी आधार पर

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने उन्हें पुष्टि मार्ग का जहाज बतलाया है। डॉ० चन्द्रभान रावत ने सूर के पुष्टि मार्ग में योगदान का वर्णन करते हुये कहा है कि —"वल्लभाचार्य जी सूर के व्यक्तित्व की स्वच्छन्दता को पहचानते थे। यह स्वच्छन्दता चाहे सम्प्रदाय की बाह्य आचार-प्रणाली की तुलना में स्पष्ट दिखलाई पड़ती हो, पर सम्प्रदाय की चरम आध्यात्मिक परिणति से यह स्वच्छन्दता कोई विरोध नहीं रखती थी। इस दृष्टि से आचार्य जी ने उन्हें 'सागर' नाम से विभूषित किया। 'पुष्टि मार्ग के जहाज' को जो 'सागर' चाहिये था, वह आचार्य जी को 'सूर' के व्यक्तित्व में मिला। पुष्टि मार्गीय सेवाचार सूर के व्यक्तित्व के चरम भावोन्नयन पर ही तैरता रहा। 'सागर' सूर के व्यक्तित्व की अतुल गहराइयों और अकूल विस्तृति का प्रतीक है। वल्लभाचार्य जी सम्प्रदाय की भाव विस्तृति को महत्व और मूल्य देते थे। पीछे साम्प्रदायिक आचार प्रमुख हो होता गया। अत: सूर का व्यक्तित्व सम्प्रदाय के जहाज के रूप में तो उनके लिये दृश्य रहा: 'सागर' की 'विधु-चुम्बी' लहरों का साक्षात्कार परवर्ती कर्णधार पूर्ण रूप से नहीं कर पाये। 'सम्प्रदाय' के जहाज के रूप में सूर का कृतित्व है, पर उनके सागरीय कृतित्व के अनुपात में वह कितना बौना है। साम्प्रदायिक दायित्व की औपचारिकता का निर्वाह 'सार' रूप में सूर ने कर दिया—'सूर सारावली'। लीलारस का सागरीय विस्तार नवीन क्षितिजों का स्पर्श करता गया। आचार्य जी ने सम्प्रदाय-बोध के रूप में सूर का जो बौद्धिक संस्कार दिया था, उसका संस्पर्श तो सूर के साहित्य में किसी न किसी रूप में मिलता है, पर उनके द्वारा भावोन्नयन का जो रागात्मक अनुष्ठान सम्पन्न हुआ था, उसकी छाया इतनी विस्तृत हो गई कि सम्भवत: आचार्य जी भी चकित रह गये और सूर को सागर' कह उठे।" 'वाङ् मुक्तावली' के रचयिता श्री हरिराय के मतानुसार 'जहाज' का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार किसी जहाज में अनेकानेक वस्तुऐं भरी रहती हैं ऊसी प्रकार सूरदास जी के हृदय में भी पुष्टि मार्ग के उन्नयन के लिए नाना प्रकार के भाव भरे हुये हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग के सभी प्रमुख तत्वों का सूर ने अपने काव्य में वर्णन किया है।

सूरसागर के प्रणयन के मूल में यही पुष्टि मार्गीय सेवा-विधि ही प्रमुख रही है। सूर ने पुष्टि मार्गीय सिद्धान्तों की सुन्दर मनोवैज्ञानिक एवं काव्यमयी व्याख्या अपने ग्रंथ में प्रस्तुत की है। अतः गोस्वामी विट्ठलनाथ द्वारा उन्हें पुष्टिमार्ग का जहाज' कहना उचित ही है।

प्रश्न २८—"ईश्वर के प्रति महात्म्य ज्ञान पूर्वक सुदृढ़ और सतत प्रेम भक्ति है।" भक्ति की इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुये सूरकाव्य में सूर की भक्ति का रूप स्पष्ट कीजिये।

प्रश्न २९—सूरदास की भक्ति भावना पर प्रकाश डालिये।

प्रश्न ३०—"सूर में हमें भक्ति के सब प्रकार मिल जाते हैं। भक्ति के इन सभी प्रकारों का केन्द्र कृष्ण की जीवन–चर्या है।" भक्ति के विविध प्रकारों का निरूपण करते हुए इस कथन पर प्रकाश डालिये।

प्रश्न ३१—"सूरदास अपनी भक्ति भावना में दार्शनिक तत्व से दूर ही रहे। उनकी भक्ति भावना में विकास निरन्तर ही होता गया।" इस कथन की युक्तियुक्त विवेचना कीजिये।

प्रश्न ३२—सूरदास की भक्ति पद्धति का विवेचन करते हुये तत्कालीन परिस्थितियों में उसका महत्व प्रतिपादित कीजिए।

उत्तर—उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह सरलता से कहा जा सकता है कि सूरदास जी जन्मतः भक्त एवं कवि थे। भगवद् अनुग्रह प्राप्ति हेतु ही उन्होंने अपने हृदयगत भावों को जिस रूप में अभिव्यक्त किया है वह भक्ति ही है। भगवद् अनुग्रह का वर्णन आदि काल से होता आया है। वेदों तथा उपनिषदों में भी इसका उल्लेख मिल जाता है। मुण्डक उपनिषद में एक स्थान पर प्रभु की कृपा का महत्व दर्शाते हुये कहा गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य—
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँस्वाम।

अर्थात् आत्मा (ईश्वर) की उपलब्धि का कारण न तो प्रवचन, न मेधा और न बहुशास्त्र श्रवण ही है अपितु उसकी कृपा ही है और जिस पर यह कृपा (अनुग्रह) हो जाती है, वही उसे प्राप्त कर सकता है।

कठोपनिषद में भी इसी बात को इस प्रकार कहा गया है—

'तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मनः'

अर्थात् उसी भगवद् के प्रसाद से ही आत्मस्वरूप (ईश्वर) के दर्शन हो सकते हैं।

श्रुतियों तथा श्रीमद् भागवत् में भी इसका विशदता से उल्लेख किया गया है। सूरसागर का प्रेरक काव्य श्रीमद् भागवत् ही है। इस ग्रंथ में भगवद् अनुग्रह प्राप्ति के सभी साधनों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। भक्ति के सम्बन्ध में भागवत् कार का मत द्रष्टव्य है—

स वै पुसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
ऊहैतुक्य प्रतिहता ययाऽऽत्मा संप्रसीदति ॥

(श्रीमद् भागवत्—१।२।६)

अर्थात् मानव मात्र के लिये परम धर्म वही है जिसकी सहायता से उन (मानवों) में भगवान् के प्रति निष्काम एवं अव्यभिचारिणी भक्ति उत्पन्न हो। और इसी भक्ति से मानव का हृदय आनन्द स्वरूप भगवान् को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाया करता है।

भक्ति की बड़ी महिमा है इसकी महिमा का गुणगान वेद, उपनिषद, स्मृति, पुराणों ने तो गाया ही है इनके अतिरिक्त अनेक ऋषियों मुनियों, मनीषियों एवं आचार्यों ने भी इसका विशदता से उल्लेख किया है। श्रीमद् भागवत में स्वयं भगवान ने भक्त एवं उसकी भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन करते हुये कहा है कि मैं भक्तों के पीछे सदैव इसलिये घूमता रहता हूँ जिससे कि उन (भक्तों) की चरण रज प्राप्त कर पवित्र हो सकूँ :—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।'

भागवत् में कथित भगवान् के इन्हीं शब्दों का उल्लेख सूरसागर में कवि ने प्रस्तुत करते हुये कहा है—

भक्त विरह-कातर करुनामय, डोलत पाछैं लागे।
सूरदास ऐसे स्वामी कौं देहि पीठि सो अभागे ॥

सूरदास का अभिप्राय यह है कि भगवान् करुणामय हैं वे भक्तों के विरह में सदैव कातर बने रहते हैं तथा सदैव उन (भक्तों) के पीछे-पीछे घूमा करते हैं। निश्चय ही वे जन अभागे हैं जो ऐसे करुणामय प्रभु को भूले हुये हैं।

सूरकाव्य के प्रत्येक पद में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इसी भक्तिमार्ग की महत्ता एवं श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है।

भक्ति क्या है ?—अब सर्व प्रथम हम यह जानना चाहेंगे कि भक्ति किसे कहते हैं :

'भज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने के पश्चात् 'भक्ति' रूप बनता है। इस 'भज्' धातु के अनेक अर्थ हैं यथा—भजना, भजन करना, सेवा करना, अनुराग करना आदि।

शांडिल्य भक्ति सूत्र में भक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वर में अत्याधिक अनुरक्ति ही भक्ति कहलाती है।

नारद भक्ति सूत्र में भक्ति की व्याख्या करते हुये कहा गया है—

'सा त्वस्मिन् परम प्रेमा रूपा।' अर्थात् ईश्वर के प्रति अतिशय प्रेमा रूपा ही भक्ति है।

आचार्य वल्लभ ने भक्ति की व्याख्या करते हुये कहा है कि—"भगवान में महात्म्य पूर्वक सुदृढ़ स्नेह ही भक्ति है।"

रामानुजाचार्य के शब्दों में—'स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते' अर्थात् स्नेहपूर्वक ईश्वर में ध्यान लगाना ही भक्ति कहलाता है।

पूर्वोक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ एवं आनन्द प्रेम ही भक्ति कहलाती है। इसमें अनन्य प्रेम के अतिरिक्त आत्मसमर्पण तथा सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य की भावना भी सन्निहित रहती है।

'वैराग्य' भक्ति का मूल तत्व है। बिना वैराग्य के भक्त की ईश्वर में अनुरक्ति हो ही नहीं सकती। यही कारण है कि सूरदास ने अपने काव्य में इस तत्व को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। 'रे मन छाँड़ि विषय कौ रचिवौ' तथा 'सब तज हरि भज' में यही भाव दृष्टिगोचर होता है। विनय सम्बन्धी पदों में तो यह भाव निखर कर आया है।

तत्कालीन वातावरण—साहित्य समाज का दर्पण होता है। धार्मिक, राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का तत्कालीन साहित्य पर प्रभाव

पड़ता ही है, वह उससे अछूता नहीं रह सकता है। सूर के आविर्भाव के समय अर्थात् सोलहवीं शताब्दी में भक्ति योग का पूर्ण विकास हो चुका था। श्रीमद्भागवत् के पश्चात् इस भक्ति धारा के स्फुरण एवं पल्लवन में सबसे बड़ा हाथ रहा है आचार्य रामानुज, मध्व निम्बार्क और वल्लभ का। ये चारों ही मनीषी भक्त एवं दार्शनिक थे। जगद्गुरु शंकर के निर्गुण ब्रह्म-विषयक सिद्धान्त का खण्डन कर इन आचार्यों ने सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया। सूर के समय आचार्य वल्लभ ने इस क्षेत्र में प्रमुख भूमिका निभायी। यही कारण था कि उनके बताये हुये मार्ग का अनुसरण करते हुये तत्कालीन भारतीय जनमानस ने निर्गुण के स्थान पर सगुण को ही स्वीकार किया और जनता की इस सगुण भावना के प्रतीक बने भगवान कृष्ण और भगवान राम। सूर के काल में दिल्ली और आगरा में सामन्त-शाही फल-फूल रही थी। सामन्त लोग सुरा सुन्दरी में डूबे हुए थे। विलासिता का खुला प्रदर्शन हो रहा था। 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति के अनुसार जनता में भी विलासिता अपना स्थान जमाती जा रही थी। इन सभी बातों का संकेत हमें सूर काव्य के अध्ययन के पश्चात् सरलता से मिल जाता है। पुष्टि मार्गीय सेवा पद्धति में भी विलास सामग्री का किंचित् प्रयोग आवश्यक था फलतः यत्र तत्र सूर काव्य में हमें इसकी भी छाया देखने को मिल जाती है परन्तु इतना होने पर भी सूर ने इस प्रकार के वर्णनों को सदैव मर्यादित ही रखा है।

भक्ति के प्रकार—

१. साध्य साधन के आधार पर—जैसा कि हम कह चुके हैं कि सूर काव्य का प्रेरणा स्रोत श्रीमद्भागवत, माना जाता है। श्रीमद्भागवत् में भक्ति का सविस्तार विवेचन करते हुये भक्ति के साध्य और साधनों का उल्लेख किया है। साधन के अन्तर्गत मन की एकाग्रता, संसार से वैराग्य, ईश्वर का श्रवण, कीर्तन आदि आते हैं जब कि साध्य के अन्तर्गत भक्त की भगवान में अतिशय आसक्ति आती है।

साधन रूपा भक्ति को हम **वैधी, नवधा** अथवा **मर्यादा** के नाम से उच्चरित कर सकते हैं तो साध्य रूपा भक्ति को **प्रेमा, रागानुगा** अथवा **रागात्मिका** के नाम से उच्चरित कर सकते हैं।

२. **भक्त या उपासक की भावनाओं के आधार पर**—भक्त या उपासक के हृदयगत भावों की दृष्टि से भी भक्ति का महत्व आंका जाता है। इस दृष्टि से भक्ति तीन प्रकार की मानी गई है—(क) श्रद्धा भक्ति (ख) शुद्धा भक्ति और (ग) भावना भक्ति।

(क) **श्रद्धा भक्ति**—जब भक्त भगवान् के प्रति श्रद्धा रखते हुये उसके स्नेह में डूबकर उसके गुणों का बखान करने लग जाता है तब हम उसे श्रद्धा भक्ति के नाम से जानते हैं।

(ख) **शुद्धा भक्ति**—जब भक्त भगवान को निर्गुण अथवा सगुण रूप में स्वीकार कर उसके प्रति अनवरत प्रेम दिखाता है तब भक्ति के इस प्रकार को हम शुद्धा भक्ति के नाम से जानते हैं।

(ग) **भावना भक्ति**—जब भक्त एक को अनेक रूप में और अनेक को एक रूप में देखता है तथा इसी अनेकत्व की सेवा के माध्यम से एक की सेवा करने का प्रयास करता है। इस रूप में भक्त के हृदय में गहन एकान्त भाव का अनुभव हुआ करता है। भक्ति के इस रूप को हम भावना भक्ति के नाम से जानते हैं।

सूर के काव्य में हमें भक्ति के उपर्युक्त तीनों प्रकार देखने को मिल जाते हैं। सूर के काव्य में विशेषकर विनय के पदों में हमें भक्ति योग के शरणागति सिद्धान्त 'श्री कृष्ण: शरणंमम' (अर्थात् श्रीकृष्ण ही हमारी शरण हैं) की षड्विधियों का भी स्पष्ट रूप में उल्लेख मिल जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार भक्त अपना सर्वस्व त्यागकर, संसार से विमुख होकर भगवान् की भक्ति में अनन्य रूप से रत हो जाता है। शरणागति सिद्धान्त की षड्-विधियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) आनुकूल्यस्य संकल्प अर्थात् अनुकूल का संकल्प, (२) प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् अर्थात् प्रतिकूल (विरोधी) का परित्याग, (३) रक्षिष्यतीति विश्वासो अर्थात् भगवान् रक्षक है ऐसा विश्वास जाग्रत होना, (४) गोप्तृत्ववरणं अर्थात् भगवान् को अपना रक्षक मानना, (५) कार्पण्य अर्थात् भगवान् के प्रति दीन भाव का प्रदर्शन और (६) आत्म-निक्षेपण अर्थात् भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण।

१. **आनुकूल्यस्य संकल्प**—इस भाव का सूर ने कई स्थलों पर वर्णन किया है, यथा—

रे मन गोविन्द के ह्वै रहियै।
इहिं संसार अपार विरत ह्वै, जम की त्रास न सहियैं।
× × × ×
सूरदास भगवंत भजन करि अन्त बार कछु लहियैं।

२. **प्राप्तिकूल्यस्य वर्जनम्**—अर्थात् जो बातें हमारे मार्ग में रुकावट उत्पन्न करने वाली हैं यथा—विषय भोगों में आसक्ति आदि से विमुख होना। इस भाव का भी सूर ने अपने काव्य में कई स्थलों पर दिग्दर्शन कराया है, यथा—

रे मन, छाँड़ि विषय कौ रंचिवौ।
× × × ×
सूरदास प्रभु हरि-सुमिरन बिनु जोगी-कपि ज्यौं नचिवौ।

३. **रक्षिष्यतीति विश्वासो**—भगवान को ही अपना सब कुछ समझना उनके समान अन्य किसी को न समझना आदि इसी प्रकार के भाव इस शीर्षक के अन्तर्गत आते हैं जिनका सूर ने उल्लेख किया है, यथा—

हरि सौं ठाकुर और न जन कौं।
जिहिं जिहिं विधि सेवक सुख पावै, तिहि विधि राखत मन कौ।
× × × ×

४. **गोप्तृत्ववरणं**—भगवान् को अपना रक्षक मानते हुये भक्त का उनके चरणों में ही पड़े रहने का आग्रह इस विधि के अन्तर्गत आता है—

प्रभु, मैं पीछौ लियौ तुम्हारौ।
तुम तौ दीनदयाल कहावत, सकल आपदा टारौ।
× × ×
सूर कूर की याही विनती, लै चरननि मैं डारौ॥

(५) **कार्पण्य**—भगवान् के प्रति भक्त का दैन्य निवेदन ही इस विधि के अन्तर्गत आता है; यथा—

विनती करत मरत हौं लाज ।
नख सिख लौं मेरी यह देही, है पाप की जहाज ।
× × ×
नरकौं भज्यौ नाम सुनि मेरौ, पीठि दई जमराज ।
× × ×

(६) आत्म-निक्षेपण—इस विधि के अन्तर्गत भक्त भगवान् के प्रति पूर्णतया आत्मसमर्पण कर देता है यथा—

हमैं नन्दनन्दन मोल लिये ।
जन्म के फंद काटि मुकराए, अभय अजाद किये ।
× × ×
सब कोउ कहत गुलाम स्याम कौ, सुनत सिरात हिये ।
सूरदास कौं और बड़ौ सुख, जूठन खाइ जिये ॥

उपरि वर्णित शरणागति सिद्धान्त की षड् विधियों के अतिरिक्त हमें सूर के काव्य में वैष्णव सम्प्रदाय की विनय-सम्बन्धी सातों भूमिकाओं—(१) दैन्य, (२) मान मर्षता, (३) भय दर्शन, (४) भर्त्सना, (५) आश्वासन, (६) मनोराज्य तथा (७) विचारण का भी दर्शन हो जाता है। सूर के काव्य में विनय के सभी पद इन्हीं भूमिकाओं से युक्त दिखाई देते हैं। अब हम उपरि-वर्णित वैष्णव सम्प्रदाय की विनय-सम्बन्धी भूमिकाओं का क्रमशः वर्णन करना चाहेंगे।

(१) दैन्य—इस भूमिका के अन्तर्गत भक्त अपने को तुच्छ एवं हेय समझ लेता है तथा प्राप्त होने वाली असफलताओं एवं दुःखों के लिए वह अपने आप को ही उत्तरदायी मानता है, यथा—

हरि, हौं सब पतितनि को राउ ।
को करि सकै बराबरि मेरी, सो धौं मोहि बताउ ।
व्याध, गीध अरु पतित पूतना, तिनतैं बड़ौ जु और ।
तिनमें अजामिल, गनकादिक, उनमें मैं सिर मौर ।
× × ×
तजौ विरद कै मोहिं उधारौ, सूर कहै कसि फेंट ॥

(२) मान भर्सता—इस भूमिका के अन्तर्गत भक्त अपने अभिमान को पूर्णतया त्यागकर भगवान् की शरण में पहुँच जाता है, यथा—

हरि हौं, महा पतित अभिमानी।
परमारथ सौं बिरह, विषय रत, भाव भगति नहिं नैकहुँ जानी।
निसि दिन दुखित मनोरथ करि करि पावतहूँ तृष्ना न बुझानी।
× × ×
नवल किसोर जलद-तनु सुन्दर, बिसर्‍यो सूर सकल सुख-दानी॥

(३) भय दर्शन—पाप का ज्ञान हो जाने पर निराश्रित भक्त भगवान् की शरण प्राप्त करने के लिये लालायित हो उठता है, यथा —

अबकैं राखि लेहु भगवान।
हौं अनाथ बैठ्यो द्रुम डरियाँ, पारधि साधे बान॥
ताकैं डर मैं भाज्यो चाहत, ऊपर ढुक्यौ सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह, कौन उवारे प्रान॥

(४) भर्त्सना—भक्ति की प्रक्रिया में जब भक्त का मन सांसारिक विषय वासनाओं के प्रति भटकने लगता है तो वह अपने मन को फटकारते हुए कहता है, यथा—

तजौ मन हरि विमुखनि कौ संग।
जिनकैं संग कुमति उपजत है, परत भजन में भंग।
× × ×
सूरदास कारी कामरि पै, चढ़त न दूजौ रंग॥

(५) आश्वासन—भर्त्सना की भूमिका के पश्चात् आश्वासन की भूमि आती है। इसके अन्तर्गत भक्त अपने मन को धैर्य बँधाते हुये इष्टदेव के गुणों पर विश्वास करने की बात कहता है, यथा—

गोविन्द प्रीत सबन की मानत।
जिहिं जिहिं भाव करत जन सेवा, अन्तर की गति जानत।
× × ×
सूरदास करुना-निधान-प्रभु जुग-जुग भक्त बढ़ाये॥

(६) **मनोराज्य**—आश्वासन की भूमिका के पश्चात् मनोराज्य की भूमिका आती है। इसके अन्तर्गत भक्त के मन में अनेकानेक भावनाएँ जाग्रत होती रहती हैं वह भगवान की कृपा से चारों पदार्थ अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त कर लेना चाहता है, यथा—

कहा कमी जाके राम धनी।
मनसा-नाथ मनोरथ पूरन, सुख निधान जाकी मौज घनी।
अर्थ, धर्म, अरु काम, मोक्षफल चारि पदारथ देत गनी।
× × ×
सूर कहत जे भजत राम कौं, तिनसौं हरि सौं सदा बनी॥

(७) **विचारण**—इस भूमिका के अन्तर्गत भक्त अपने मन को विषय वासनाओं एवं माया के बन्धनों से दूर हटाकर भगवान के चरणों मे ले जाता है—

रे मन मूरख जन्म गँवायौ।
करि अभिमान विषय सों राच्यौ स्याम सरन नहिं आयौ।
यहि संसार फूल सेंवर को सुन्दर देखि भुलान्यौ।
× × ×
कहै 'सूर' भगवन्त भजन बिनु सिर धुनि धुनि पछतायो।

सूर एक अनन्य भक्त थे। भक्ति की महत्ता दर्शाने में उन्होंने कोई भी कोर-कसर नहीं छोड़ी है। सम्पूर्ण सूर-साहित्य उनकी इसी भक्ति की अनन्यता से भरा हुआ है। विनय के पदों में यह अनन्य भक्ति-भाव कूट-कूटकर भरा है।

मेरौ मन अनन्त कहाँ सुख पावैं।
जैसे उड़ि जहाज को पच्छी, फिरि जहाज पै आवै।
कमल नैन कौं छाँड़ि महातम, और देव कौं ध्यावै।
परम गंग कौं छांड़ि पियासौ, दुरमति कूप खनावै।
× × ×
सूरदास-प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै।

सूर की कविता में उनके मन की वास्तविक अनुभूति व्यक्त हुई है और जिस कविता में हृदयानुभूति होती है वह कविता जीवन्त एवं सर्वांगपूर्ण

मानी जाती है। सूर ने अपनी कविता में जहाँ अनन्यता, आत्मनिवेदन एवं वैराग्य भावना को अंकित किया है वहाँ उसमें उपालम्भ, साग्रह निवेदन एवं उद्‌बोधन के भावों को भी सम्यक् स्थान मिला है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास की भक्ति भावना का एकमात्र लक्ष्य भगवदनुग्रह-ही है और इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने साधन रूप में भक्तियोग में निर्धारित शरणागति की षड् विधियों एवं वैष्णव सम्प्रदाय की विनय सम्बन्धी सातों भूमिकाओं को स्वीकार किया है। और इस साधना पथ पर अग्रसर होने के लिए उन्होंने अनन्यता आत्मनिवेदन, वैराग्य, उपालम्भ, साग्रह निवेदन तथा उद्‌बोधन को भी समाहित किया है।

श्रीमद्‌भागवत में नवधा भक्ति का उल्लेख मिलता है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

(श्रीमद् भागवत—७।५।२३)

अर्थात् १. श्रवण, २. कीर्तन, ३. स्मरण, ४. पाद सेवन, ५. अर्चन, ६. वन्दन, ७. दास्य, ८. सख्य, और ९. आत्मनिवेदन।

भक्ति के उपर्युक्त प्रकारों में से सूरदास में केवल दो ही प्रकारों का उल्लेख मिलता है जो क्रमशः दास्य और सख्य के नाम से अभिहित होते हैं। सूर में इन दो भक्ति प्रकारों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार भी उपलब्ध होता है जो वात्सल्य भक्ति के नाम से जाना जाता है। यद्यपि नारद-भक्ति सूत्र में इसका उल्लेख अवश्य मिलता है पर भक्ति के इस प्रकार को स्पष्ट रूपेण मान्यता देने वाले सर्वप्रथम सूर ही हैं। इतना ही नहीं इसी वात्सल्य भक्ति के कारण उनका सूर सागर विश्व साहित्य की एक अनुपम कृति बन गई है। कतिपय विद्वान् सूर के काव्य में दास्य और सख्य भगवद् भक्ति के अतिरिक्त भक्ति के अन्य प्रकार एवं आसक्तियों का भी उल्लेख करते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने आसक्ति के प्रकार भेदों की दृष्टि से सूर-कृत पदों का निम्नलिखित रूप में वर्गीकरण प्रस्तुत किया है—

१. गुण माहात्म्यासक्ति	भ्रमर लीला।
२. रूपासक्ति	दान लीला।

३. पूजासक्ति	गोवर्धन धारण ।
४. स्मरणसक्ति	गोपिका वचन परस्पर
५. दास्यासक्ति	मुरली स्तुति (विनय-पद)
६. सख्यासक्ति	गोचारण
७. कान्तासक्ति	गोपिका विरह
८. वात्सल्यासक्ति	यशोदा-विलाप
९. आत्मनिवेदनासक्ति	भ्रमर-गीत
१०. तन्मयतासक्ति	"
११. परम विरहासक्ति	"

महाप्रभु आचार्य वल्लभ ने नवधा भक्ति को प्रेम स्वरूपा-भक्ति का साधन माना है। और इस प्रेम स्वरूपा भक्ति की प्राप्ति हरि कृपा से ही संभव है। भक्ति के इस प्रकार से भक्त विषय वासनाओं एवं कामादि से विमुख होकर भगवद् भजन में रत हो जाता है। भक्त के हृदय में प्रेमी (भगवान्) के अतिरिक्त अन्य किसी के लिये भी स्थान नहीं होता है। तभी तो गोपियों ने स्पष्ट शब्दों में उद्धव से कह दिया था—

नाहिन रह्यो मन में ठौर।
नन्द नन्दन अछत उर में आनिये क्यों और।

आत्मनिवेदन इस भक्ति की अन्तिम परिणति मानी जाती है। इस प्रकार की भक्ति के लिए अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं है मात्र भगवान् की लीला सुनने एवं सुनाने से यह प्राप्त हो जाया करती है, सूर के शब्दों में—

'जो यह लीला सुनै सुनावै, सूर सो प्रेम भक्ति को पावै।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि सूरदास की भक्ति भावना सैद्धान्तिक रूप में पूर्ण एवं पुष्ट है। उन्होंने भक्ति के जिस किसी भी सिद्धान्त को लिया है उसमें वे पूरे तरह से उतरे हैं। यही कारण है कि वे जहाँ एक ओर श्रेष्ठ भक्त हैं वहाँ उच्चकोटि के कवि भी हैं। डा० हरवंशलाल शर्मा के मत में तो सूर की भक्ति भावना के अन्तर्गत भगवद्-भक्ति एवं वल्लभ सम्प्रदाय की मर्यादा का सम्य क्रूपेण परिपालन

हुआ है। उन्हीं के शब्दों में—"सूरदास जी की भक्ति—साधना जहाँ एक ओर भगवत् की भक्ति से प्रभावित है, वहाँ दूसरी ओर कवि वल्लभ सम्प्रदाय की मर्यादा का भी यथावत् पालन करता है।" निस्सन्देह सूर-काव्य में हमें भक्ति के सभी प्रकारों का दर्शन हो जाता है।—

प्रश्न ३३—सूरदास की विनय भावना पर प्रकाश डालिये।

प्रश्न ३४—सूरदास की विनय का आधार क्या है?

प्रश्त ३५—सूरदास की विनय भावना की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि क्या है?

प्रश्न ३६—विनय के पदों के आधार पर सूर-दर्शन पर युक्तिपूर्ण प्रकाश डालिये।

उत्तर—वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व सूरदास जी जिन पदों को गाया करते थे उनमें भगवद्-भक्ति कूट-कूट कर भरी हुई है। सूर के इन पदों को ही हम विनय के पद कह सकते हैं। इन पदों में जगत की नश्वरता, वैराग्य, दास्य. दैन्य, पश्चाताप, उद्बोधन, भर्त्संना, विचारणा, सत्संगति-महिमा, भगवान को ही सर्वस्व समझना आदि भावों का चित्रण हुआ है।

सूर ने विनय का आलम्बन कृष्ण को माना है और वह कृष्ण निर्गुण, निराकार न होकर सगुण साकार है। सूर के मत में यों तो भगवद्-प्राप्ति के दोनों ही मार्ग हैं पर निर्गुण (ज्ञान) मार्ग सगुण (भक्ति) मार्ग की अपेक्षा कठिनतर है फलतः वे निर्गुण की तुलना में सगुण को ही श्रेयस्कर घोषित करते हैं—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै।
परम स्वादु सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै॥
मन वानी को अगम अगोचर जो जाने सो पावै।
रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुन लील पद गावै॥

सूर की दृष्टि में निर्गुण और सगुण दोनों एक ही हैं लेकिन सगुण निश्चय ही निर्गुण की तुलना में गम्य एवं साधार है तभी तो निर्गुण को सब प्रकार से अगम्य मानकर ही वे सगुण लीला गाने को तत्पर होते हैं।

सूरसागर के प्रथम स्कन्ध में विनय सम्बन्धी पद संकलित हैं। इन्हीं को आधार बनाकर गीता प्रेस गोरखपुर ने सम्वत् २० २ में 'सूर-विनय-पत्रिका' का प्रकाशन किया है। इस पुस्तक में विनय सम्बन्धी ३०९ पद संकलित हुए हैं। पुस्तक के महत्त्व एवं उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए प्रकाशक ने अपने नम्र निवेदन में कहा है कि—"इसमें वैराग्य, संसार की अनित्यता, विनय, प्रबोध तथा चेतावनी के सुन्दर-सुन्दर पद हैं, जो उपलब्ध 'सूरसागर' की प्रतियों से ही चुने गये हैं।"

सूर वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व दास्य भाव में ही डूबे हुए थे। प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि वल्लभाचार्य जी से प्रथम भेंट होने के समय सूर ने दास्य-भावपरक विनय के पदों को ही गाया था, यथा—

हरि हौं सब पतितन कों नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी और नहीं कोउ लायक।

अन्यत्र भी

प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ।
और पतित सब द्यौस चारि के हौं तो जनमत ही कौ ॥

चौरासी वैष्णव वार्ता से भी यही बात पुष्ट होती है कि सूरदास जी प्रारम्भ में दास्य भक्ति की ओर झुके हुए थे और उसी बीच उन्होंने ईश्वर भक्ति विषयक श्रेष्ठ विनय के पदों का निर्माण किया था। इन विनय के पदों में उन्होंने अपने हृदय को अपने कृष्णदेव के समक्ष खोलकर रख दिया है। लेकिन वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् उनकी भक्ति में सख्य एवं वात्सल्य भावों का समावेश मिल जाता है।

दैन्य भाव वर्णन में सूर तुलसी से किसी भी प्रकार कम नहीं बैठते हैं। 'सूर-विनय-पत्रिका' एवं 'तुलसी-विनयपत्रिका' दोनों एक ही कोटि की रचनाएँ हैं। विनय सम्बन्धी पदों की रचनायें तुलसी के पश्चात् सूर का ही

स्थान है। इसी बात को पुष्ट करते हुए 'सूर पंचरत्न' के लेखक लाला भगवान दीन और प्रो० मोहन वल्लभ पन्त ने कहा है कि—"सूर के विनय के पद बड़े स्वाभाविक हैं। सूर ऐसे सच्चे वैरागी के हृदय से ही ऐसे उद्‌गार निकल सकते हैं। उनका प्रत्येक शब्द भगवद्‌भक्ति-जलसिक्त हृदय से निकलता है। तुलसी के बाद सूरदास ही 'विनय' सम्बन्धी पद रचने में सफल हुए हैं।"

सूर के विनय के पदो में एक सच्चे भक्त हृदय की आर्त्त पुकार है। सर्वत्र भगवान् से मुक्ति की याचना करते हैं। वे इस असार संसार से दुःखी हैं कहीं-कहीं तो उन्हें अपने इष्ट को चुनौती तक दे देनी पड़ती है परन्तु इसके पीछे सूर का यही मनोविज्ञान कार्य करता है कि येन केन प्रकारेण भगवान् भक्त की आर्त्त पुकार सुन ले और उसको इस आवागमन के बन्धन से छुटकारा दिलादें।

बाबू गुलाबराय जी ने इसी मत का समर्थन करने हुए कहा है कि— "उनके पदों में दैन्य और अक्खड़पन दोनों ही दिखाई देते हैं। वह अक्खड़-पन मुँह लगे दास का सा है जो अपने स्वामी से भी दो-चार खरी-खोटी कह सकता है।" प्रस्तुत पद से यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जायेगी।

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै तुम ही, कै हम ही माधौ, अपने भरोसे लरिहौं।

इस पद के विषय में डा० चन्द्रभान रावत ने कहा है कि—"दास्य भक्ति वाले किसी भक्त ने भगवान् को लड़ने के लिए इस प्रकार की चुनौती नहीं दी होगी। वह आज अपने भरोसे भगवान् से लड़ना चाहता है।"१

भगवद्‌भक्ति प्राप्त करने हेतु हमें भगवान् के स्वभाव को जानना होता है अतः सूरदास जी भगवान् के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि भगवान् श्री कृष्ण भक्त-वत्सल हैं वे शरणागत के रक्षक हैं दीनों पर अनुग्रह करने वाले हैं उनके कष्टों को दूर करने वाले हैं।

---

१ सूर साहित्य ; नव मूल्यांकन, पृ० ३७६

भगवान की भक्त-वत्सलता का परिचय प्रस्तुत पद से हमें मिल जाता है।

अब कैं राखि लेउ भगवान।
हौं अनाथ बैठ्यो द्रुम डरियाँ पारिधि साधे बान।
ताके डर मैं भाज्यो चाहत ऊपर ढुक्यो सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह कौन उबारे प्रान।
सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी कर छूट्यौ सधान।
सूरदास सर लग्यौ संचानहिं जय जय कृपानिधान।

भगवान् की शरणागत-वत्सलता निम्नलिखित पद में द्रष्टव्य है—

सरन गए को कौन उबार्यो।
जब जब भीर परी संतनि कौं चक्र सुदरसन तहाँ संभार्यौ।

इसी प्रकार वे भक्तों के कष्टों को हरण करने वाले हैं—

जैसे तुम गज कौ पाउँ छुड़ायौ।
अपने जन कौं दुखित जानि कैं पाउँ पियादे धायौ।
जहँ तहँ गाढ़ परी भक्तनि कौं, तहँ तहँ आपु जनायौ।
भक्ति हेतु प्रह्लाद उबार्यौ, द्रौपदि चीर बढ़ाओ॥

वे दीनों पर अनुग्रह करने वाले हैं—

स्याम गरीबनि हूँ के ग्राहक।
दीनानाथ हमारे ठाकुर, साँचे प्रीति निवारक॥

इतना ही नहीं वे तो यहाँ तक कह डालते हैं कि जिस पर भगवान् का अनुग्रह होता है वही वस्तुतः कुलीन एवं सुन्दर है—

जा पर दीनानाथ ढरैं।
सोई कुलीन बड़ो सुन्दर सोई जापर कृपा करैं॥

भक्त भगवान् की कृपा पाकर आत्म विभोर हो जाता है उसे किसी वस्तु की कमी नहीं रहती है—

कहा कमी जाके राम धनी।
मनसा-नाथ मनोरथ पूरन, सुख निधान जाकी मौज धनी।

× × × ×

सूर कहत जे भजत राम को तिनसौं हरि सदा बनी ।।

इतना ही नहीं भगवान् का भक्त अपने आगे किसी को कुछ नहीं गिनता है—

हरि के जन की अति ठकुराई ।
महाराज, दिविराज, राजमुनि देखत रहे लजाई ।।

भगवद् अनुग्रह से ही भक्त का हृदय शुद्ध एवं पवित्र हो जाता है । इस शुद्धि एव पवित्रता के साधनों में नाम-स्मरण, वैराग्य, गुरु-भक्ति, सत्संग, आत्म-प्रतारणा आदि प्रमुख हैं । इन्हीं का अनुसरण करते हुये भक्त अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो जाता है । इसी संदर्भ में वह माया एवं तृष्णा से छुटकारा दिलाने की भी ईश्वर से प्रार्थना करता है, क्योंकि ये दोनों ही ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में सबसे बड़े बाधक हैं—

अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल ।
माया को कटि फेंटा बाँध्यो लोभ तिलक दियो भाल ।
कोटिक कला काछि दिखराई, जल थल सुधि नहि काल ।
सूरदास की सबै अविद्या, दूरि करौ नन्दलाल ।।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सूर अपने विनय के पदों में सर्वत्र भगवान् से भक्ति की याचना करते हैं । उनके इन पदों में सच्चे भक्त के हृदय की मनोहर झाँकी के दर्शन होते हैं। इनमें सर्वत्र विनय, वैराग्य, दैन्य, आत्म-समर्पण, निरहंकारिता एवं उद्‌बोधन आदि भावनाओं का सम्यक् दर्शन हो जाता है । वस्तुत: यही उनका दर्शन है और इसी में उनके मनोविज्ञान की सच्ची झाँकी हमें मिल जाती है ।

प्रश्न ३७—हिन्दी काव्य में पद साहित्य के विकास को देखते हुए उसमें सूर का स्थान निर्धारित कीजिये ।

प्रश्न ३८—गीति साहित्य की परम्परा में सूर के गीति-साहित्य का स्थान निश्चित करते हुये सूर के गीति-साहित्य के गुण बताइये तथा रचना-शैली के दृष्टिकोण से सूर के गीति-साहित्य का वर्गीकरण कीजिये ।

प्रश्न ३९—"सूर की रचना जयदेव और विद्यापति के गीत काव्यों की शैली पर है जिसमें सुर और लय से सौन्दर्य या माधुर्य का भी रस परिपाक

में बहुत कुछ योग रहता है।" इस कथन का युक्तियुक्त विवेचन कीजिये।

प्रश्न ४०—हिन्दी गीति-काव्य की दृष्टि से सूर काव्य की आलोचना कीजिये।

प्रश्न ४१—गीति-काव्य के वास्तविक रूप और महत्व की समीक्षा करते हुये सूर के समकालिक गीत कवियों में सूर का स्थान निर्धारित कीजिये।

प्रश्न ४२—"सूर सागर किसी चली आती हुई गीति-काव्य परम्परा का चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।" इस उक्ति की विवेचना करते हुये सूर के गीति-काव्य पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—गीति काव्य किसे कहते हैं—भावात्मक व्यक्तित्व प्रधान काव्य को ही गीति काव्य कहा जाता है। इसमें कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रविष्ट कर अपने व्यक्तिगत अनुभवों और भावनाओं से प्रेरणा लेकर वर्ण्य-विषय की भावात्मक अभिव्यंजना करता है। वास्तव में इस प्रकार के काव्य के अन्दर कवि की वैयक्तिक भावनाओं, अनुभूतियों एवं आदर्शों का ही प्राधान्य रहता है। वैयक्तिक भावनाओं एवं अनुभूतियों के प्राधान्य के कारण ही इनमें रागात्मक या गीतात्मकता आ जाती है। व्यक्तिगत भावनाओं को काव्योचित भाषा में व्यक्त करने के कारण ही गीतिकाव्य का जन्म हुआ करता है। इस गीतिकाव्य में गीतात्मकता का प्राधान्य होने के कारण इसे 'गेय-मुक्तक' भी कहा जाता है।

गीतिकाव्य के तत्व—विद्वानों द्वारा गीतिकाव्य के चार प्रमुख तत्व माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) आत्माभिव्यक्ति।

(२) संगीतात्मकता।

(३) अनुभूति की व्यापकता।

(४) भावों की एकता।

१. आत्माभिव्यक्ति—जैसा कि हम कह चुके हैं कि गीतिकाव्य में वैयक्तिक भावनाओं की ही प्रधानता रहती है उसमें तो कवि की वैयक्तिक

अनुभूतियों एवं भावनाओं का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण आत्माभिव्यक्ति को गीति काव्य का सबसे प्रमुख तत्व माना जाता है। बाबू गुलाबराय के शब्दों में—"गीति-काव्य प्रायः मुक्तक ही होता है। भावातिरेक उसकी प्रेरक शक्ति है। सक्षिप्तता और संगीत उसमें मुख्य आकारिक गुण हैं। आत्म निवेदन भावातिरेक से सम्बन्ध उसका विषयगत लक्षण है।"

२. **संगीतात्मकता**—गीतिकाव्य में गीतात्मकता या गेयता भी उसका अनिवार्य तत्व है। गीतात्मकता के कारण ही उसमें संगीतात्मकता का स्वाभाविक रूप से समावेश हो जाता है।

३. **अनुभूति की व्यापकता**—अनुभूति की व्यापकता जितनी अधिक होगी गीतिकाव्य उतना ही उधिक प्रभावोत्पादक होगा। अतः यह भी गीतिकाव्य का एक अनिवार्य तत्व माना जाता है।

(४) **भावों की एकता**—गीति काव्य में आदि से लेकर अन्त तक एक ही भाव विद्यमान रहता है। भावों की इसी एकता के कारण गीति अपने आप में पूर्ण होता है।

गीति साहित्य की परम्परा एवं उसमें सूर का स्थान—गीति साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। ऋग्वेद एवं सामवेद की ऋचाएँ मूलतः गीतात्मक ही हैं। वैदिक काल के पश्चात् लौकिक संस्कृत साहित्य में भी महाकवि कालिदास आदि के द्वारा भी इसका सम्यक् पल्लवन हुआ है और आगे चलकर गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव में इसका पूर्ण उत्कर्ष देखने को मिल जाता है। आगे चलकर गीतकार जयदेव का प्रभाव हमें हिन्दी के गीतिकाव्य पर स्पष्ट रूपेण परिलक्षित होता है। विद्यापति और चण्डीदास ने जयदेव की गीति परम्परा को आगे बढ़ाते हुये लोक-भाषा में कृष्ण लीला विषयक पदों को गा गाकर सुनाया है। कालान्तर में इसी परम्परा का पल्लवन किया है हमारे ब्रजभाषा के कवि सूरदास ने निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सूर का गीति–साहित्य वैदिक काल से चली आती हुई परम्परा का ही उत्कृष्ट रूप है। डा० चन्द्रभान रावत ने कहा है कि—"सूर के गीत परम्परा से कटे हुये नहीं है। एक समृद्ध पृष्ठभूमि पर सूर के गीत अंकित हैं।" इसी बात को और अधिक

स्पष्ट करते हुये डा० मुन्शीराम शर्मा 'सोम' ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"सूर की यह गीति शैली जयदेव, गोवर्धनाचार्य, विद्यापति और कबीर से धरोहर के रूप में प्राप्त हुई थी। वीर गाथाकाल में भी प्रशस्तियाँ तथा वीर गीत लिखे जाते थे, परन्तु उनका कोई भी प्रभाव सूर की रचना में परिलक्षित नहीं होता, हाँ कबीर आदि सन्तों की वाणी का सूर काव्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उनके विनय सम्बन्धी पद आचार्य वल्लभ से ब्रह्म सम्बन्ध प्राप्ति के पूर्व ही लिखे जा चुके थे। इन पदों में सन्तों की पदावली का प्रतिबिम्ब प्रभूत मात्रा में है। जैसे ही शब्द, वैसी ही भाव-धारा, वैसा ही वाक्य-विन्यास, जैसा निर्गुण पन्थ की रचनाओं में है, सूर की इन पूर्व-कालीन कृतियों में उपलब्ध होता है।"

सूरदास की शैली गीति पदों की है। उनकी इस शैली पर प्रत्यक्षतः जयदेव एवं विद्यापति का प्रभाव अधिक रूप में दृष्टिगोचर होता है। प्रसिद्ध गीतिकार जयदेव ने अपने आदर्श को व्यक्त करते हुये कहा है—

यदि हरि स्मरणे सरसं मनो,
यदि विलास कलासु कुतुहलम्।
सरस-कोमल कान्त पदावलीं,
भज तदा जयदेव सरस्वतीम्॥

जयदेव के इसी आदर्श को सम्मुख रखकर मैथिल कोकिल विधापति ने भी कृष्ण काव्य का सृजन किया है। उनका भी कृष्ण काव्य गीतात्मकता एवं संगीतात्मकता से पूर्णतया ओत प्रोत है। यथा—

नन्दक नन्दन कदम्बक तरुतर, थिरे धिरे मुरली बजाव।
समय संकेत निकेतन बइसल बेरि-बेरि बोलि पठाव।
सामरि! तोरा लगि अउखने विकल मुरारि।
जमुनाक तिर उपवन उदवेगल, फिरि फिरि ततहि निहारि॥

सूरकाव्य के विवेचन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि सूर के ऊपर इन्हीं दो कावियों का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है, सूर के काव्य के यही आदर्श रहे हैं परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सूर का अपना कुछ भी नहीं है केवल उसमें उनका अन्धानुकरण मात्र ही है। वस्तु स्थिति तो

यह है कि जयदेव और विद्यापति से प्रेरणा लेने पर भी सूर का अपना व्यक्तित्व अलग से देखा जा सकता है। शृंगार भावना तथा कोमल कान्त पदावली के चयन की प्रेरणा निश्चय ही सूर ने इन्हीं कवियों से ली है परन्तु उस पर भी उनकी अपनी छाप है। डा० मुन्शीराम शर्मा ने उचित ही कहा है कि—"सूर की रचना में जो व्यंग्य, सजीवता, स्वाभाविकता, चित्रमयता एवं भावगाम्भीर्य पद-पद पर प्राप्त होते हैं, वे विद्यापति में कहाँ? जयदेव में कहाँ? यहाँ सूर सबसे पृथक् खड़ा है। उनका मातृ हृदय का चित्रण, संयोग एवं विप्रलम्भ शृंगार के नाना मनोरथ रूप, बाल लीला के मनोमुग्धकारी दृश्य अन्यत्र कहाँ दृष्टिगोचर होते हैं? सूर की सी सूक्ष्म संकेत प्रणाली तो अन्य कवियों में खोज करने से मिलेगी।"

गीति साहित्य की परम्परा में सूर का स्थान बहुत उच्च माना जाता है। सूर ने यह परम्परा अपने पूर्ववर्ती जयदेव एवं विद्यापति आदि से प्राप्त की है। हिन्दी साहित्य में यों तो गीति काव्य परम्परा वीर गाथा काल से ही प्रारम्भ हो जाती है उस समय के चारण लोग अपने आश्रयदाता राजाओं को यशोगान के द्वारा युद्ध क्षेत्र में भेजने को प्रोत्साहित किया करते थे। परन्तु वीर-गाथा काल की इस परंपरा का सूर से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। कालान्तर में वीरता के लोप के साथ ही साथ वीर गीतों का भी लोप हो गया और विजेताओं द्वारा ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी गयीं जो गीति साहित्य के पूर्णतया अनुकूल थीं। डा० शिवप्रसाद सिंह ने भक्ति काल की उन परिरस्थितियों का अनुशीलन करते हुये कहा है जो गीति साहित्य के लिये पूर्णतया अनुकूल थीं। उनका कथन है कि—'मुसलमानी आक्रमण से क्षुब्ध जन-मानस, भक्ति का नवोन्मेष, रूढ़ि-विरोधी विचारों की क्रान्तिकारी मान्यताएँ तथा सामन्तवादी संस्कृति के विघटन से उत्पन्न नई वैयक्तिक चेतना इन गीतों के निर्माण में पूर्णतः सहायक हुई है।"

हिन्दी की गीति-साहित्य परम्परा में विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी और मीरा आदि का नाम आता है। और आधुनिक युग में इस कड़ी में नाम आता है जयशंकर प्रसाद, पन्त, महादेवी आदि का। यों तो गीति-काव्य के इन सभी कवियों में आत्माभिव्यक्ति की प्रबल भावना दृष्टि-गोचर होती है परन्तु इस आत्माभिव्यक्ति में भी अनुभूति की तीव्रता की

दृष्टि से अन्तर दृष्टि गोचर होने से यह आत्माभिव्यक्ति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हो जाती है। जहाँ विद्यापति में हमें जीवन की प्रेममयी अनुभूति के कबीर में आध्यात्म तत्व के सहज एवं सरल वर्णन के, तुलसी में विचारात्मकता के और मीरा में तीव्र प्रेमानुभूति की मार्मिक व्यंजना के दर्शन होते हैं तथा प्रसाद एवं महादेवी में हमें जीवन की गहन अनुभूतियों का दार्शनिक रूप देखने को मिलता है वहाँ सूर के काव्य में हमें वैयक्तिक अनुभूतियों एवं संगीत का सुन्दर समन्वय सरल भाषा में देखने को मिल जाता है। सूर के गीतों का महत्व प्रतिपादित करते हुए आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने कहा है कि "हम देखते हैं कि उनकी कविता गेय पदों के रूप में है, जैसे एक लीला के अनेक छोटे-बड़े चित्र खींच लिए गये हों। इन पदों में शब्द की साधना के साथ-साथ स्वर की भी परम उत्कृष्ट साधना है। जैसे शुद्ध भावनामय, लयकारी ये पद हैं वैसा ही तन्मयकारी इनका संगीत है। × × × गीतिकाव्य की दृष्टि से ये पद उत्तम कोटि से कहीं नीचे नहीं उतरते।"

आगे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी सूर के इन गीति-पदों का महत्व बतलाते हुए कहा है कि—"इन पदों के सम्बन्ध में पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होते हुए भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं। यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की श्रृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठन सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी आती हुई गीति काव्य परम्परा का, चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"

निस्सन्देह यदि सम्पूर्ण पद—साहित्य का विवेचन किया जाय तो हमें ज्ञात हो जायेगा कि गीति परम्परा में सूर का स्थान सर्वोपरि है। वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् सूर ने गीतों की जो अनवरत धारा प्रवाहित की उससे सूर का सागर पूर्णतया भर गया। विश्व साहित्य में इतने अधिक पदों का निर्माण शायद ही किसी ने किया हो। अपने इन्हीं पदों के माध्यम से सूर ने ब्रज भूमि तथा ब्रज भाषा को उच्चता के शिखर पर आरूढ़ कर दिया निश्चय ही गीति-परम्परा मे सूर अनुपम, अद्वितीय हैं।

सूर के गीत साहित्य की विशेषताएँ—सूर के गीति साहित्य की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

(१) आत्माभिव्यजना या आत्म निवेदन।

(२) संगीतात्मकता या गीतात्मकता।

(३) अनुभूति की व्यापकता

(४) भावों की एकता

(५) वर्णनात्मकता

(१) **आत्माभिव्यंजना या आत्म निवेदन**—गीति काव्य की शैली आत्माभिव्यंजन की सर्वोत्कृष्ट पद्धति है। सूर ने अपना समस्त जीवन अपने आराध्य श्रीकृष्ण के समक्ष अपने सुख, दुख, क्षोभ, उत्साह आदि भावों के नम्र निवेदन में ही व्यतीत किया है। श्रीकृष्ण की सभी लीलाओं के वर्णन में उनकी आत्माभिव्यंजना स्पष्ट रूपेण दृष्टिगोचर हो जाती है। श्रीकृष्ण के प्रति सब कुछ अर्पित करने की भावना से ही वे काव्य सृजन में प्रवृत हुए थे और यह भावना आत्माभिव्यंजन शैली के द्वारा ही व्यक्त हो सकती थी फलतः उनका काव्य आत्माभिव्यंजन अथवा आत्मनिवेदन प्रधान हो गया है। डॉ० मनमोहन गौतम के शब्दों को प्रस्तुत कर हम अपने कथन की पुष्टि करना चाहेंगे। उन्होंने कहा है कि—"सूरदास जी की प्रवृति आत्मनिवेदन की ओर अधिक उन्मुख थी। उनका समस्त जीवन अपने आराध्य के सम्मुख अपने सुख दुःख, हर्ष-विषाद, उत्साह और क्षोम आदि के नम्र निवेदन में व्यतीत हुआ। महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने से पूर्व वे सन्त परम्परा के स्वरचित गीत गाया करते थे। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पश्चात् उन्हें श्रीनाथ जी के सम्मुख कीर्तन करने और आत्मनिवेदन के रूप में पद गाने का जीवन-कार्य मिला। इससे उनके जीवन-क्रम में किंचित मोड़ मात्र ही हो सका। अब भी उन्हें पहले जैसा ही आत्म-निवेदन और आत्मानुभूति का प्रकाशन करना था। भेद केवल इतना हुआ कि अब उन्हें कृष्ण-लीला का सहाय्य उपलब्ध हो गया। सन्तों जैसा जो तपस्यामय जीवन उन्होंने व्यतीत किया था, उससे उनके सहज स्निग्ध हृदय को शान्ति न मिली थी। अवचेतन में स्थित सरस-वृत्ति कृष्ण लीला की अनुकूल भाव-भूमि पाकर तीव्र धारा में उमड़ पड़ी। 'रूपरेख

गुन जाति जुगुति बिनु' में उनका मन निरालम्ब था। कृष्ण की सरस लीलाओं का आश्रय पाकर उनकी समस्त अवरुद्ध मनोवृत्तियाँ 'कृष्णार्पणमस्तु' बोलकर शत-शत धाराओं में प्रवाहित हो उठीं।

गोप, गोपांगना, और व्रजांगना के माध्यम से सूरदास जी अपने ही हृदयोद्गार का व्यक्तीकरण करने लगे। उनकी दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य-भक्ति कृष्ण की विविध लीलाओं में साकार हो उठी। विनय, बधाई, क्रीड़ा, रस-केलि और विरह के पदों में उनका उल्लसित हृदय झलक गठा।" कहने का अभिप्राय यह है कि सूर ने कृष्ण लीला का गान अवश्य किया है पर उसमें वर्ण्य-विषय की उतनी प्रधानता नहीं है जितनी आत्माभिव्यंजना की। चाहे वह वर्णन भक्ति का हो, रूप का हो, रासलीला का हो, मुरली का हो, मानलीला का हो या दान-लीला का सर्वत्र ही आत्माभिव्यंजना या आत्मनिवेदन की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। प्रस्तुत पद से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिरि जहाज पर आवै।

× × × ×

सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै।।

(२) **संगीतात्मकता या रागात्मकता**—सूर काव्य का निर्माण अधिकांश में कीर्तन हेतु ही हुआ है फलतः उसमें सगीतात्मकता का अपूर्व योग मिलता है। इन पदों में राग और ताल स्वर और लय का विशेष ध्यान रखा गया है। कवि का उद्देश्य छन्द रचना तक ही सीमित न रहकर राग-रागनियों एवं स्वर लय आदि को उचित रूप में प्रस्तुत करने का भी रहा है। यही कारण है कि सूर के पदों में संगीतात्मकता एवं रागात्मकता की प्रधानता है। इस दृष्टि से उनका काव्य सर्वोत्तम माना जाता है। शास्त्रीय दृष्टि से भी उनके काव्य में संगीतात्मकता का प्रधान महत्व है। उनके पदों के ऊपर राग रागनियों के नाम स्पष्ट रूप में अंकित हैं जो कवि के संगीत शास्त्र के ज्ञान का परिचय प्रदान करते हैं। उन्होंने सोरठ, भैरवी, जैतश्री, कान्हरा, मल्हार, आसावरी, विलावल, ध्रुपद आदि अनेक राग-रागनियों

का नाम अपने पदों के ऊपर अंकित किया है। डॉ० मनमोहन गौतम ने इसी कथन को पुष्ट करते हुये कहा है कि—"सूर-सागर में इतने अधिक राग हैं कि उन्हें देखकर समस्त जीवन संगीत-साधना में अर्पित कर देने वाले आज के संगीतज्ञों को भी दाँत तले उगली दबानी पड़ती है।" संगीत को सूर ने क्यों अपनाया ? उसका मानव जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इस संदर्भ में आचार्य प्रपन्नाचार्य का यह कथन प्रस्तुत किया जा सकता है—"संगीत का प्रभाव जीवमात्र पर समान रूप से पड़ता है। मनुष्य ही नहीं पशुओं को भी यह अत्यन्त प्रभावित कर देता है। मन की चंचल वृत्तियाँ संगीत के रस में मग्न होकर केवल श्रवणेन्द्रिय शक्ति में ही केन्दीभूत हो जाया करती हैं। मन एकदम अन्य विषयों से हटकर एक विचित्र आह्लादिनी स्थिति में तल्लीन हो जाता है। इसी कारण सूरदास ने कीर्तन के रूप में इस मधुर कला को मन का निरोध करने के साधन के रूप में अपनाया।"

सूर के काव्य में संगीत का प्राधान्य होने पर भी वह स्वतन्त्र रूप में अपनी सत्ता नहीं रखता है अपितु वह तो कविता का सहयोगी बन कर आया है। एक विद्वान के शब्दों में—"वास्तव में यदि काव्य और संगीत का सच्चा समन्वय कोई प्रकृत रूप में कर सका है तो वह सूर ही है।" संगीतात्मकता की दृष्टि से निम्नलिखित पदों को हम प्रस्तुत कर सकते हैं :—

निसिदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पर जब तें स्याम सिधारे।

इसी प्रकार अन्यत्र भी

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु-तन-मंडित मुख-दधि लेप किए।

निश्चय ही संगीतात्मकता की दृष्टि से सूर का अपना स्थान है। संगीत के द्वारा जहाँ कवि के हृदयगत भावों में मर्मस्पर्शिता आ गई है वहाँ भावों की गहनता एवं सौन्दर्य के कारण संगीत भी मार्मिक बन गया है।

(३) **अनुभूति की व्यापकता**—सूर के गीतों में अनुभूति की व्यापकता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। इसी अनुभूति की व्यापकता का सम्बल लेकर ही वे संकीर्तन में रत रहा करते थे। उनका सम्पूर्ण गीति साहित्य इसी सहज अनुभूति का ही परिणाम है। इसी अनुभूति की व्यापकता का दिग्दर्शन हमें तुलसी में भी देखने को मिल जाता है। परन्तु तुलसी में जहाँ यह अनुभूति दुरूह एवं क्लिष्ट शब्दावली के कारण नीरस सी हो गई है वहाँ सूर के पदों में सरल एवं बोधगम्य शब्दावली के कारण यह सरस हो गई है। सूर के गीत साहित्य की सबसे प्रमुख विशेषता उनका सरल एवं सहज रूप ही है। अपनी इसी सरलता एवं सहजता के कारण वे स्वानुभूति का रसास्वादन जन साधारण को करा सके। डा० मनमोहन गौतम के कथनानुसार "सूरदास जी सहज गायक थे। अपनी अनुभूतियों और भक्त हृदय की मनोदशाओं को बिना किसी बनाव-सँवार के गाकर उपस्थित करना ही उनका कार्य था। × × × वे काव्य में जड़िया की नक्काशी, खराद और दीप्ति न भर सकते थे, अपने अनूठे, अलौने-सलौने भावों की अकृत्रिम अभिव्यंजना करना जानते थे। यही कारण है कि इतने बहुश्रुत शास्त्रज्ञ, पण्डित और उच्चकोटि के गायक होते हुए भी उनकी वाणी सरल और स्वाभाविक शिल्प विधान की मुखापेक्षी रही है।" निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सूर में अनुभूति की गहनता तो विद्यमान थी परन्तु उस अनुभूति को उन्होंने सहज एवं सरल रूप में ही अभिव्यक्त किया है।

(४) **भावों की एकता**—भावों की एकता गीति-काव्य का प्रमुख तत्व माना जाता है। सूर के पदों में भी एक ही भाव आदि से अन्त तक विद्यमान रहता है। भावों की एकता के कारण ही इस प्रकार के गीतों में विचारों की बौद्धिकता एवं इतिहासात्मकता का प्रायः अभाव रहता है। चाहे पद छोटा हो या बड़ा एक ही भाव उसमें विद्यमान रहता है। चाहे वे पद लीला विषयक हों या विनय सम्बन्धी, सभी के मूल में एक ही भाव पाया जाता है। भावों की यह अन्विति ही सूर के पदों को श्रेष्ठता के पद पर पहुँचा देती है। बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में—"सूर के प्रत्येक पद में मुक्तक की स्वतःपूर्णता है और उसमें साहित्य और संगीत क मणिकांचन योग है। इन पदों में कथा-वर्णन अवश्य है किन्तु उसी मात्रा में जो गीति-

काव्य में निभ सके अर्थात् जितना की गीतिकाव्य की भाव-लहरी में बाधा न डाले। इसके अतिरिक्त उनका कथा-वर्णन इतिहासकार का सा निरपेक्ष नहीं है। उसमें उपासक के हृदय का उल्लास और निजीपन है।

(५) **वर्णनात्मकता**—सम्पूर्ण सूर काव्य वर्णनात्मक शैली में विरचित है। इसमें श्रीमद्भागवत की प्रायः सभी कथाओं का न्यूनाधिक रूप में वर्णन किया गया है यह वर्णन राग-रागनियों से युक्त गीतों द्वारा किया गया है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सूरदास के गीति साहित्य में हमें आत्माभिव्यंजन, संगीतात्मकता, अनुभूति की व्यापकता, भावों की एकता एवं वर्णनात्मकता आदि सभी विशेषताएँ मिल जाती हैं।

रचना शैली—रचना शैली की दृष्टि से सूर के गीति साहित्य को हम निम्नलिखित रूपों में विभक्त कर सकते हैं—

१. **परिष्कृत एवं परिमार्जित लोक गीत शैली**—लोक गीतों के सृजन में जन साधारण के हृदय की उठी हुई उमंग ही हुआ करती है फलतः उनमें प्रयुक्त भाषा शुद्ध साहित्यिक न होकर बोलचाल की साधारण एवं सरल भाषा होती है। संसार के प्रत्येक भू भाग में लोक गीतों का प्रचलन अनादि काल से चलता आ रहा है। लोक गीतों के अन्दर हमें स्थान विशेष के पर्व, रीति रिवाज, संस्कार, लोकाचार आदि का ज्ञान प्राप्त हुआ करता है। सूर ने भी अपने ब्रज प्रदेश की झाँकी को बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है उन्होंने अपने काव्य में लोक गीतों के माध्यम से जन्म-बधाई, दान लीला, मान लीला, गोचारण, फाग होली आदि प्रसगों की सुन्दर उद्‌भावना की है। पर सूर के लोक गीतों की एक विशेषता है और वह है उनमें भाषा का परिमार्जन या परिष्कार। भाषा के इस परिष्कार ने उनके लोक गीतों को उत्कृष्ट रूप प्रदान कर दिया है। दशम स्कंध में इस प्रकार के गीतों की प्रधानता हमें देखने को मिल जाती है, यथा—श्रीकृष्ण-जन्म के समय का यह लोक गीत—

ब्रज भयो महर के पूत जब यह बात सुनी।
सुनि आनन्दे सब लोग, गोकुल नगर सुनी॥

इसी प्रकार गोचारण प्रसंग का यह पद देखिये—

आजु चरावन गाय चलो जू कान्ह कुमुद वन जैये।
सीतल कुँज कदम की छहियाँ, छाक छहूँ रस खैये।
अपनी अपनी गाय ग्वाल सब आनि कहौ इकठौनी।
धौरि, कुमरि, राअी, रौंछी बोलि-बुलाय चिन्हौरी ॥

भाषा के इस परिष्कृत रूप के विषय में डॉ० मनमोहन गौतम का कथन है कि—"दशम स्कध के पूर्वार्द्ध में ऐसे गीतों की बहुत बड़ी संख्या है जिनमें लोक गीतों की उमंग प्रत्यक्ष है। सूरदास जी ने भक्ति-भावना-विह्वल ब्रजवासियों की चित्तवृत्ति और प्रकृति के अनुकूल ही अनेक पदों की रचना की है। भाषा का साहित्यिक रूप उसमें गरिमा भर देता है अन्यथा उनमें ग्राम-गीतों की सहजता, ग्रामीण पृष्ठभूमि, समूहगत भाव और अनगढ़ व्यक्तित्व स्पष्ट है।"

२. **पिंगल शास्त्र शैली**—इस शैली के अन्तर्गत कवि ने पिंगल शास्त्र के नियमानुसार बहुत से छन्दों को प्रस्तुत किया है। इसके अन्तर्गत चौपाई दोहा, हरि गीतिका रोला आदि छन्द आते हैं। सूर सागर में विनय के प्रसग से लेकर नवम स्कंध तक इस प्रकार के छन्दों का बाहुल्य हमें देखने को मिल जाता है। यथा—

हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ।
हरि चरनारविन्द उर धरौ॥
हरि की कथा होंइ जब जहाँ।
गंगा हूँ चलि आवैं तहाँ॥

इस प्रकार के पदों में प्रायः गीति साहित्य के तत्व का अभाव ही रहता है।

३. **दृष्ट-कूट-पद शैली**—इस प्रकार की शैली के अन्तर्गत कवि की प्रतिभा का उत्कृष्ट रूप निखरा है। सूर सागर तथा साहित्य लहरी दोनों ग्रन्थों में हमें इस प्रकार के पद प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं। मानसिक व्यायाम अधिक होने के कारण इस प्रकार के पद दुरूह एवं क्लिष्ट माने जाते हैं।

कहत कत परदेसी की बात ?
मन्दिर-अरध अवधि वदि हम सों हरि-अहार चलि जात।
ससि रिपु वरष सूर-रिपु युग वर हर रिपु किये फिरै घात।
मघ-पंचक लै गये स्यामघन, आय बनी यह बात।
नखत वेद ग्रह जोरि अर्ध करि को बरजै हम खात।
सूरदास प्रभु तुमहिं मिलन कों कर मीड़ति पछितात॥

४. कलात्मक गीत शैली—इस प्रकार की शैली के अन्तर्गत भावानुकूल भाषा, अलंकार प्रयोग एवं रसात्मकता आदि का समावेश पाया जाता है। बाल वर्णन तथा लीला सम्बन्धी पद इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार की गीत शैली के विषय में डा० मनमोहन गौतम का कथन है—"यही कारण है कि एक ओर सूर के पदों में संगीत रचना के तत्व मिलते हैं तो दूसरी ओर उसमें काव्यात्मक वर्ण योजना, अलंकार-विधान, लक्षणा-व्यंजना के चमत्कार और रसावयवों की अनिवार्य योजना प्राप्त होती है।" उदाहरणार्थ एक पद को प्रस्तुत किया जा सकता है—

कर पग गहि अगुँठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि हरषि अपने रंग खेलत।
सिव सोचत विधि बुद्धि विचारत, वट बाढ़्यौ सागर जल झेलत।
बिडरि चले घन प्रलय जानि कै, दिगपति दिग दन्तीन सकेलत।
मुनि मन भीत भए भुव कंपति सेष सकुचि सहसौ फन पेलत।
उन ब्रज वासिनि बात न जानी, समुझै सूर सकट पग ठेलत॥

५. शुद्ध गीत शैली—इस प्रकार के गीतों का सृजन कवि ने स्वान्तः सुखाय ही किया है। चाहे इस प्रकार के पदों में कलात्मकता का अभाव हो पर उनमें गीतात्मकता का पूर्ण समावेश है। आत्माभिव्यंजन तथा स्तोत्र साहित्य सम्बन्धी पद इसी शैली के अन्तर्गत आते हैं।

अपुनयौ आपुन ही विसरयौ।
जैसे स्वान काँच मन्दिर में भ्रमि-भ्रमि भूकि पर्‌यौ।
ज्यौं सौरभ मृग नाभि बसत है, द्रुम तृन सूँघि फिर्‌यौ।
× × × ×
सूरदास नलिनी कौ सुवटा, कहि कौनें पकर्‌यौ॥

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि हिन्दी के गीति साहित्य में सूर का अद्वितीय स्थान है। सहजानुभूति एवं सरलता के बल पर उनके पद आज भी जनमानस को रससिक्त कर रहे हैं। सूर के गीति साहित्य का महत्व निरूपित करते हुये डा० चन्द्रभान रावत ने कहा है कि—"सूर गीत सम्राट हैं। भावों का प्रचुर वैविध्य शैलीगत वैविध्य में प्रतिच्छादित है। गीतों के पात्र पहली बार महाकाव्य के पात्रों से होड़ ले रहे हैं। सूर के गीतों की यशोदा, गोपी और राधा सभी का प्रगीतिपरक संस्कार हुआ है। 'सूरसागर' प्रबन्ध के सन्दर्भ में तो महाकाव्य नहीं है, पर भाव के सन्दर्भ में एक गीत्यात्मक विराट काव्य अवश्य कहा जा सकता है। सूरसागर के गीतों में प्रबन्ध सूत्र भी हैं, संवाद भी हैं, चित्र भी हैं और वर्णन भी हैं। इन गीतों में सरलता है, अलंकृति भी है शास्त्रीय झलक भी है और लोक गीतों की सरलता भी है। संक्षेप में सूर के गीति-साहित्य में वह सब कुछ है, जो गीति काव्य की आत्मा के चरमोत्कर्ष के लिये आवश्यक है। अलंकार निरपेक्ष सौन्दर्य भी चरम पर है और अलंकार-विधान भी कितना गत्यात्मक और प्रयोग सिद्ध। गीतिकाव्य में भाव और शैली का इतना वैविध्य अन्यत्र नहीं मिल सकता। इतना वैविध्य रहते हुये भी गीतों की मर्मस्पर्शिता अक्षुण्ण है। आवृत्तियाँ होने पर भी क्षण-क्षण नवीनता प्रगट होती रहती है।" किसी आलोचक ने सूर के काव्य का महत्व इन शब्दों में निरूपित किया है—

> **किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।**
> **किधौं सूर को पर लग्यो, तन मन धुनत समीर॥**

निस्सन्देह सूर काव्य में जैसी सरसता, रसात्मकता, चमत्कार वादिता आदि का समन्वय हुआ है उसे देखते हुए किसी सुधी समीक्षक का उपर्युक्त कथन उचित ही है।

प्रश्न ४३— सूर की अलंकार योजना पर प्रकाश डालिये।

प्रश्न ४४—सूर के अप्रस्तुत विधान का विवेचन करते हुये सिद्ध कीजिए कि सूर ने इसका प्रयोग कर अपनी काव्य शक्ति का चमत्कार प्रदर्शित किया है।

प्रश्न ४५—"सूर ने अलंकार-विधान में मौलिकता का परिचय दिया है। परम्परागत उपमानों के प्रयोग भी इस ढंग से किये गये हैं कि वे अनूठे लगते हैं।" उदाहरण सहित अपने कथन को सिद्ध कीजिये।

प्रश्न ४६—"अपने प्रस्तुत आराध्य देव के सौन्दर्य और उसकी विविध छायाओं को हृदय में चित्रित करने के लिये सूर द्वारा अपनायी अप्रस्तुत योजना सूर सागर की एक विशेष वस्तु है।" इस कथन को सिद्ध कीजिये।

उत्तर—अप्रस्तुत विधान किसे कहते हैं—जब कवि द्वारा जीवन विषयक किसी वस्तु या तथ्य का अंकन किया जाता है तो उसे हम प्रस्तुत विधान कहते हैं। कभी-कभी जब कविगण प्रस्तुत का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ रहते हैं तब वे प्रस्तुत के समानान्तर ही अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा नयी वस्तुओं या तथ्यों का अंकन कर उस प्रस्तुत को ही अधिक स्पष्ट एवं प्रभाव शाली बना देते हैं, कहने का आशय यह है कि कविगण उस कल्पना प्रसूत अप्रस्तुत वस्तु या तथ्य के रूप, आकार, सौन्दर्य व्यापार आदि का वैसा ही अंकन कर देते हैं जैसा कि प्रस्तुत का होता है। इसी प्रक्रिया को हम अप्रस्तुत विधान मानते हैं। इस प्रक्रिया के माध्यम से कवि प्रस्तुत विषयक गहन अनुभूति को सहृदय के हृदय में अप्रस्तुत वस्तुओं में भी ला देता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि काव्य की सफलता अथवा असफलता की कसौटी भी यह अप्रस्तुत विधान प्रक्रिया है। यही काव्य में प्रेषणीयता, रमणीयता आदि का उद्रेक किया करती है। अप्रस्तुत विधान के इसी महत्व का प्रतिपादन करते हुये काव्य-दर्पणकार पण्डित राम दहिन मिश्र ने कहा है कि—"यह काव्य का प्राण है, कला का मूल है और कवियों की कसौटी है। यही काव्य में प्रभाव उत्पन्न करता है, प्रेषणीयता लाता है, भावों को विशद् बनाता है और रमणीयता को वर्द्धित करता है।"

इस अप्रस्तुत विधान के द्वारा ही काव्य में अलंकारों का जन्म हुआ करता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक आदि अलंकारों के मूल में यही अप्रस्तुत विधान होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि अप्रस्तुत विधान से द्वारा ही कवि प्रस्तुत के प्रति अपनी भावानुभूति को अभिव्यक्त कर सहृदय पाठकों को उस प्रस्तुत वस्तु या तथ्य का बिम्ब ग्रहण कराता

रहता है। इस अप्रस्तुत विधान में कवि प्रस्तुत वस्तु के रूप, गुण, व्यापार आदि का प्रभावकारी चित्र उपस्थित किया करता है। अलंकारों में अप्रस्तुत विधान के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुये डा० संसार चन्द्र ने कहा है कि—"उपमा में अप्रस्तुत प्रस्तुत के समकक्ष रहता है। उत्प्रेक्षा में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत की कल्पना होने लगती है। अपह्नुति में प्रस्तुत का निषेध हो जाता है रूपक में अप्रस्तुत प्रस्तुत को आक्रान्त कर लेता है तथा रूपकातिशयोक्ति में वह प्रस्तुत को आत्मसात् कर लेता है। यह आत्मसात्-करण की अवस्था ही अप्रस्तुत विधान की चरम परिगति या परिनिष्ठा कहलाती है।" कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य में अलंकारों के मूल में यही अप्रस्तुत-विधान विद्यमान रहता है। कतिपय विद्वान् तो इस अप्रस्तुत-विधान को ही अलंकार का पर्याय मानते हैं।

काव्य में अलंकारों का महत्व—अलंकारों का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है। काव्य की आत्मा तो विद्वानों द्वारा बहुमत से रस ही मानी गयी गयी है परन्तु अलंकारों का भी काव्य में समुचित स्थान है। काव्य की शोभा वृद्धि हेतु ही अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। संस्कृत के साहित्य शास्त्रियों ने अलंकार की परिभाषा देते हुए उसे काव्य की शोभा बढ़ाने वाला उपादान कहा है। आचार्य वामन के शब्दों में–"अलंकरोतीति अलंकार: अर्थात् अलंकरण करने वाले अवयव को ही अलंकार के नाम से ही अभि-व्यंजित किया जाता है। आचार्य दण्डी ने भी अलंकार की परिभाषा देते हुए कहा है—'काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते' अर्थात् काव्य की शोभा बढ़ाने वाले सभी धर्म अलंकार कहलाते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वस्तुत: काव्य की शोभा बढ़ाने या उसमें रमणीयता या चमत्कार लाने के लिए ही अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। इतना ही नहीं अलंकार सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य भामह तो अलंकारों को काव्य का प्रधान गुण मानते हुए कहते हैं कि—"न कान्तमपिनिर्भूषं विभाति वनिता मुखम्' अर्थात् वनिता (सुन्दरी) का सुन्दर मुख भी भूषण (आभूषण) के बिना शोभा नहीं देता। अलंकार जहाँ एक ओर काव्य की शोभा बढ़ाने वाले अवयव हैं वहाँ दूसरी ओर उसमें रमणीयता का विधान करने वाले भी हैं।

इसी तथ्य को दृष्टिगत करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है—"भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।" वस्तुतः अलंकार भाव एवं भाषा में सजीवता एवं उत्कर्षता लाने वाले होते हैं।

सूर की अप्रस्तुत योजना—सूर ने अपने काव्य में प्रस्तुत आराध्य देव श्री कृष्ण के सौन्दर्य और उसकी विविध छायाओं को सहृदय पाठकों के हृदय में अंकित करने के लिये ही इस अप्रस्तुत योजना को ग्रहण किया है। उन्होंने अपनी अद्‌भुत कल्पना द्वारा नये नये उपमानों को प्रस्तुत कर श्री कृष्ण के अंग-प्रत्यग का वर्णन किया है। क्रीड़ारत बालक कृष्ण के वस्त्रों, केशराशि, विविध वर्णी लटकन आदि प्रस्तुत वस्तुओं के वर्णन में कवि ने कैसे-कैसे अप्रस्तुत विधान जुटाये हैं यह इस पद से स्पष्ट हो जायेगा—

कहाँ लौं वरनौ सुन्दरताई।
खेलत कुँवर कनक आंगन में नैन निरखि छवि पाई।
कुलही लसत सिर स्याम सुभग अति, बहुविधि सुरंग बनाई।
मानहुँ नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई।
अति सुदेश मृदु चिकुर हरत मन मोहन-मुख बगराई।
मानहुँ प्रगट कंज पर मंजुल अलि-अवली फिर आई॥
नील सेत अरु पीत लाल मनि, लटकन भाल लुनाई।
सनि, गुरु-असुर, देव-गुरु मिलि मनु मौम सहित समुदाई॥

प्रस्तुत पद में कवि अपने आराध्य कृष्ण देव के सुन्दर आभूषणों एवं अंगों के सौन्दर्य को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने हेतु अप्रस्तुत उपमानों की योजना करता है। श्याम वर्णी कृष्ण के मस्तक पर शोभायमान 'कुलही' को देखकर वह नये उपमान की कल्पना करते हुये कह उठता है मानो नवीन मेघ पर इन्द्र धनुष शोभायमान हो रहा हो। विविध वर्णों से युक्त लटकते हुए लटकन की तुलना करते हुए वह कह उठता है मानो विविध वर्ण वाले नक्षत्र—शनि, शुक्र, वृहस्पति आदि ही आ उपस्थित हुये हों। इस प्रकार कवि के नये-नये उपमानों द्वारा कृष्ण के सौन्दर्य को और अधिक उत्कर्ष प्रदान कर दिया है।

कहीं-कहीं पर कवि ने रूपकातिशयोक्ति अलंकार द्वारा अप्रस्तुत-योजना का सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है—

अद्भुत एक अनूपम बाग ।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग ।

प्रस्तुत उदाहरण में कवि का अभीष्ट राधिका के अंग-प्रत्यंग का वर्णन करना है परन्तु केवल उपमानों का ही प्रयोग किया गया है उपमेयों का नहीं । अनुपम बाग ही राधा का शरीर है, दो कमल ही उसके दो चरण हैं, उसकी मन्द-मन्थर गति से चलती हुई जंघाएँ ही श्रेष्ठ हाथी हैं तथा उनके ऊपर कटि प्रदेश ही सिंह है । इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं । इस प्रकार के वर्णनों में कवि की प्रतिभा एवं कल्पना शक्ति की दाद देनी पड़ती है । चमत्कार एवं अनुभूति की गहनता के कारण ऐसे चित्र बड़े ही प्रभावशाली बन पड़े हैं ।

सूर के काव्य में अलंकारों की कोई कमी नहीं है लेकिन इसका यह यह अभिप्राय नहीं है कि अलंकार प्रदर्शन ही कवि का लक्ष्य था । उनके काव्य में जो भी अलंकार आये हैं अधिकांश में स्वाभाविक प्रक्रिया स्वरूप ही आये हैं । दृष्टकूट आदि पदों को छोड़कर कवि ने कहीं भी चमत्कार-प्रदर्शन में आस्था व्यक्त नहीं की है । जहाँ रीतिकालीन कवि अलंकार प्रदर्शन को ही सर्वस्व मानकर चले हैं वहाँ सूर इससे दूर ही रहे हैं । डॉ० हर वंशलाल शर्मा का यह कथन उचित ही है कि—"उनकी अलंकार योजना में न तो केशवदास के समान काव्य शास्त्र-ज्ञान-प्रदर्शन की प्रवृति है और न जायसी के समान एक-एक पंक्ति में कई-कई अलंकार ठूँसकर संकर और संसृष्टि करने का आग्रह ही । जहाँ रीतिकालीन कवि अनेक अलंकारों से सजाने की धुन में अपनी कविता-नागरी को ग्राम्य रूप देकर 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' वाली उक्ति को चरितार्थ कर आलोचकों के उपहास्य बने, वहाँ सूर ने भाव और कलापक्ष का उचित सन्तुलन रखकर अपनी कला को 'कला' ही बना दिया ।" यही कारण है कि उनके काव्य में जो भी अलंकार आये हैं वे सहज एवं स्वाभाविक रूप में ही आये हैं प्रयास द्वारा नहीं । उन्होंने अलंकारों का प्रयोग केवल प्रस्तुत वस्तु या तथ्य में सुन्दरता एवं प्रभावोत्पादकता लाने के लिये ही किया है । सूर के

काव्य में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि का ही अधिकता से प्रयोग देखने को मिलता है। विनय एवं भक्ति विषयक पदों में हमें अन्योक्ति अलंकार देखने को मिल जाता है।

जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं सूर की अप्रस्तुत योजना का प्रधान उद्देश्य रूप-सौन्दर्य चित्रण तथा भाव-सौन्दर्य का पोषण करना था और इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है केवल अर्थालंकारों द्वारा शब्दालंकारों द्वारा नहीं। फलतः सूर के काव्य में हमें अर्थालन्कारों का ही अधिक प्रयोग मिलता है। शब्दालंकारों का नहीं। सूर सागर में यों तो शब्दालंकार के भी दर्शन हो जाते हैं पर इसका बहुलता से प्रयोग साहित्य लहरी में ही हुआ है।

शब्दालंकार—शब्दालकारों के अन्तर्गत अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति एवं पुनरुक्ति प्रकाश आते हैं। सूर ने अपने काव्य में इनका भी समुचित प्रयोग किया है—

अनुप्रास—

वरु ये वदराऊ वरसन आए।

यमक—

१—ऊधो योग योग हम नाहीं।
२—लोचन जल कागद मसि मिलि
कै ह्वै गई स्याम-स्याम की पाती।

श्लेष—

दुहुँ कूल तरुनी मिली, तरन न लागी बार।

वक्रोक्ति—

साँच कहौ तुमकों अपनी सौं बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुम्हहि पठाये तब नैकहुँ मुसकाने॥

पुनरुक्ति प्रकाश

१. जनम सिरानौ अटकैं अटकैं।
२. मन्द-मन्द मुसक्यान।

अर्थालंकार—सूरसागर में अर्थालंकारों की योजना समुचित रूप में हमें देखने को मिल जाती है। डा० हर वंशलाल शर्मा के शब्दों में—'सूर सागर में अलंकार रत्नों की कमी नहीं है यदि कोई गोता लगाने का साहस कर सके तो चाहे कितने अलंकार निकाल सकता है।"

अब हम कतिपय अलंकारों का विवेचन यहाँ करना चाहेंगे। उत्प्रेक्षा और रूपक के वर्णन में सूर को अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उत्प्रेक्षा अलकार में कवि ने नयी नयी कल्पनाओं की सृष्टि की है।

उत्प्रेक्षा अलंकार—कृष्ण के नेत्र वर्णन में कवि की उत्प्रेक्षा द्रष्टव्य है—

अरुन स्वेत सित झलक पलक प्रति को वरनै उपमाइ।
मनौ सरस्वति गंग यमुन मिलि आश्रन कीन्हौ आइ ॥

इसी प्रकार कृष्ण की मुख छवि के वर्णन में कवि की उत्प्रेक्षायें द्रष्टव्य हैं—

मुख छवि कहा कहौं बनाइ।
निरखि-निरखि निसिपति वदन सोभा गयौ गगन दुराइ।
अमृत अलि मनु पिवन आये, आइ रहे लुभाइ।
निकसि सर तैं मीन मानो लरत करि छुराइ ॥

रूपक—रूपक अलंकार के वर्णन भी सूर काव्य में अपने ढंग के हैं। रूपकों का वर्णन प्रस्तुत करनें मे कवि ने लोक जीवन अर्थात् पशु जीवन, कृषि, खेल आदि से ही चित्र लिये हैं—

१—चौपरि जगत मड़े जग बीते।

२—आयौ घोष बड़ौ व्यापारी।

सांगरूपक के उदाहरणों से तो सूरसागर ओत-प्रोत है। नीचे के पद में सांगरूपक के द्वारा कवि माया रूपी नृत्य से पीछा छुड़ाने का ईश्वर से निवेदन करते हुये कहता है—

अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम क्रोध कौ पहरि चोलना कंठ विषय की माल।
महा मोह के नूपुर बाजत निन्दा शब्द-रसाल।

व्यतिरेक—

देखि री हरि के चंचल नैन
खंजन मीन मृगज चपलाई नहिं पटतर एक सैन।
राजिबदल, इन्दीवर, सतदल, कमल, कुसेसम जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं वे विगसत, ये विगसत दिनराति।

इस प्रकार के वर्णनों में नेत्रों की 'चंचलता रूप आदि (प्रस्तुत) का सुन्दर चित्रण करने हेतु कवि ने खंजन, मीन, मृग-शावक एव विभिन्न प्रकार के कमल आदि (अप्रस्तुत) को हीन घोषित कर दिया है। इस प्रकार कवि ने प्रस्तुत (उपमेय=नेत्र) के रूप सौन्दर्य को अत्याधिक प्रभावशाली बना दिया है।

अपह्नुति—

चातक न होइ कोउ विरहिनि नारि।
अजहूँ पिय-पिय रजनि सुरति करि झूँठहि माँगति वारि॥

यहाँ पर कवि ने चातक की कुहुक को छिपाकर उस पर विरहिणी नायिका का आरोप कर दिया है।

सन्देह—

गोपी तजि लाज, संग स्याम-रंग भूलीं।
पूरन मुखचन्द देखि, नैन--कोइ फूलीं।
कैधौं नव जलद स्वाति चातक मन लाये।
किधौं वारि बूँद सीप हृदय हरष पाए॥

इसके अतिरिक्त कवि ने स्थान स्थान पर प्रतीप, सभावना, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का भी सुन्दर रूप में प्रयोग किया है। डा० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में—"प्रेमगोपन के लिए सन्देह, विस्मयोत्पत्ति के लिये असंगति असम्भव और विषम आदि अलंकारों का आश्रय लिया गया है। शिव और कृष्ण के रूप वर्णन में सांगरूपक और श्लेष के साथ-साथ अपह्नुति का भी प्रयोग हुआ है। राधा और कृष्ण के सौन्दर्य वर्णन में व्यतिरेक का प्राचुर्य है। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में उत्प्रेक्षा और सांग-रूपक तथा संसार की असारता, यौवन की क्षण भंगुरता, भगवत्प्रेम आदि के वर्णन में उपमा के साथ साथ अर्थान्तरन्यास का विशेष प्रयोग हुआ है।"

इस प्रकार कवि ने उपर्युक्त वर्णनों में ऐसे ऐसे अप्रस्तुत उपमान जुटाए हैं जिन्होंने प्रस्तुत के रूप सौन्दर्य की शोभा में चार चाँद लगा दिये हैं। उपमानों के प्रयोग में यद्यपि कवि ने लोक प्रसिद्ध उपमानों को ही लिया है पर उनकी समायोजना में हमें कवि की मौलिक सूझ का स्पष्ट दर्शन हो जाता है। कवि की मौलिकता के विषय में प्रकाश डालते हुए डा० चन्द्र भान रावत ने कहा है—"उपमानों की खोज में कवि की कल्पना देश और काल की परिक्रमा सी करती मिलती है। कभी आकाश अपनी समस्त विभूति लिये सूर के सामने होता है, कभी अकूल सागर। कभी पुराने उपमानों की नवीन योजना करता है, कभी वह उनको नवीन स्थिति प्रदान करके कवि रूढ़ियों के प्रति असहिष्णु हो जाता है।" उपरोक्त कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि कविवर सूरदास ने अपने अलंकार विधान में मौलिकता का नितान्त परिचय दिया है। यदि उन्हें परम्परागत उपमानों का भी प्रयोग करना पड़ा है तो वे इस ढंग से प्रस्तुत किये गए हैं कि उनका अनूठापन हमें बरबस आकृष्ट कर लेता है। डा० समार चन्द्र ने सूर के अप्रस्तुत विधान का सर्वांग रूपेण विवेचन करते हुये कहा है कि—"इस प्रकार सूरदास के अप्रस्तुत विधान के मूल में उनकी भाव प्रवणता, उर्वर कल्पना शक्ति, सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति, सौन्दर्य प्रियता एवं वाग्वैदग्ध्य के दर्शन होते हैं। .... पद पद पर मिलने वाले अलंकारों को देखकर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता किकवि जान बूझकर अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढ़ते जायें, केवल उपमानों और रूपकों की छटा, अन्योक्तियों का ठाट, लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार, यहाँ तक कि एक ही चीज दो दो चार-चार, दस-दस बार तक दुहराई जा रही है—फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रवाह कहीं भी आहत नहीं हुआ। महाकवि सूरदास के अप्रस्तुत विधान की यही सबसे बड़ी निजी विशेषता है।" निष्कर्ष रूप में कहा सकता है कि सूर की अप्रस्तुत योजना केवल चमत्कार का ही सृजन करने वाली नहीं है अपितु उसमें भावों को उत्कर्ष प्रदान करने की भी क्षमता विद्यमान है।

प्रश्न ४७—काव्य कला की दृष्टि से सूर काव्य की समीक्षा करते हुए सूरदास के काव्य की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।

प्रश्न ४८—सूर काव्य की विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए हिन्दी साहित्य में उसका स्थान निर्धारित कीजिये।

प्रश्न ४९—"सूरदास की कविता में ....हम विश्वव्यापी राग सुनते हैं। वह राग मनुष्य हृदय का सूक्ष्म उद्‌गार है।" इस कथन के परिप्रेक्ष्य में सूर काव्य का महत्व निरूपित कीजिये।

प्रश्न ५०—कलापक्ष एवं भावपक्ष की दृष्टि से सूर काव्य का महत्व बताइये।

उत्तर—सूर का एक मात्र लक्ष्य अपने इष्टदेव के गुणों का गान करना था कविता तो इस लक्ष्य का साधन मात्र थी। इतना सब कुछ होते हुये भी उनका साहित्य काव्य कला के गुणों से भी पूर्णतया ओतप्रोत है उसके वाह्य एवं आंतरिक दोनों पक्ष पुष्ट हैं। इन्हीं को क्रमशः कलापक्ष एवं भावपक्ष कहते हैं। यों तो प्रत्येक कवि की कृति में इन दोनों पक्षों का ही रूप देखने को मिल जाता है पर भक्तिकाल के कवियों में अधिकांश में भाव पक्ष प्रधान तथा कला पक्ष गौण रहा है। रीतिकालीन कवियों में इससे विपरीत रूप देखने को मिलता है। भावपक्ष यदि काव्य की आत्मा है तो कला पक्ष उसका शरीर। आत्मा और शरीर में जो पारस्परिक सम्बन्ध है वही भाव पक्ष एवं कलापक्ष में। जिस कविता में इन दोनों का मणिकांचन सम्बन्ध होता है वही कविता श्रेष्ठ होती है और जहाँ भाव पक्ष गौण एवं कलापक्ष प्रधान हो जाता है वह कविता निकृष्त मानी जाती है। सूर का काव्य भाव-पक्ष प्रधान है परन्तु उसमें कलापक्ष की भी सत्ता है। भावपक्ष के अन्तर्गत कवि ने विभिन्न रसों विशेषकर वात्सल्य, शान्त और शृङ्गार का और गौणतः वीर, भयानक आदि रसों का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त सरलता, सत्यता एवं वैयक्तिकता का भी सम्यक् चित्रण कवि ने अपने काव्य में किया है। कलापक्ष के अन्तर्गत कवि ने अलकारों, छन्दों, शब्द चयन आदि का समावेश किया है। भाषा की दृष्टि से उनकी भाषा प्रवाह पूर्ण एवं सरल है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जहाँ सूर काव्य में हमें एक ओर भक्त हृदय

की तल्लीनता एवं निश्छलता का परिचय प्राप्त होता वहाँ दूसरी ओर उसमें छन्द अलंकार भाषा आदि का संयोजन मिलता है। इसके प्रथम रूप को हम भावपक्ष के अन्तर्गत समाहित करते हैं जबकि द्वितीय रूप को कलापक्ष के अन्तर्गत। काव्य कला के दोनों रूपों के सम्यक् मिश्रण से ही सूरकाव्य एक श्रेष्ठ काव्य बन सका है वह भक्ति साहित्य की सर्वश्रेष्ठ निधि मानी जाती है। सूर के काव्य के महत्व पर प्रकाश डालने हुये डॉ० नन्द दुलारे वाजपेयी ने कहा है कि—"सूर का काव्य उत्तम कविता के गुणों से विभूषित, साहित्य कला का परिष्कार और पुरस्कार करने वाला भी है। सूर की अनन्य तन्मयता स्वयं ही कविता की एक श्रेष्ठ विभूति है। उनकी मधुर भाव की उपासना उनके काव्य को यों ही कुसुम-कोमल बना देती है। परन्तु सूर की पवित्र भावना से काव्य कला जिस रूप में उज्ज्वल हो उठी है, वह भी हमारी आँखों के सामने है।"

भावपक्ष—भाव पक्ष के अन्तर्गत भावात्मकता, कल्पना तत्व एवं रस वर्णन आता है।

भावात्मकता—अपने आराध्य देव की विभिन्न प्रकार की लीलाओं के वर्णन में कवि ने सुन्दर भावात्मकता का अंकन किया है। एक दृश्य से यह बात सिद्ध हो जायेगी—

कर पग गहि अंगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि हरषि अपने रंग खेलत।
सिव सोचत, विधि बुद्धि विचारत, वट बाढ़्यौ सागर जल झेलत।
विडरि चले घन प्रलय जानिकै दिगपति दिग दंतीनि सकेलत।

कल्पना तत्व—आराध्य देव की विभिन्न चेष्टाओं का वर्णन करने के लिए कवि को भावों की विशाल भूमिका में विचरण करना होता है और इसके लिये आवश्यक होता है तीव्र कल्पना तत्व की प्रधानता का होना। कल्पना शक्ति के बल पर सूर ने वर्णनों को सजीव एवं चमत्कारपूर्ण बना दिया है।

मुरली विषयक सूर की कल्पनाएँ द्रष्टव्य हैं—

"मुरली तऊ गोपालहि भावति।
सुनि री सखी जदपि नंदलालहिं नाना भाँति नचावति।

अन्यत्र भी देखिये—

अधर रस मुरली लूटन लागी।
जा रस कों षट रितु तप कीन्हौं, सो रस पियति सभागी ।।"

इसी भाँति वसुधा तल पर श्रीकृष्ण देव के चरण कमलों के विषय में कवि की कल्पना स्तुत्य है—

कनक भूमि पर कर पग छाया यह उपमा इक राजत।
प्रति कर, प्रतिपद, प्रति मनि वसुधा कमल बैठकी साजत ।।

रस वर्णन—यों तो सूर सागर में नव रस ही मिल जाते हैं परन्तु मुख्यत: उसमें वात्सल्य, शृङ्गार एवं शान्त रस का ही प्राधान्य है शेष वीर, रौद्र, भयानक, करुण, वीभत्स आदि तो उसमें गौण रूप से ही आये हैं।

वात्सल्य रस—सूर काव्य का सर्व प्रधान रस वात्सल्य ही है यदि हम यह कहें कि वात्सल्य के क्षेत्र में सूर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते हैं तो यह कथन अतिशयोक्ति पूर्ण न होकर उचित ही बैठेगा। वास्तव में सूर का वात्सल्य वर्णन अपने ढग का अनूठा है इस क्षेत्र में उनकी पैनी दृष्टि से कोई भी कोना नहीं छूट पाया है।

वात्सल्य वर्णन में सूर ने बाल-जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कोई भी बात नहीं छोड़ी है। कृष्ण का पालने में झूलना, माता का लोरी गाकर सुलाना, खिलखिलाना समवयस्कों के साथ खेल-खेल में झगड़ना, एक-दूसरे को चिढ़ाना, माता-पिता से शिकवा शिकायत करना आदि सभी चेष्टाओं का सूक्ष्म चित्रण ने सूर ने अपने काव्य में किया है। सूर के इसी वात्सल्य वर्णन के विषय में श्री वियोगी हरि जी का यह कथन कि—"सूर का दूसरा नाम वात्सल्य है और वात्सल्य का दूसरा नाम सूर" उचित ही है।

कृष्ण की बाल छवि का एक रूप देखिये—

बलि गइ बाल-रूप मुरारि।
पाइ पैंजनि रटति रुन झुन, नचावत नन्द-नारि।
कबहुँ हरि कों लाइ अँगुरी, चलन सिखवति ग्वारि।

कबहुँ हृदय लगाइ हित करि, लेति अञ्चल डारि।
कबहुँ हरि कौं चितै चूमति, कबहुँ गावति गारि।
कबहुँ ले पाछे दुरावति, ह्यां नहीं वनवारि।
कबहुँ अंग भूषन वनावति, राइ-लोन उतारि।
सूर सुर-नर सबै मोहे, निरखि यह अनुहारि॥

इस पद की समीक्षा करते हुये डॉ० हरवंश लाल शर्मा ने कहा है कि—"वात्सल्य रस के समस्त तत्त्व इस पद में मिल सकते हैं कृष्ण आलम्बन हैं, यशोदा आश्रय, कृष्ण की अनुपम छवि, रुनक-झुनक पैंजनियाँ बाजते हुये चलना, नाचना आदि उद्दीपन हैं। यशोदा का हरि को देखना, चूमना, आँचर में छुपाना, पीछे की ओर दुराना आदि अनुभाव हैं और हर्ष संचारी भाव।"

शृंगार रस— शृंगार रस वर्णन में भी सूर को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। सूर ने जिस राधा कृष्ण और गोपी-कृष्ण के प्रेम का चित्रण किया है वह चलती फिरती वस्तु नहीं है अपितु उसका परिपाक तो वृन्दावन की कुंज गलियों में निरन्तर होता रहा है। उस प्रेम का पलवन पनघट-प्रस्ताव, यमुना बिहार आदि स्थलों पर हुआ है। डॉ० हरवंश लाल शर्मा के शब्दों में—"इसी प्रकार प्रतिदिन पनघट-प्रस्ताव, यमुना-बिहार, भरे घर में संकेतों द्वारा वार्तालाप, हिंडोला, रास आदि की लीलाएँ होती रहीं, जिनके द्वारा विकसित होता हुआ वह प्रेम स्वच्छन्द रमण के साम्राज्य में जा उतरा।" संयोग-शृङ्गार के इस चित्र पर दृष्टिपात कीजिये—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।

× × × ×

औचक ही देखी तहँ राधा, नैन विशाल भाल दिये रोरी।
सूर श्याम देखत ही रीझे, नैना मिलि परी ठगौरी॥

संयोग-शृङ्गार के इन चित्रों के विषय में डॉ० हरवंश लाल शर्मा ने कहा है कि—"इस प्रकार राधा कृष्ण की क्रीड़ाओं के वर्णन में सूर ने न जाने कितने भावों की कल्पना की है? उनका संयोग-वर्णन रीतिकालीन कवियों की भाँति गुलगुली गिलमों और गलीचों तक ही रह गया है उसमें

प्रकृति का अनन्त प्रसार है, सीमित संचारियों की कृत्रिम धारा के स्थान पर सरस हृदय का उन्मुक्त भाव वर्षण है।"

संयोग श्रृङ्गार के अतिरिक्त सूर ने वियोग श्रृङ्गार का व्यापक चित्रण किया है उनका वियोग वर्णन बड़ा ही मर्मस्पर्शी एवं हृदय विदारक बन पड़ा है। केवल राधा, गोपी ग्वाल आदि ही उनके विरह में विदग्ध नहीं है अपितु गायें भी उनके विरह में कृशकाय हो जाती है—

अति कृश गात भई हैं तुम विन परम दुखारी गाय।'

कृष्ण के लौटने की प्रतीक्षा करते-करते गोपियाँ थक जाती हैं उनका सम्पूर्ण समय कृष्ण-क्रीड़ाओं के चिन्तन में ही निकल जाता है। डॉ० हरवंश लाल शर्मा के शब्दों में—"कृष्ण के वियोग में गोपियों की दशा दयनीय हो हो गई। उनके दिन कृष्ण की क्रीड़ाओं के वर्णन में ही व्यतीत होते हैं। व्रज में सब कुछ पहले की ही चीजें हैं। परन्तु फिर भी वह पहले का व्रज नहीं। जब व्रजपति ही नहीं तो व्रज बालाओं का व्रज भी सूना है। उन वेचारियों के औसान ही नहीं बनते—

विचारत ही लागे दिन जान।
तुम बिनु नद-सुवन इहिं गोकुल निसि भइ कल्प समान,
मुरलि सब्द, कल धुनि की गुंजनि, सुनियत नाहीं कान।
चलत न रथ गहि रही स्याम कौ अब लागी पछितान।
है कोउ जाय कहै माधौ सौं, धीरज धरहि न प्रान।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु फुरत नहीं औसान।।

गोपियों के इसी प्रकार के विरह विषयक वर्णनों का विवेचन करते हुये आचार्य रामचन्द शुक्ल ने लिखा है कि—"परिस्थिति की गम्भीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गम्भीरता नहीं दिखाई पड़ती, जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम-सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थीं। गोपियों के गोपाल केवल दो चार कोस के एक नगर में राज-सुख भोग रहे थे। सूर का वियोग-वर्णन वियोग-वर्णन के लिये ही है, परिस्थिति के अनुरोध में नहीं।" परन्तु आचार्य शुक्ल के

इस मत के विषय में अन्य विद्वानों में मतभेद है। डॉ० रामकुमार वर्मा का सूर के वियोग वर्णन के सम्बन्ध में कथन द्रष्टव्य है—"सूरदास ने मानव हृदय के भीतर जाकर वियोग व करुणा के जितने भाव हो सकते हैं। उन्हें अपनी कुशल लेखनी से ऐसे अंकित कर दिया है कि वे अमर हो गये हैं। किसी भाव में आह की ज्वाला है, किसी में वेदना के आँसू और किसी किसी में विदग्धता का कम्पन। हृदय की भावना अनेक रूप में व्यक्त होती है।"

शान्त रस—विनय के पदों में हमें शान्त रस के दर्शन होते हैं। वे शुद्ध एवं विनयशील भक्त के रूप में हमें दृष्टिगोचर होते हैं, यथा—

हरि बिनु कोऊ काम न आयो।
यह माया झूठी प्रपंच लगि रतन सो जनम गँवायो।

प्रस्तुत पद में सूर संसार की असारता का वर्णन करते हैं।

इसी प्रकार—'मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो' में हास्य, 'कर गहि पग अंगूठा मेलत' में अद्भुत, दावानल प्रसंग के वर्णन में भयानक आदि रसों का भी कवि ने यथास्थान वर्णन किया है।

कलापक्ष—काव्य कला का यह बाह्यपक्ष कहलाता है इसके अन्तर्गत अलंकार, भाव व्यंजना, चित्रोपमता, भाषा आदि आते हैं।

अलंकार सूर के काव्य में प्रचुरता से प्रयुक्त हुये हैं पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अलंकार-प्रदर्शन ही उनके काव्य का ध्येय रहा हो। उनके काव्य में अलंकार रीतिकालीन कवियों के सदृश साध्य नहीं है अपितु भावाभिव्यजना के वे साधन मात्र ही हैं। दृष्टिकूट आदि पदों को छोड़कर कवि ने कहीं भी चमत्कार प्रदर्शन में आस्था व्यक्त नहीं की है। जहाँ रीतिकालीन कवि अलंकार प्रदर्शन को ही सर्वस्व मानकर चले है वहाँ सूर इससे दूर ही रहे हैं। डॉ० हरवंश लाल शर्मा के शब्दों में—"उनकी अलंकार योजना में न तो केशवदास के समान काव्य-शास्त्र ज्ञान-प्रदर्शन की प्रवृति है और न जायसी के समान एक-एक पंक्ति में कई-कई अलंकार ठूँसकर संकर और संसृष्टि करने आग्रह ही। जहाँ रीतिकालीन कवि अनेक अलंकारों से सजाने की धुन में अपनी कविता-नागरी को ग्राम्य रूप

देकर 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' वाली उक्ति को चरितार्थ कर आलोचकों के उपहास्य बने, वहाँ सूर ने भाव और कलापक्ष का उचित सन्तुलन रखकर अपनी कला को 'कला' ही बना दिया।" यही कारण है कि उनके काव्य में जो भी अलंकार आये हैं वे सहज एवं स्वाभाविक रूप में ही आये हैं प्रयास द्वारा नहीं। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग केवल प्रस्तुत वस्तु या तथ्य में सुन्दरता एवं प्रभावोत्पादकता लाने के लिये ही किया। सूर के काव्य में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि का ही अधिकता से प्रयोग देखने को मिलता है।

अलंकार दो प्रकार के होते हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकार के अन्तर्गत अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति एवं पुनरुक्ति प्रकाश आते हैं। सूर ने अपने काव्य में इन सबका समुचित प्रयोग किया है। कतिपय उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—

यमक—

१. ऊधो योग योग हम नाहीं।

श्लेष—

दुहुँ कूल तरनी मिली, तरन न लागी बार।

शब्दालंकारों के समान ही अर्थालंकारों का भी कवि ने खुलकर प्रयोग किया है। डॉ० हरवंश लाल शर्मा के शब्दों में—"सूर के काव्यों में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का ही प्रयोग अधिक और स्वाभाविक हुआ है। अब हम कतिपय अर्थालंकारों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत करेंगे।

उत्प्रेक्षा अलंकार— कृष्ण के नेत्र वर्णन में कवि का उत्प्रेक्षा अलंकार द्रष्टव्य है—

अरून स्वेत सित झलक पलक प्रति को वरनै उपमाइ।
मनौ सरस्वति गंग यमुन मिलि आश्रम कीन्हौ आइ॥

रूपक—रूपक अलंकार भी कवि के काव्य में अपने ढंग के हैं। यथा—

आयौ घोष बड़ौ व्यापारी।

सांगरूपक के उदाहरणों से तो सूरसागर ओत-प्रोत है। नीचे के पद में सांगरूपक के द्वारा कवि माया रूपी नृत्य से पीछा छुड़ाने का ईश्वर से निवेदन करते हुए कहता है—

अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम क्रोध कौ पहरि चोलना कंठ विषय की माल।
महा मोह के नूपुर बाजत निन्दा शब्द-रसाल।

अपह्नुति—

चातक न होइ कोउ विरहिनि नारि।
अजहुँ पिय पिय रजनि सुरति करि झूँठेहि माँगति वारि॥

इनके अतिरिक्त कवि ने व्यतिरेक, उल्लेख, प्रतीप, अतिशयोक्ति, संभावना, सन्देह आदि अलकारों का भी प्रचुरता से प्रयोग किया है।

भावव्यंजना—भावव्यंजना की दृष्टि से सूर काव्य एक उत्कृष्ट काव्य है। सूर की मौलिकता एवं प्रभावशालिता इस भावव्यंजना के ही अन्तर्गत भली प्रकार से देखी जा सकती है। भ्रमर गीत तो भावव्यंजना का प्राण ही माना जाता है। कवि ने अपने काव्य में शब्द मात्र से, पद-ध्वनि से अथवा संकेत मात्रा से ही विभिन्न भावों की उद्‌भावना की है। उपालंभ के माध्यम से भावों की व्यंजना करने में तो कवि अपना प्रतिद्वन्द्वी नही रखता है। एक उदाहरण यह बात से स्पष्ट हो जावेगी—

तेरो लाल मेरो माखन खायो।
दुपहर दिवस जानि घर सूनो, ढूँढ़ि ढँढ़ोरि आपहि आयो॥
खोल किवार सूने मन्दिर में, दूध दही सब सखन खवायो।
छींके काढ़ि खाट चढ़ि मोहन, कछु खायो कछु लै ढरकायो।
दिन प्रति हानि होत गोरस की, यह ढोटा कौने ढंग ढायो।
सूरदास कहतीं ब्रज नारी, पूत अनोखो जायो॥

प्रस्तुत पद में उपालम्भ के भीतर कवि ने सुन्दर प्रेम भाव की व्यंजना की है। पद के पूर्वार्ध में जहाँ गोपियों का उलाहना वर्णित है वहाँ अन्तिम चरण में गोपियों के हृदयगत प्रेम भाव की सुन्दर व्यंजना हुई है। इतना

ही नहीं पूत अनोखो जायो' इस कथन ने तो सम्पूर्ण वाच्यार्थ को ही परिवर्तित कर दिया है।

चित्रोपमता—सूर ने अपने काव्य में सुन्दर चित्रों का भी सृजन किया है। वे कहीं तो भावों के, कहीं रस के, कहीं व्रज प्रदेश के लोगों के, तो कहीं श्रीकृष्ण के सुन्दर चित्रों का सृजन करने में पूर्ण निपुण हैं। कृष्ण के सौन्दर्य के इस चित्र को देखिए—

जमुना जल विहरति ब्रज नारी।
तट ठाढ़े देखत नन्द नन्दन, मधुर मुरलि कर धारी।
मोर मुकुट स्रवननि मनि कुण्डल, जलज-माल उर भ्राजत।
सुन्दर सुभग स्याम तन नव घन विच वग पांति विराजत॥

× × × +

पीताम्बर कटि तट छुद्रावलि, बाजति परम रसाल।
सूरदास मनु कनकभूमि ढिग, बोलत रुचिर मराल॥

इसी प्रकार विरही ब्रज के लोगों के इस चित्र को देखिये—

ब्रज के विरही लोग दुखारे।
बिनु गोपाल ठगे से ठाड़े, अति दुर्बल तन कारे।

इस प्रकार के वर्णन चित्रोपमता के अन्तर्गत आते हैं। इन चित्रों में जहाँ कवि ने वाह्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की है वहाँ ये चित्र आंतरिक सौन्दर्य का भी अंकन हमारे मानस-पटल पर कर देते हैं।

भाषा—भाषा भावों की वाहिका होती है अतः कवि भाषा का प्रयोग इस ढंग से करता है कि वह हमारे भावों एवं विचारों में एक क्रमबद्धता ला दे। डॉ॰ हरवंश लाल शर्मा के शब्दों में—"उत्तम कलाकार भाषा को अपने आंतरिक अनुभव के समकक्ष बना लेता है और उसकी भाव-प्रेषणीयता को द्विगुणित कर देता है। इसीलिए अर्थ में चित्रोपमता और सजीवता लाने के लिए कवि अभिधा, लक्षणा और व्यंजना की सहायता से शब्दों को विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त करता है। कवि के हाथों में पड़कर शब्द में एक विशेष योग्यता आ जाती है और वह अर्थ-विशेष का वाहक बन जाता है। वास्तव में शब्द का मूल्य भी अनुभूति पर आधारित है। इसीलिए एक ही शब्द की व्यजकता भिन्न-भिन्न कवियों की रचना में विविध रूप में लक्षित होती है।"

सूरदास ने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह व्रज है परन्तु उसे हम शुद्ध एवं परिमार्जित व्रज भाषा नहीं कह सकते हैं। साथ ही अन्य भाषाओं के शब्दों की भी उन्होंने मन चाहे ढंग से तोड़ मरोड़ की है। डॉ॰ हरवंश लाल शर्मा ने कहा है कि—"व्रजभाषा व्याकरण की कसौटी पर सूर की भाषा खरी नहीं उतरती क्योंकि उन्होंने व्रजभाषा के ही शब्दों को नहीं तोड़ा मरोड़ा प्रत्युत अन्य भाषाओं के शब्दों को भी अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है इसलिए इनकी भाषा शुद्ध परिमार्जित भाषा नहीं कही जा सकती।" सूर के समय जो लोक भाषा का व्रज रूप प्रचलित था उसे उन्होंने साहित्यिक जामा पहनाकर काव्य में प्रयुक्त किया है। इस प्रकार तत्कालीन बोलचाल की भाषा को साहित्यिक रूप प्रदान करने का स्तुत्य कार्य सूरदास द्वारा ही सम्पादित हुआ है। सूर ने अपने काव्य में अन्य भाषाओं के शब्दों को भी व्रजभाषा की प्रवृति के अनुसार ढालने का प्रयास किया है। उन्होंने कहीं संस्कृत की तत्सम एवं तद्‌भव शब्दावली का अपने काव्य में प्रयोग किया है तो कहीं अवधी बुन्देलखण्डी एवं खड़ी बोली, पंजाबी आदि के शब्दों का भी प्रचुरता से प्रयोग किया है। इतना ही नहीं इन देशी भाषाओं के अतिरिक्त उन्होंने अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी खूब प्रयोग किया है। परन्तु यहाँ हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सूर ने इन सभी प्रकार के शब्दों के प्रयोग करते समय उन्हें उनके मौलिक रूप में प्रयुक्त न करके व्रजभाषा की प्रवृति या प्रचलित रूपों में ही किया है।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त सूर ने अपनी भाषा को अधिक प्रभावशाली बनाने हेतु उसमें मुहावरे एवं लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है। डॉ॰ हरवंश लाल शर्मा के शब्दों में—"किसी भाव को हृदय पर ठीक-ठीक बिठाने के लिए मुहावरे अपना जोड़ नहीं रखते और जनसाधारण में प्रयुक्त लोकोक्तियाँ किसी अनुभव-विशेष के स्पष्टीकरण में रामवाण हैं। कहना न होगा, सूरदास जी ने दोनों का ही आश्रय लिया है और एक-एक मुहावरे अथवा लोकोक्ति द्वारा वह प्रभाव उत्पन्न कर दिया है जो कई-कई पदों से भी संभव नहीं है।"

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सूर काव्य एक उत्कृष्ट काव्य है। उसमें हमें काव्य के दोनों पक्षों—भावपक्ष और कलापक्ष का सुन्दर समन्वय देखने को मिल जाता है। भावपक्ष के अन्तर्गत जहाँ कवि ने विभिन्न रसों—विशेषकर वात्सल्य, शान्त और शृंगार रस का, भक्त हृदय की तल्लीनता एवं निश्छल अभिव्यक्ति आदि का परिचय दिया है वहाँ कलापक्ष के अन्तर्गत कवि ने अलंकारों, छन्दों, भावव्यंजना, चित्रोपमता एवं भाषा आदि का भी समुचित निर्वाह किया है। काव्यकला के इन दोनों रूपों के सम्यक् मिश्रणसे ही सूरकाव्य एक श्रेष्ठ काव्य बन सका है। वह भक्ति साहित्य की सर्वश्रेष्ठ निधि मानी जाती है। सूरकाव्य में मानव-हृदय की प्रायः सभी वृत्तियों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार—"बालकृष्ण के शैशव में, श्री कृष्ण के मचलने में, माँ यशोदा के दुलार में हम विश्व-व्यापी माता-पुत्र प्रेम को देखते हैं। इन्हीं विश्व-व्यापी वृत्तियों के कारण सूर का काव्य विश्व-काव्य की श्रेणी में आ सकता है।" निश्चय ही सूरकाव्य मानव हृदय का सूक्ष्म उदगार है। और इन उद्गारों को व्यक्त करने के लिए सूर ने सुन्दर काव्य कला का अवलम्ब लिया है। सूर की काव्य कला के महत्व प्रतिपादन करते हुए डॉ० नन्द दुलारे बाजपेयी ने कहा है कि—"सूर का काव्य उत्तम कविता के गुणों से विभूषित, साहित्य कला का परिष्कार और पुरस्कार करने वाला भी है। सूर की अनन्य तन्मयता स्वयं ही कविता की एक श्रेष्ठ विभूति है। उनकी मधुर भाव की उपासना उनके काव्य को यों कुसुम-कोमल बना देती है। परन्तु सूर की पवित्र भावना से काव्य कला जिस रूप में उज्ज्वल हो उठी है वह भी हमारी आँखों के सामने है।"

प्रश्न ५१—सूरसागर के पदों को आप कितने शीर्षकों में विभक्त करेंगे? काव्य की दृष्टि से उनमें से कौनसा विभाग श्रेष्ठ है और क्यों?

प्रश्न ५२—सूरसागर महाकवि सूरदास की कीर्ति का महास्तंभ है। इसमें लगभग पाँच सहस्र पद हैं। इन पदों की वर्ण्य-वस्तु भी भिन्न-भिन्न है, इसे स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—सूरसागर निश्चय ही एक विशाल एवं अनुपम ग्रन्थ है, यह सूरदास की कीर्ति को अक्षय बनाने वाला है। सूरसागर के महत्व का प्रतिपादन करते हुए 'सूर-पञ्चरत्न' के लेखक द्वय लाला भगवानदीन एवं

मोहनवल्लभ पन्त ने कहा है कि—"सूरदास जी का सूरसागर वास्तव में एक अपूर्व ग्रन्थ है। ग्रन्थ नहीं, किन्तु प्रेम, कविता एवं संगीत रूपी सरिताओं के सलिल से सम्पूरित सवमुत्र सागर ही है। एक-एक पद उस सागर का एक-एक अमूल्य रत्न है। जितने पद प्राप्त हैं वे ही सूरदासजी को कवि श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। अपने विषय में सूरदास जी सबसे आगे बढ़े हैं। हरिभक्त लोग 'सूरसागर' को मथकर 'अमरता' प्राप्त करते हैं। काव्य प्रेमी रसिक जन-समुदाय 'कवितामृत' का पान कर ब्रह्मानन्द के सहोदर 'काव्यानन्द' का मजा लूटते हैं। फिर संगीत रसिकों का तो कहना ही क्या ? वे संगीत के एक-एक सुर में सुरलोक को न्यौछावर कर सकते हैं।"

सूरसागर के पदों की संख्या का उल्लेख करते हुए डॉ० धीरेन्द्र वर्मा कहते हैं कि—"इस किंवदन्ती (सवालाख पद वाली) का कोई भी प्रामाणिक आधार नहीं है। कवि की पद रचना पाँच छः हजार पदों के बीच ही रही होगी, जो लगभग प्राप्त है। वास्तव में, यह संख्या भी कम नहीं है।" आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने सूरसागर का सम्पादन करते हुए ४९३६ पद स्वीकार किये हैं। परिशिष्ट भाग में उन्होंने ४७३ पद रखे हैं इस प्रकार सम्पूर्ण सूरसागर में ५४०९ पद बैठते हैं। अन्य विद्वानों के मत में भी सूरसागर में पाँच हजार के आसपास ही पद माने गये हैं।

सूरसागर के पदों की वर्ण्य-वस्तु भिन्न-भिन्न है। वर्ण्य-वस्तु के आधार पर इन पदों को निम्नलिखित शीर्षकों में विभक्त कर सकते हैं :

(१) विनय सम्बन्धी पद, (२) चौबीस अवतारों से सम्बन्ध रखने वाले पद, (३) मथुरा गमन से पूर्व के कृष्णलीला-विषयक पद (जिसमें बाललीला गोपी-कृष्ण लीला आदि आते हैं।) (४) रामलीला सम्बन्धी पर, (५) द्वारिका गमन एवं भ्रमरगीत विषयक पद, (६) दृष्टिकूट पद और (७) विविध पद।

(१) विनय सम्बन्धी पद—सूरसागर बारह स्कन्धों में विभक्त है। प्रथम स्कन्ध में कवि ने माया, अविद्या आदि से घृणा करने वाले तथा भक्त महिमा एवं भगवद्-शरणागतता आदि का उल्लेख किया है कतिपय अन्य

स्थलों पर भी इसी भावना से प्रेरित होकर जिन पदों का सृजन हुआ है वे सभी विनय के पद कहलाते हैं। भक्ति-भावना की दृष्टि से इन पदों का बड़ा महत्व है।

(२) **चौबीस अवतारों से सम्बन्ध रखने वाले पद**—अवतारों से सम्बन्धित पद सूरसागर में विकीर्ण अवस्था में हैं वे दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवे छठे, सातवे, आठवें, ग्यारहवें और बारहवें स्कंधों में बिखरे हुए हैं। इनमें कूर्म, मत्स्य, वावन, नारायण, बौद्ध, बल्कि आदि अवतारों की कथा वर्णित है।

(३) **मथुरा गमन से पूर्व के कृष्ण लीला विषयक पद**—ये पद दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं—बाल लीला से सम्बन्ध रखने वाले तथा गोपी-कृष्ण लीला से सम्बन्ध रखने वाले। बाल-लीला के अन्तर्गत सूर ने प्रत्येक कौने को झाँक कर देखा है। बाल लीलाओं का जितना सजीव चित्रण सूर ने किया है उतना अन्य किसी ने नहीं। इसके अन्तर्गत-कृष्ण के जन्म से लेकर गोकुल आने, पूतना-शकट आदि का वध करने, गो दोहन, माखन चोरी परस्पर में झगड़ना आदि सभी चेष्टाओं का वर्णन किया है। गोपी-कृष्णलीला के अन्तर्गत कवि ने दानलीला, मानलीला, रास लीला आदि का वर्णन किया है।

(४) **रामलीला सम्बन्धी पद**—नवम् स्कन्ध के कतिपय पदों में राम विषयक लीलाओं का वर्णन किया है।

(५) **द्वारिका गमन एवं भ्रमरगीत विषयक पद**—श्री कृष्ण के गोकुल से मथुरा पहुँच जाने के पश्चात् कंस वध, राज्य-प्राप्ति, कुब्जा-प्रेम, गोपियों का विरह एवं भ्रमर गीत, द्वारिकापुरी को जाना, जरासन्ध युद्ध, रुक्मिणी-हरण आदि लीलाओं का उल्लेख इस शीर्षक के अन्तर्गत आता है।

(६) **दृष्टि कूट पद**—चमत्कार प्रदर्शन की दृष्टि से भी सूर ने कतिपय पदों का निर्माण किया है। हिन्दी के कूट-काव्य में सूरदास जी का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। प्रभुदयाल मीतल के शब्दों में—"सूरदास को हिन्दी दृष्ट कूट काव्य का सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ कवि कहना सर्वथा उचित होगा।"

(७) **विविध**—इस विभाग के अन्तर्गत वे सभी पद समाहित हो जायेंगे जो उपर्युक्त वर्गीकरण से अवशिष्ट रह जाते हैं। कहीं तो इन पदों में हमें कवि का सिद्धान्त या मत निर्धारण रूप दृष्टिगोचर होता है तो कहीं ईश्वर के रूप का चित्रण आदि।

काव्य कला की दृष्टि से उपर्युक्त वर्गीकृत पदों में श्रेष्ठ पद दो ही प्रसगों के हैं जो क्रमशः मथुरागमन से पूर्व एवं भ्रमरगीत सम्बन्धी हैं। इन दोनों प्रकार के पदों को हम क्रमशः वात्सल्य एव श्रृंगार (सयोग और वियोग) रस वर्णन के अन्तर्गत समाहित कर सकते हैं। वात्सल्य और श्रृंगार के वर्णन में जितनी सफलता सूर को मिली है उतनी अन्य को नहीं। डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने कहा है कि—"ऐसे स्थल सूरसागर में वे हैं, जहाँ सूर अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन करते हैं या रति-नागर, रसिकेश्वर, गोपीवल्लभ कृष्ण की रति क्रीड़ाओं का चित्रण करते हैं अथवा उनके विरह से सन्तप्त गोपियों के हृदय की भावनाओं का अभि-व्यञ्जन करते हैं।" सूर के बाल्य-वर्णन के महत्व का प्रतिपादन करते हुये आचार्य शुक्ल ने उचित ही कहा है कि—"जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्य-जीवन का चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया। शैशव से लेकर कौमारावस्था तक के क्रम से लगे हुये न जाने कितने चित्र मौजूद हैं? उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है, कवि ने बालकों की अन्तः प्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है और अनेक भावों की सुन्दर स्वाभाविक व्यञ्जना की है।" सूर को श्रृंगार एवं वात्सल्य दोनों ही क्षेत्रों में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। आचार्य शुक्ल ने कहा है—"वात्सल्य और श्रृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया, उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आये। उक्त दोनों के प्रवर्त्तक रतिभाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का और कोई नहीं।"

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सूरसागर निश्चय ही सूरदास जी की अक्षय कीर्ति का स्तम्भ है। इसमें लगभग पाँच हजार पद पाये जाते हैं और इन पदों को हम विनय, बाल लीला, विविध आदि सात भागों में बाँट

सकते हैं। परन्तु इनमें सर्वश्रेष्ठ पद केवल बाल लीला एवं शृंगार (संयोग तथा वियोग) विषयक ही हैं, शेष अन्य नहीं।

प्रश्न ५३—'सूर सूर तुलसी ससि' इस कथन की समीक्षा कीजिये।

प्रश्न ५४—कवित्व की दृष्टि से सूर और तुलसी की तुलना कीजिये।

प्रश्न ५५—'सूर में साम्प्रदायिकता की छाप तुलसी की अपेक्षा अधिक है।" इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं, सिद्ध कीजिये।

उत्तर—' सूर और तुलसी दोनों ही हिन्दी साहित्य के भक्ति काल के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। सूर ने जहाँ अपना आराध्य कृष्ण को माना है वहाँ तुलसी ने राम को। दोनों ही कवि अपने-अपने आराध्य देवों के चरित्र चित्रण में निमज्जित होकर काव्य-गंगा प्रवाहित करते रहे हैं। दोनों ही कवि हिन्दी साहित्याकाश के दो परमोज्ज्वल नक्षत्र हैं। दोनों में से किसी को भी छोटा या बड़ा बतलाना सरल कार्य नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"जिस प्रकार रामचरित गान करने वाले भक्त कवियों में गोस्वामी तुलसीदास जी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्ण चरित गाने वाले भक्त कवियों में महात्मा सूरदास जी का। वास्तव में ये हिन्दी-काव्य गगन के सूर्य और चन्द्र हैं। जो तन्मयता इन दोनों भक्त शिरोमणि कवियों की वाणी में पाई जाती है वह अन्य कवियों में कहाँ ? हिन्दी-काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ, इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया।"

अनेक विद्वानों ने दोनों ही कवियों की तुलना की है। किसी ने सूर को श्रेष्ठ बताया है तो किसी ने तुलसी को। परन्तु विद्वानों का इस प्रकार का तुलनात्मक विवेचन सदैव ही विवाद ग्रस्त रहा है। तुलसी को श्रेष्ठ मानने वालों में मिश्र बन्धुओं एवं आचार्य शुक्ल का नाम आता है। मिश्र बन्धुओं के शब्दों में—'हम लोगों का मत है कि हिन्दी में तुलसीदास सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। उन्हीं के पीछे सूर का नम्बर आता है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विभिन्न दृष्टियों से सूर और तुलसी का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हुये तुलसी को सूर की अपेक्षा श्रेष्ठ ठहराया है। उन्होंने निम्नलिखित मुख्य तत्व प्रस्तुत किये हैं—

(१) तुलसी का काव्य क्षेत्र बहुत व्यापक एवं विशद है जबकि सूर का काव्य क्षेत्र बहुत सीमित है ।

(२) तुलसी ने अपने काव्यों में मानव जीवन की जितनी अधिक दशाएँ एव वृत्तियाँ वर्णित की हैं उतनी सूर ने नहीं ।

(३) तुलसी की प्रतिभा जहाँ सर्वतोमुखी है वहाँ सूर की एक मुखी ।

(४) तुलसी ने अपने काव्य द्वारा जिन आदर्श चरित्रों की स्थापना की है सूर उनसे दूर ही रहे हैं ।

(५) तुलसी का अवधी के साथ ही साथ ब्रज भाषा पर भी समान अधिकार था जबकि सूर का केवल ब्रजभाषा पर ही ।

(६) सूर ने केवल पद शैली में ही काव्य रचना की है जबकि तुलसी ने अपने समय में प्रचलित प्रायः सभी शैलियों में काव्य रचना की है ।

(७) तुलसी ने नव रसों का सफलता से निर्वाह किया है जबकि सूर ने केवल वात्सल्य और शृंगार का ही ।

(८) तुलसी में लोक संग्रह एवं समन्वय का भाव देखने को मिल जाता है जबकि सूर का इस ओर ध्यान ही नहीं गया । इसके विपरीत डा० मुन्शी-राम शर्मा ने आध्यात्मिक सिद्धि की दृष्टि से सूर को तुलसी की अपेक्षा ऊँचा माना है ।

दोनों महाकवियों की अपनी अपनी विशेषताएँ हैं दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र के सम्राट हैं इसलिए हमें इस विवाद में नहीं पड़ना चाहिये कि इन दोनों में कौन बड़ा है और कौन छोटा । डॉ० श्यामसुन्दर दास ने कहा है कि "तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा भिन्न है । व्यवहार दशाओं की अधिकता तुलसी में तथा प्रेम की अधिक विस्तृत व्यञ्जना सूर के काव्य में प्राप्त होती है, पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है । सूरदास के सम्बन्ध में निम्नलिखित दोहे को हम अनुचित नहीं समझते —'सूर सूर तुलसी ससी' आदि ।" इसी सन्दर्भ में हम सूर-निर्णय के दो विद्वानो प्रभु-दयाल मीतल तथा द्वारिकादास पारीख के मत को प्रस्तुत करना चाहेंगे । उनके मत में—"सूर और तुलसी हिन्दी साहित्याकाश के दो परमोज्ज्वल नक्षत्र हैं । इनमें से किसका प्रकाश अधिक और किसका कम है, यह बतलाना बड़े से बड़े समालोचक के लिये भी बड़ा कठिन कार्य है । इन दोनों

महात्माओं के उपस्थितिकाल से अब तक अनेक विद्वानों ने इनके महत्व की तुलना की है, किन्तु उनका कथन सदैव विवादग्रस्त रहा है और आगे भी रहेगा। हमारी दृष्टि में ये दोनों ही महानुभाव हिन्दी कवियों के मुकुटमणि हैं और अपने-अपने क्षेत्रों में एक दूसरे से बढ़कर हैं। हिन्दी का कोई तीसरा कवि किसी प्रकार इनकी समता नहीं कर सकता।"

अब हम दोनों ही कवियों की विशेषताओं का निरूपण करना चाहेंगे—

१. **पूर्व ग्रन्थों से प्रभावित**—दोनों ही महाकवि अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों से प्रभावित हैं। जहाँ तुलसी ने वाल्मीकि रामायण, आध्यात्म रामायण एवं रघुवंश आदि से प्रेरणा प्राप्त की है वहाँ सूर ने महाभारत, श्रीमद्-भागवत्, गीत गोविन्द आदि ग्रन्थों से प्रेरणा ली है।

२. **दोनों ही महाकवियों में कुछ बातों में साम्य है—**

(क) भावपक्ष एवं कलापक्ष की दृष्टि से दोनों कवियो का काव्य श्रेष्ठ माना जाता है।

(ख) भारतीय दर्शन आदि का दोनों को ही पूर्ण ज्ञान था। वेद, शास्त्र, पुराण, दर्शन आदि का दोनों ही ने गहन ज्ञान प्राप्त किया था।

(ग) ऐसे बहुत से स्थल प्रस्तुत किये जा सकते हैं जहाँ भाव की दृष्टि से दोनों में बहुत साम्य है। 'गीतावली' के इन पदों को 'सूरसागर' से मिलाइये—

१. **पालने रघुपतिहिं झुलावै।**
लै-लै नाम सप्रेम सरल स्वर, कौसल्या कल-कीरति गावै।
—गीतावली

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलरावै, मल्हावै, जोइ, सोइ कछु गावै। —सूरसागर

२. **भोर भयौ जागहु रघुनन्दन। —गीतावली**
प्रात भयौ जागौ गोपाल। —सूरसागर

३. **आजु सुदिन सुभ घरी सुहाई। —गीतावली**
आजु बधाई नन्द के आई। —सूरसागर

विषय-वस्तु के साम्य के अतिरिक्त अभिव्यंजना की दृष्टि से भी सूर एवं तुलसी में काफी साम्य मिल जाता है।

३. **वैषम्य**—कतिपय बातों में दोनों महाकवियों के काव्यों में हमें वैषम्य देखने को मिल जाता है।

(क) संगीत के क्षेत्र में निश्चय ही सूर तुलसी से आगे थे। सूर ने जिस प्रकार प्रत्येक पद के ऊपर राग का नाम दिया है वैसा ही तुलसी ने भी किया है परन्तु सूर के रागों में शास्त्रीय नियमों का जिस कुशलता से पालन मिलता है वैसा तुलसी में नहीं।

(ख) तुलसी दास जी ने अपने समय के प्रचलित सभी मतों एवं सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है इसीलिये वे समन्वय-वादी कवि कहलाते हैं परन्तु सूर ने अपने काव्य में केवल पुष्टिमार्गी सिद्धान्तों का ही चित्रण किया है अन्य मतों से उनको कोई मतलब नहीं था।

(ग) तुलसी ने अपने काव्य में जीवन के विविध रूपों को चित्रित किया है लेकिन सूर ने कृष्ण के केवल बाल एवं किशोर रूप का ही चित्रण किया है।

बुँद अघात सहें गिरि कैसे।
खल के वचन सन्त सहिं जैसे। —**तुलसी**

बिनु गोपाल बैरिन भई कुजें।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं।
—**सूरदास**

(घ) तुलसी के राम अलौकिक होते हुये भी लौकिक हैं जबकि सूर के कृष्ण अलौकिक ही हैं।

(ङ) तुलसी की भक्ति दास्य भाव की है जबकि सूर की सख्य-भाव की।

(च) प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से सूर तुलसी से आगे बढ़े हुए हैं तुलसी के प्रवृति चित्रण में जहाँ उपदेशात्मकता है वहाँ सूर का प्रकृति-चित्रण स्वतन्त्र एवं उद्दीपन रूप में है, यथा—

(छ) प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से भी दोनों महाकवियों में पर्याप्त वैषम्य देखने को मिलता है। तुलसी ने 'रामचरित मानस' को एक प्रबन्ध काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है जबकि सूर का काव्य मुक्तक रूप में है। तुलसी के काव्य में जहाँ जीवन का पूर्ण चित्र है वहाँ सूर के काव्य में केवल बाल्यावस्था एवं युवावस्था के ही चित्र हैं। यद्यपि सूरसागर में हमें श्रीकृष्ण के जीवन की अन्य घटनाएँ भी देखने को मिलती हैं पर उनमें कोई भी तारतम्य या क्रमबद्धता नहीं है।

(ज) गीतिकाव्य दोनों ही कवियों द्वारा लिखा गया है पर जहाँ सूरदास का गीतिकाव्य सरस एवं सुन्दर है वहाँ तुलसी इस क्षेत्र में पिछड़ जाते हैं। भाव सौन्दर्य के जैसे सुन्दर एवं सरस उदाहरण हमें बाल-लीलाओं एवं भ्रमर गीत प्रसंग के मिलते हैं वैसे तुलसी की गीतावली में नहीं।

(झ) वात्सल्य एवं शृङ्गार रस का वर्णन भी दोनों ही कवियों ने किया है। परन्तु जितनी सफलता इन दोनों ही क्षेत्रों में सूर को मिली है उतनी तुलसी को नहीं। वात्सल्य वर्णन में माता यशोदा के मातृ-हृदय की जो झाँकी सूर ने प्रस्तुत की है उसकी तो छाया भी तुलसी-काव्य में नहीं है। यशोदा माता बालक कृष्ण को पालने में झुला रही है उस समय का वर्णन देखिये कितना स्वाभाविक है—

जशोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावे, दुलरावे, मल्हावे जोइ, सोइ कछु गावै।

इसी प्रकार बालक कृष्ण के बहुत समय तक दूध पीते रहने पर भी जब उनकी चोटी नहीं बढ़ती है तो वे माता से प्रश्न कर बैठते हैं—

मैया कबहि बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।

कैसा मनोवैज्ञानिक चित्रण है। इसी प्रकार के अन्य वर्णनों में भी सूर को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। यों तो तुलसी ने भी वात्सल्य वर्णन प्रस्तुत किया है पर वह इतना स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक नहीं बन पड़ा है जितना कि सूरदास का, यथा—

पग नूपुर औ पुहुँचो कर कंजनिन मंजु बनी मनिमाल हिये।
नवनील कलेवर पीत झंगा झलकै, पुलकै नृप गोद लिये।

सूर के वात्सल्य वर्णन में जो मनोवैज्ञानिकता दृष्टिगोचर होती है वह यहाँ नहीं है।

शृंगार वर्णन भी दोनों ही महा कवियों ने प्रस्तुत किया है पर सूर को शृंगार वर्णन में जो सफलता प्राप्त हुई है वह तुलसी को नहीं। उन्होंने संयोग एवं वियोग दोनों ही पक्षों के अनेकानेक सुन्दर भाव चित्र प्रस्तुत किये हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा का कथन इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है। उन्होंने कहा है कि—"सूरदास ने मानव हृदय के भीतर जाकर वियोग व करुणा के जितने भाव हो सकते हैं उन्हें अपनी कुशल लेखनी से ऐसे अंकित कर दिया है कि वे अमर हो गये हैं।" संयोग शृंगार वर्णन में जितना माधुर्य हमें देखने को मिलता है उतना अन्य कुछ नहीं। आचार्य शुक्ल ने उचित ही कहा है कि—"सूर का संयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम संगीतमय जीवन की एक गहरी धारा है, जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ता।" तुलसी अपने आराध्य को स्वामी के रूप में चित्रित करते हैं जबकि सूर अपने आराध्य को सखा रूप में। यही कारण है कि तुलसी का शृंगार वर्णन मर्यादित रूप में ही है। यथा—

राम को रूप निहारति जानकी
कंकन के नग की परछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई
कर टेक रही पल टारत नाहीं।।

समग्र रूप में यह कहा जा सकता है कि सूर एवं तुलसी दोनों ही हिन्दी साहित्याकाश के दैदीप्यमान नक्षत्र हैं। दोनों ही महाकवियों ने अपनी साहित्य साधना से हिन्दी साहित्याकाश को प्रकाशित किया है। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र के सम्राट हैं। अतः कौन छोटा है और कौन बड़ा यह निर्णय करना कदापि संभव नहीं है। दोनों का अपना महत्व है, किसी आलोचक का यह कथन उचित ही है—

'तत्व-तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।'

आचार्य शुक्ल का यह कथन भी पूर्ण सार्थक है कि—"वास्तव में ये हिन्दी-काव्य-गगन के सूर्य और चन्द्र हैं। जो तन्मयता इन दोनों भक्त

शिरोमणि कवियों में पाई जाती है, वह अन्य कवियों में कहाँ ? हिन्दी-काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ, इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया ।"

प्रश्न ५५—सूर की भाषा पर अपने विचार प्रकट कीजिये ।

प्रश्न ५६—"चलती हुई व्रजभाषा को व्यापक और प्रभावशाली बनाने का स्तुत्य कार्य सूर ने ही सबसे पहले किया ।" इस कथन के संदर्भ में सूर की भाषा की समीक्षा कीजिये ।

प्रश्न ५७—भाषा के विचार से सूरदास प्रथम कवि हैं जिन्होंने भाषा को साहित्यिक रूप दिया ।" इस उक्ति को उपयुक्त उद्धरण देकर स्पष्ट कीजिए ।

प्रश्न ५८—सूर की भाषा किसी पूर्व परम्परागत भाषा का विकसित साहित्यिक रूप है ।" इस कथन की सम्यक् विवेचना कीजिये ।

उत्तर—हिन्दी भाषा के कई रूप प्रचलित हैं यथा—खड़ीबोली, अवधी, भोजपुरी, व्रज आदि । सूरदास के काव्य की भाषा व्रज है । व्रज भाषा का आविर्भाव १००० ई० के आस पास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ था और कालान्तर में १४०० ई० के समीप वह एक सुव्यवस्थित भाषा हो चुकी थी । सूर ने स्वयं अपनी भाषा को भाषा (अर्थात् जनभाषा) का नाम दिया है । उन्होंने कहा है—

श्रीमुख चारि श्लोक दए ब्रह्मा को समुझाइ ।
ब्रह्मा नारद सौं कहें नारद व्यास सुनाइ ।
व्यास कहे सुकदेव सौं द्वादस स्कंध बनाइ ।
सूरदास सोइ कहै पद भाषा करि जाइ ।।

सूर द्वारा प्रयुक्त 'भाषा' का अभिप्राय जन साधारण की भाषा से ही है । तुलसी ने भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है, यथा—

'भाषा' बद्ध करब मैं सोई ।

इसी अर्थ में 'केशव' ने भी प्रयुक्त किया है—

भाखा बोल न जानई जिनके कुल के दास ।
तिन भाषा कविता करी, जड़मति केशवदास ।।

इतना ही नहीं कवि चन्द्रवरदाई, गोरखनाथ, कबीर आदि में भी हमें ब्रजभाषा के दर्शन हो जाते हैं परन्तु इतना अवश्य है कि सन्तों द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा में हमें साहित्यिकता का अभाव मिलता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ब्रजभाषा का जन्म सूर से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व हो चुका था और साहित्य के क्षेत्र में इस भाषा ने लगभग दो सौ वर्षों से अपना कब्जा जमा रखा था परन्तु ब्रजभाषा को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय सूरदास को ही मिलता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य' में वर्णन करते हुए कहा है कि—"ब्रजभाषा काव्य निश्चय ही बहुत पहले से बनने लगा था। परन्तु वास्तविक समृद्धि के साथ वह सूरदास के भजनों में ही प्रकट होता है। वस्तुतः सूरदास ही ब्रजभाषा के प्रथम कवि हैं और लीलागान का महान् समुद्र 'सूरसागर' ही उसका प्रथम काव्य है।" डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का मत भी इसी प्रकार का है। उन्होंने कहा है कि—'सूरदास जी से लगभग एक शताब्दी पहले से ब्रज-भाषा को साहित्यिक भाषा के उच्च सिंहासन पर आसीन करने का श्रेय इस महाकवि को ही प्राप्त है।" डॉ० रामकुमार वर्मा के मत में भी—"भाषा के विचार से सूरदास प्रथम कवि हैं जिन्होंने भाषा को साहित्यिक रूप दिया।" डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने भी इसी कथन की पुष्टि करते हुए कहा है कि—'जो कोमल कान्त पदावली, भावानुकूल-शब्द चयन, सार्थक अलंकार योजना, धारावादी प्रवाह, संगीतात्मकता, और सजीवता सूर की भाषा में है, उसे देखकर तो यही कहना पड़ता है कि सूर ने ही सर्व प्रथम ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप दिया।" इतना ही नहीं वास्तविकता तो यह है कि परवर्ती साहित्यकारों द्वारा भी सूरदास द्वारा व्यवहृत भाषा को स्वीकार किया गया।

सूर की जन्म भूमि, साधना क्षेत्र, निवास आदि सभी कुछ ब्रज प्रदेश में ही था। इस प्रदेश की जनभाषा ब्रज थी फलतः सूर द्वारा इसी जनभाषा का प्रयोग किया गया है। सूर की भाषा की चर्चा करते हुये डॉ० प्रेमनारा-यण टन्डन ने कहा है कि—'सूर सम्भवतः अपने जीवन में इस क्षेत्र से बाहर गये नहीं। सूर के पूर्व भी ब्रजभाषा काव्य और संगीत के क्षेत्र में लोकप्रिय हो चुकी थीं। 'सूर' ने अपनी प्रतिभा से इस भाषा का विशेष

संस्कार किया। उनके पदों की भाषा व्रज जनपदीय होते हुये भी साहित्यिक है और साहित्यिक होते हुये भी व्रज-जन पदीय।" इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास एवं उनके समकालीन भक्त कवियों ने अपनी कृतियों से व्रजभाषा को खूब समृद्ध किया और वह भाषा इतनी समृद्ध हो गयी कि लगभग चार सौ वर्षों तक उत्तर भारत की काव्यभाषा बनी रही।

भाषा विषयक विशेषताएँ—सूर-निर्णय के दो विद्वान लेखकों श्री प्रभुदयाल मीतल एवं द्वारिका प्रसाद पारीख ने सूर की भाषा सम्बन्धी पाँच विशेषताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है, उन्होंने कहा है कि—"सूरदास की कविता के अधिकांश विषय शृंगार एवं वात्सल्य से सम्बन्धित हैं, अतः उनके काव्य में ओज की अपेक्षा प्रसाद एवं माधुर्य गुण अधिक परिमाण में है। इन गुणों के कारण कोमलकान्त पदावली का बाहुल्य उनकी भाषा की **पहली विशेषता** है। उनकी भाषा की **दूसरी विशेषता** यह है कि इनके भावों के अनुरूप उपयुक्त शब्दों का सगठन है, जिसके कारण उनका कथन चित्र के समान पाठकों को आनन्दित करता है। उनकी भाषा की **तीसरी विशेषता** उनकी सार्थक शब्द-योजना है, जिसका सफलता पूर्वक निर्वाह उनके पदों में आरम्भ से अन्त तक किया गया है। उनकी **चौथी विशेषता** भाषा का धारावाही प्रवाह है जो संगीत के ताल स्वरों के कारण और भी आनन्ददायक हो गया है। उनकी भाषा की **पाँचवी विशेषता** यह है कि यह अत्यन्त बलवती और सजीव है। भावों के अनुरूप विशिष्ट शब्दावली, मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा को बल एवं सजीवता प्राप्त होती है। ये बातें सूरदास की भाषा में प्रचुरता से मिलती हैं।"

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि सूर की भाषा में माधुर्य एवं प्रसाद गुण, भावानुकूल भाषा, सार्थक शब्द-योजना, प्रवाहात्मकता, एव लोकोक्तियाँ एवं मुहावरों का बाहुल्य है। उदाहरणार्थ हम एक पद प्रस्तुत करते हैं जिसमें उपर्युक्त सभी विशेषताएँ देखने को मिल जाती हैं—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौं, तोहि जसुमति कब जायौ।

कहा करौं इहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात।
गोरे नन्द जसोदा गोरी तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात।
तू मोहीं कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन-मुख रिस की ये बातें, जसुमति सुनि-सुनि रीझै।
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत।।

इस पद में हमें माधुर्य, प्रवाहात्मकता, भावानुकूलता, सार्थक शब्द-योजना आदि सभी गुण मिल जाते हैं।

सूर का शब्द-कोष—सूर का शब्द कोष अपरिमित है। उसमें तत्सम, तद्भव, अर्द्धतत्सम, देशी, विदेशी भाषाओं के शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि सभी विशेषताएँ हमे देखने को मिल जाती हैं।

तत्सम शब्दावली—सूर ने अपनी भाषा में संस्कृत की तत्सम शब्दावली का खूब प्रयोग किया है। सूर के काव्य से कितने ही ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनमें संस्कृत निष्ठ भाषा का प्रयोग किया गया है, यथा—

गिरिधर, ब्रजधर, माधव, मुरलीधर, धरनीधर, पीताम्बरधर।
संख चक्रधर, गदा पद्मधर, सीस मुकुटधर, अधर सुधाधर।

उपर्युक्त उदाहरण में गिरिधर, ब्रजधर, मुरलीधर, आदि तत्सम शब्दों का कवि ने प्रयोग किया है। अन्यत्र भी—

सुख-पर्यंक अङ्क ध्रुव देखियत कुसुम कन्द द्रुम छाये।
मधुर मल्लिका कुसुमित कुंजन दम्पति लगति सुहाये।।

अर्ध तत्सम—कतिपय शब्दों को उच्चारण की दृष्टि से सरल बनाने के लिये कवि ने अपना रंग चढ़ा दिया है, यथा—

आदि सनातन हरि अविनासी, सदा निरन्तर घट-घट वासी।
पूरन ब्रह्म पुरान बखानैं, चतुरानन शिव अन्त न जानैं।

इस पद में पूरन, पुरान आदि अर्ध तत्सम शब्द ही हैं। इनके अतिरिक्त अन्यत्र भी सूर ने—अपजस, गनिका, जोजन, परभात, मरकट, सूकर, सरबस आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया है।

तद्भव शब्द—सूर ने अपने काव्य में तद्भव शब्दों का सबसे अधिक प्रयोग किया है। सूर की इस तद्भव शब्दावली के विषय में डॉ० गौतम का कथन है कि—"तद्भव शब्दावली की बहुलता के कारण भाषा का आडम्बर-हीन सहज सौन्दर्य स्वभावतः ही बढ़ गया है। संस्कृत के ही शब्दों को ऐसा कर्ण प्रिय सरल स्वरूप दिया गया है कि वे ब्रजभाषा की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल हो गये हैं और उनसे भाषा की ग्राम्यता भी जाती रही है" इसी सन्दर्भ में डॉ० हरवंशलाल शर्मा का भी मत द्रष्टव्य है। उन्होंने कहा है कि—"परन्तु सूर के काव्य का सौन्दर्य बहुत कुछ तद्भव शब्दों के ऊपर है। ब्रजभाषा के स्वाभाविक माधुर्य ने सूर की भाषा को अत्यन्त मधुर बना दिया है। उनके काव्य का ढाँचा तद्भव शब्दों से ही बना हुआ है।" कतिपय तद्भव शब्द निम्नलिखित हैं।

अनभावत, कोखि, अँचरा, सोग, गुसाईं, जुगति, जदपि, तमचुर, बनिज बिलम, सरिस, लिलार आदि।

देशज-शब्द—सूर काव्य में ग्रामीण शब्दों का भी खूब प्रयोग देखने को मिलता है तत्कालीन प्रचलित देशज शब्दों में से कतिपय यहाँ प्रस्तुत हैं:—

औघट, ढूकी, ढोरत, डहकायौ, बिगौबै, लठबाँसी, नरजी, धारी, तलबेली आदि।

अन्य देशी भाषाओं के शब्द—सूर ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों की भाषाओं यथा—अवधी, कन्नौजी, बुन्देलखण्डी, गुजराती, पंजाबी आदि के शब्दों का भी यत्र तत्र प्रयोग किया है। **अवधी** के शब्दों में—कनियाँ, अस, मोर, तोर, जिनि आदि। **कन्नौजी** के शब्दों में—हुते आदि। **बुन्देलखण्डी** के शब्दों में—जानिबी, साहिबी गहिबो आदि। **गुजराती** के शब्दों में—पेल, बियौ आदि। **पंजाबी** के शब्दों में—प्यारी आदि का प्रयोग हमें मिलता है।

विदेशी भाषाओं के शब्द—सूर के समय इस देश के शासक मुसलमान थे उनकी राजकाज की भाषा अरबी-फारसी थी। राजकाज के प्रभाव के कारण अरबी-फारसी भाषा के शब्द जन साधारण में भी प्रचलित हो गये

थे। सूरदास पर भी तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा और उन्होंने भी अपने काल में इन भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है। डॉ० हरवंश लाल शर्मा में मतानुसार "...... ...... राजनीतिक, सामाजिक, आदि परिस्थतियों के अनुरोध से सूर के समय में अनेक अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी जन-साधारण में खूब प्रचार हो गया था। सूरदास ने इस प्रकार के शब्दों को स्वतन्त्रतापूर्वक ग्रहण किया है. परन्तु उनके मौलिक रूप में नहीं अपितु अपनी भाषा की ध्वनियों के अनुसार समुचित परिवर्तित रूप में।' कहने का आशय यह है कि उन्होंने विदेशी भाषा के शब्दों का प्रयोग ब्रज भाषा की प्रवृत्ति के अनुरूप ही किया है। उदाहरणार्थ हम एक पद प्रस्तुत करना चाहेंगे।

हरि हौं ऐसौ अमल कमायौ।
साविक जमा हुती जो जोरी, मिनजालिक तल ह्वायौ।
वासिल बाक़ी स्याहा मुजमिल सब अधर्म की बाकी
चित्रगुप्त सु होत मुस्तौकी, सरन गहूँ में काकी ?
मोहरिल पाँच साथ करि दीने, तिनकी बड़ी विपरीति।

× × ×

इस पद के अतिरिक्त कवि ने अन्यत्र भी अरबी, फारमी के शब्दों का प्रयोग किया है, यथा—अमीर, खसम, खबर, कागद, जहाज, बकसीस, दस्तक, गुमान, रेशम, जुहार, फौज जौहर, महल, आदि।

कवि के स्वयं के गढ़े हुये शब्द—कुछ शब्द कवि ने स्वेच्छा से भी बना लिए हैं, यथा—ज्योतिक (ज्योतिषी), उत्तजोग (उद्योग) मसानी (मसिपात्र) नीलकण्ठीर (नीलकण्ठ से) आदि।

मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग—किसी भी भाषा की शक्ति संवर्द्धन हेतु उसमें मुहावरों एव लोकोक्तियों का प्रयोग भी अनिवार्य होना है। सूर ने इनका प्रयोग करके अपनी भाषा को प्रौढ़ बना दिया है। कतिपय मुहावरे हम प्रस्तुत करना चाहेंगे, यथा—

अपने ही सिर लगाना, ओछे बासन, मरत लोचन प्यास, तारे गिनना, गाड़े दिनके मीत, अपनी सी करना, एक बात की बीस बनाई, चाम के दाम चलावत, मीठी खाटी कहना, मामी पीना, जरे पर जारत, आदि।

लोकोक्तियाँ—कंचन खोइ काँच लै आए, काकी भूख गई मन लाडू, लौंडी की डौंडी जग बाजी, जौवन रूप दिवस दस ही के, काटहु अंब बबूर लगावहु, चंदन की करि बारि, स्वान पूँछ कोउ कोटिक लागै, सूधी कहुँ न करी आदि ।

एक उदाहरण द्वारा हम इस बात को और अधिक स्पष्ट कर देना चाहेंगे—

आए जोग सिखावन पाँडे ।
परमारथी पुराननि लादे ज्यौं बनजारे टाँड़े ।
हमरे गति-पति कमल-नयन की जोग सिखैं ते राँड़े ।
कहौ मधुप कैसे समाहिंगे, एक म्यान दो खाँड़े ।
कहु षट्पद कैसे खयतु हैं, हाथिनि के सँग गाँड़े ।
काकी भूख गई बयार भषि, बिना दूध घृत माँड़े ।
काहैं कौं झाला लै मिलवति, कौन चार तुम डाँड़े ।
सूरदास तीनौ नहिं उपजत, धनियाँ, धान, कुम्हाँड़े ।

उपर्युक्त पद में सूर ने लोकोक्तियों एवं मुहावरों के प्रयोग से भाषा को बहुत प्रौढ़ एव सजीव बना दिया है ।

दोष—प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष होते हैं—गुणात्मक और दोषात्मक । सूर की भाषा भी इसका अपवाद नहीं है । अभी तक हमने सूर की भाषा के गुणों का विवेचन किया है अब हम उसके दोषों पर भी दृष्टिपात करना चाहेंगे । व्याकरण की दृष्टि से सूर की भाषा में बहुत से दोष देखने को मिल जाते हैं । इनके अतिरिक्त कवि ने यत्र तत्र लिंग सम्बन्धी भूलें की हैं तो कही उसने विभक्तियों का भी मनमाना प्रयोग किया है। लौंडी, बाँमन आदि शब्दों के प्रयोग में ग्राम्यत्व दोष देखा जा सकता है । दृष्टिकूट के पदों में मानसिक व्यायाम का चरम विकास हमें देखने को मिल जाता है फलतः उसमें क्लिष्टत्व दोष आ गया है यथा—

मन्दिर अरध हरि वदि गए, हरि अहार चल जात ।

इसी प्रकार अन्यत्र पुनरुक्ति, अप्रतीतत्व, श्रुटिकटित्व आदि दोष भी देखने को मिल जाते हैं ।

निष्कर्ष—निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि ब्रजभाषा के रूप निर्माण में सूर का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । सूरदास ही वह कवि था जिसने सर्वप्रथम ब्रजभाषा को साहित्यिक जामा पहनाया । सूर की भाषा की चर्चा करते हुए डॉ० प्रेमनारायण टण्डन ने कहा है कि—"पूर्ववर्ती और समकालीन देशी विदेशी भाषाओं और निकटवर्ती बोलियों के सम्बन्ध में उन्होंने उपयोगी ग्राहक नीति अपनाकर ब्रजभाषा को समृद्धि प्रदान की। इसके दो लाभ हुए—पहला तो यह कि वे अपनी ब्रजभाषा के उस सहज सुन्दर माधुर्य की रक्षा कर सके जो शताब्दियों तक काव्य प्रेमियों और सहृदयों को आकर्षित करता रहा और दूसरे सुदूरवर्ती प्रदेशों में काव्य रचना के के लिए निरन्तर प्रयुक्त होने पर भी उसका ब्रजभाषापन सुरक्षित रहा और वह अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व बनाये रखने में समर्थ हो सकी।" यद्यपि सूर की भाषा में कतिपय त्रुटियाँ हैं और एक प्रकार से वह शुद्ध परिष्कृत भाषा नहीं जा सकती है तो भी जनसाधारण की भाषा को साहित्यिक रूप प्रदान करने में निश्चय ही सूर का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसी विशेषता को लक्ष्य करते हुये डॉ० हरवंश लाल शर्मा ने कहा है कि —"ब्रजभाषा व्याकरण की कसौटी पर सूर की भाषा खरी नहीं उतरती क्योंकि उन्होंने ब्रजभाषा के ही शब्दों को नहीं तोड़ा मरोड़ा प्रत्युत अन्य भाषाओं के शब्दों को भी अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है इसीलिये इनकी भाषा शुद्ध परिमार्जित भाषा नहीं कही जा सकती। यद्यपि इस भाषा का पूर्णरूप से परिष्कार रीतिकालीन कवियों ने किया तथापि बोल-चाल की भाषा को साहित्यिक रूप देने का सूर का प्रयास नितान्त सराहनीय है। संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों से तो उनकी भाषा का ढाँचा बनने में सहायता मिली ही है, अन्य देशी भाषाओं और अरबी फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी महत्वपूर्ण योग है। इस प्रकार चलती हुई ब्रजभाषा को व्यापक और प्रभावशाली बनाने का स्तुत्य कार्य सूर ने ही सबसे पहले किया। भावानुकूल भाषा का प्रयोग करना ही अच्छे कवि की पहली विशेषता होती है जिसके दर्शन सूरदास में सर्वत्र होते हैं।"

●

अनुक्रमणिका

मा्डू (सखी)